सिद्धहेमगत

अपभ्रंश व्याकरण

विस्तृत भूमिका, शब्दार्थ, छाया, अनुवाद,
टिप्पण और शब्दसूची सहित

संपादक :
हरिवल्लभ भायाणी

अनुवादक :
विन्दु भट्ट

श्री हेमचंद्राचार्य

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी
स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि
अहमदाबाद
१९९४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धहेमगत

अपभ्रंश व्याकरण

विस्तृत भूमिका, शब्दार्थ, छाया, अनुवाद,
टिप्पण और शब्दसूची सहित

संपादक :
हरिवल्लभ भायाणी

अनुवादक :
बिन्दु भट्ट

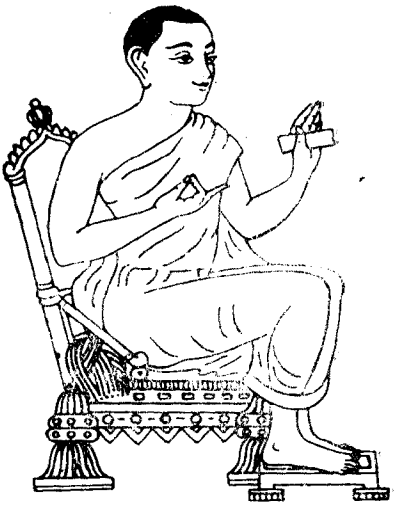

श्री हेमचंद्राचार्य

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी
स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि
अहमदाबाद
१९९४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Hindi Translation of
APABHRAMŚA VYĀKARAṆ
(Apabhramśa Grammar) (1993) of H. C. Bhayani
by Bindu Bhatt

C/o. H. C. Bhayani ‡ Bindu Bhatt

शोधितवर्धित तृतीय आवृत्ति १९९३

मूल्य : रु. ५०-००

प्रकाशक : कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी
स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि, अहमदाबाद
C/o. पंकज सुधाकर शेठ
२७८, माणेकबाग सोसायटी, माणेकबाग होल के पास, आंबावाडी,
अहमदाबाद-३८० ०१५

प्राप्तिस्थान : सरस्वती पुस्तक भंडार
११५, हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद-३८० ००१

मुद्रक : हरजीभाई एन. पटेल
क्रिष्ना प्रिन्टरी
९६६, नारणपुरा गाँव, अहमदाबाद-१३ ❀ दूरभाष : ४८४३९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपक्रम

श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित प्राकृत व्याकरण ('सिद्धहेमचन्द्र–शब्दानुशासन' का आठवाँ अध्याय)गत 'अपभ्रंश व्याकरण', गुजराती आदि के ऐतिहासिक अध्ययन और विकासकी दृष्टिसे तथा अपभ्रंश काव्य आदि साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से बहुत उपयोगी है । संस्कृत और प्राकृत की तुलना में अपभ्रंश का अध्ययन करनेवालों की संख्या बहुत अल्प है । दूसरे आम अध्येताओं में एक धारणा यह भी है कि अपभ्रंश कूलिष्ट तथा दूरुह है । आज ऐसे वातावरण में इस भ्रान्त और अनुचित धारणा को निराधार प्रमाणित करने में सक्षम ऐसे सुंदर ग्रंथ का प्रकाशन करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है । इस ग्रंथकी प्रथम आवृत्ति इसवी सन् 1960 में फाबेस गुजराती सभा–बम्बई से प्रकाशित हुईतब 'प्राक्कथन' में इस सभाके मानार्ह मंत्री श्री ज्योतीन्द्र ह. दवेकी बात यहाँ दोहराना अनुचित नहीं होगा.

'प्राचीन साहित्य और भाषाशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री भायाणीने अत्यंत श्रमपूर्वक विद्यार्थिओं तथा अन्य अध्येताओं के उपयोग–हेतु यह ग्रंथ तैयार किया है । विशेषतः भूमिका में दी गयीं अपभ्रंश साहित्य और भाषाविषयक मूल्यवान सामग्री इतने व्यवस्थित रूप में पहली बार ही दी गयी है ।'

कई समयसे नितांत अप्राप्य इस अध्ययन ग्रंथका संवर्धित तृतीय संस्करण का यह हिन्दी अनुवाद है । इसके प्रकाशनकी अनुमति देनेके लिये हम डॉ. हरिवल्लभ भायाणी के अत्यंत आभारी हैं । इस ग्रंथ के मुद्रण का समग्र भार डॉ. भायाणी के मार्गदर्शन में श्री हरजीभाइ पटेलने (क्रिश्ना प्रिन्टरी) सम्हाला है, हम उनके भी आभारी हैं । डॉ. बिन्दु भट्टने परिश्रम लेकर हिन्दी अनुवाद तैयार कर दिया उसके लिये भी हम आभार व्यक्त करते हैं ।

आशा है कि इस ग्रंथका लाभ अधिक से अधिक अध्येता लेंगे तथा हमारी संस्थाको ऐसे उत्तम प्रकाशन करनेका शुभ अवसर बार-बार मिलता रहेगा । शुभेच्छा के साथ.

दिनांक १–८–९४
अहमदाबाद

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षानिधि के ट्रस्टीगण ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रास्ताविक

सन् 1918 तक अपभ्रंश साहित्य विशेष प्रकट नहीं हुआ था अतः तब तक व्याकरण तथा भाषाकी दृष्टि से अपभ्रंश विषयक केवल जानकारी देने के प्रयत्न किये गये थे। आगे चलकर पाण्डुलिपियोंकी सूचि तथा महत्त्वपूर्ण कृतियों का संपादन गति से होने लगा और भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से भी विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन होने लगा। अपभ्रंशविषयक प्राचीन व्याकरणोंके संपादन के क्षेत्र में होर्नले, पिशेल, पंडित, ग्रिअर्सन, त्रिवेदी, गुलेरी, देसाई, वैद्य, नीत्ती-दोल्ची, घोष आदिने; व्याकरण के क्षेत्रमें; पिशेल, याकोबी, आल्स्डोर्फ, एजर्टन, ग्रे, तगारे, नीत्ती-दोल्ची, सेन, भायाणी, श्वार्त्सशील्ड, व्यास आदिने; भाषास्वरुप के क्षेत्रमें होर्नले, भांडारकर, बीम्स, ग्रिअर्सन, ब्लोख, टर्नर, तेस्सितोरी, चेटर्जी, नरसिंहराव, दोशी आदिने; शब्दकोश के विषय में पिशेल, ब्युलर, बेनर्जी, रामानुजस्वामी, शेठ, एजर्टन, आल्स्डोर्फ, याकोबी, भायाणी आदिने; साहित्यकृतिओंके विषयमें पंडित, याकोबी, शहीदुल्ला, मोदी, गांधी, शास्त्री, आल्स्डोर्फ, घोष, वेलणकर, जैन, वैद्य, उपाध्ये, जिनविजयजी, सांकृत्यायन, भायाणी, शाह आदिने; साहित्यविषयक जानकारी, इतिहास और अन्य चर्चा के संदर्भ में दलाल, याकोबी, गांधी, प्रेमी, गुणे, आल्स्डोर्फ, जैन, देसाई, जिनविजयजी, शास्त्री, भायाणी, कोछड, घोषाल, कात्रे, द ब्रीस आदिने कार्य किया है।

हमारे यहाँ अपभ्रंशके प्राचीन व्याकरण साहित्यमें से जो फूटकर सामग्री बची है उसमें हेमचन्द्राचार्य के 'सिद्धहेम' व्याकरण का अपभ्रंश विभाग सब से ज्यादा विस्तृत और महत्त्वका है। यह अंश न केवल गुजराती, हिंदी आदि भाषाओं के उद्गम की दृष्टि से बल्कि उसमें उदाहरण के रूप में दिये गये पद्यों की साहित्यकता की दृष्टि से भी बहुत मूल्यवान है।

हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण के अपभ्रंशविभाग का (या केवल उदाहरणों का), अलग रूप मे या प्राकृतविभाग के साथ, उदयसौभाग्यगणिने संस्कृत में, पिशेल ने जर्मन में वैद्य ने अंग्रजी में, गुलेरी ने हिन्दी में और मो. द. देशाई, ही. र. कापडिया, के. का. शास्त्री तथा ज. पटेल और ह. बूच ने गुजराती में भाषांतर किया है। आल्स्डोर्फ, बेचरदास, द ब्रीस आदि ने फुटकर पद्यों की व्याख्या के कुछ प्रयत्न किये हैं। व्यास ने पाण्डुलिपियों के आधार पर पाठशुद्धि और उदाहरणों की अर्थ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्चा की है । प्रस्तुत प्रयास भी इसी दिशा का है । सूत्र, वृत्ति, उदाहरण, संस्कृत शब्दार्थ तथा छाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पणी; अपभ्रंश भाषा, साहित्य और हेमचन्द्रीय अपभ्रंश की भूमिका, उद्धृत पद्यों के समानान्तर पद्य और शब्दसूचि—यह सारी सामग्री दी गयी है ।

आगे की प्रथम दो आवृत्तियों का प्रकाशन करने के लिये फार्बस गुजराती सभा औरइस तृतीय आवृत्ति के तथा उसके हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के लिये कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षण-निधिका तथा मुनिश्री शीलचन्द्रविजयजी का मैं ऋणी हूँ । डॉ. बिन्दु भट्ट ने हमारे अनुरोध से हिन्दी अनुवाद का कार्य स्वीकार किया और हमारे तकादे को मान कर निर्धारित समय में संपन्न किया इसके लिये में उनका भी ऋणी हूँ ।

दिनांक १—८—९४
अहमदाबाद

हरिवल्लभ भायाणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

उपक्रम	...	...	...	iii
प्रास्ताविक	...	...	...	v–iv
अनुक्रम	...	...	...	vii
भूमिका	...	...	...	1–56

१. अपभ्रंश साहित्य १–१९

आरंभ और मुख्य साहित्य स्वरूप. संधिबंध. स्वयंभूदेव. पउमचरिय. रिट्ठणेमिचरिय. पुष्पदंत. महापुराण. चरितकाव्य. पुष्पदंतोत्तर चरितकाव्य. चरितकाव्यों की सूचि. कथाकोश. रासाबंध. खंडविभाजनरहित महाकाव्य. धार्मिक तथा आध्यात्मिक कृतियाँ. प्रकीर्ण कृतियाँ और उत्तरयुगीन प्रवाह. संधि ... १–१५

संदेशरासक. कर्ता. वस्तु. स्वरूप १६–१९

२. अपभ्रंश भाषा २०–२९

अपभ्रंश के स्वरूप विषयक प्राचीन उल्लेख. अपभ्रंश के स्वरूप की विचारणा २४–२९

परिशिष्ट ३०–३१

३. हेमचंद्रीय अपभ्रंश ३२–५३

ध्वनिविकास. अपभ्रंश के लाक्षणिक ध्वनिवलण. छंदोमूलक परिवर्तन. आख्यातिक अंग. संयोजक स्वर. निर्देशार्थ वर्तमान. निर्देशार्थ भविष्य. आज्ञार्थ वर्तमान. आज्ञार्थ भविष्य. कृदंत. शब्दसिद्धि. कृत्प्रत्यय. तद्धित प्रत्यय. नामिक रूपतंत्र. अकारांत पुंल्लिंग. नपुंसकलिंग. इकारांत–उकारांत. स्त्रीलिंग. सार्वनामिक रूप. पर सर्ग. प्रयोग. उपसंहार.

सूत्र, वृत्ति, शब्दार्थ, छाया, अनुवाद ... १–१३१

टिप्पणी १२८–१६८

परिशिष्ट १६९–१७३

शब्दसूची १७४–१९६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में

श्री महावीर जैन श्वे. मू. पू. संघ

शेठ श्री के. मू. जैन उपाश्रय

ओपेरा सोसायटी, पालडी, अहमदाबाद

की ओर से

रु. १५,००० की उदार

आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है।

एतदर्थ हम उनके प्रति कृतज्ञता

प्रदर्शित करते हैं।

प्रकाशक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

१. अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रंश साहित्य की एक ऐसी विशिष्टिता है जो तुरंत ही ध्यान में आती है और वह उसे संस्कृत और प्राकृत साहित्य से भिन्नता प्रदान करती है। यदि हम कहें कि अपभ्रंश साहित्य अर्थात् जैनों का ही साहित्य, तो भी चलेगा। चूँकि जैनों का इसमें जो समर्थ और वैविध्यपूर्ण निर्माण है उसकी तुलना में बौद्ध और ब्राह्मण (यह तो अभी खोजना है–इसमें कुछ इधर–उधर बिखरे उल्लेख और कुछ टिप्पणियाँ ही मिलती हैं) परंपरा का प्रदान अपवादरूप है और उसका मूल्य भी सीमित है। इस समय तो ये कहा जा सकता है कि अपभ्रंश साहित्य अर्थात् जैनों का निजी क्षेत्र—हाँ, यदि हमें मिली है उतनी ही अपभ्रंश रचनायें हो तो ही उपर्युक्त विधान स्थिर माना जायेगा। परंतु अभी अपभ्रंश साहित्य के अन्वेषण की इतिश्री नहीं हो गयी है—इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। संभव है, भविष्य में महत्त्पूर्ण या उल्लेखनीय संख्या में जैनेतर कृतियों के बारे में पता चले।

मुख्यतः जैन और धर्मप्राणित होने के अलावा अपभ्रंश साहित्य की एक और ध्यानाकर्षक लाक्षणिकता है उसका एकान्तिक पद्यस्वरुप। अपभ्रंश गद्य नहीं के बराबर है। उसका समग्र साहित्यप्रवाह छन्द में ही बहता है। परंतु भामह–दंडी आदि स्पष्टतः अपभ्रंश गद्य–कथा का उल्लेख करते हैं, इस पर से लगता है कि गद्यसाहित्य भी था। फिर भी देखना होगा कि अपभ्रंश में साहित्यिक गद्य की कोई प्रबल परंपरा विकसित हुई थी या नहीं ?

किन परिस्थितियों में अपभ्रंश भाषा और साहित्य का उद्गम हुआ ? ये हकीकत आज तक लगभग प्रकाश में नहीं आयी। आरंभिक साहित्य लगभग लुप्त हो गया है। अपभ्रंश साहित्यविकास के प्रथम सोपान कौन से थे, यह जानने के लिये कोई साधन–सामग्री उपलब्ध नहीं है। आज हम उस स्थिति में नहीं है स्पष्ट रूप से समझा सके कि अपभ्रंश के अपने निजी और आकर्षक साहित्यप्रकार तथा छन्दों का उद्भव कहाँ से हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरंभ और मुख्य साहित्य-स्वरूप

साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखों में प्राप्त उल्लेखों से पता चलता है कि ईसा की छठी शताब्दी में तो अपभ्रंश ने एक स्वतंत्र साहित्यभाषा का स्थान प्राप्त कर लिया था। संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ इसे भी एक साहित्यभाषा के रूप में उल्लेखनीय माना जाता था। फिर भी हमें प्राप्त प्राचीनतम अपभ्रंश कृति ईसा की नवीं शताब्दी से पहले की नहीं है। तात्पर्य यह कि इसके पहले का सारा साहित्य लुप्त हो गया है। नवीं शताब्दी से पहले भी अपभ्रंश में साहित्य रचना काफी मात्रा में होती रही होगी इसके अनेक प्रमाण हमें मिलते हैं। नवीं शताब्दी के पहले के चतुर्मुखादि नौ-दस कवियों के नाम और कुछ उद्धरण हमारे पास हैं। इनमें जैन तथा ब्राह्मण परंपराकी कृतियों के संकेत मिलते हैं। और उपलब्ध प्राचीनतम उदाहरणों में भी साहित्यस्वरूप, शैली और भाषा का जो सुविकसित स्तर देखने को मिलता है इस पर से भी उपर्युक्त बात स्थिर होती है। नवीं शताब्दी पहले के दो[1] पिंगलकारों के प्रतिपादन पर से स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वकालीन साहित्य में अपरिचित ऐसा कम से कम दो नये साहित्यस्वरूप—संधिबंध और रासाबंध—तथा काफी सारे प्रासबद्ध नवीन मात्रावृत्त अपभ्रंशकाल में आविर्भूत हुए थे।

संधिबंध

इनमें संधिबंध सर्वाधिक प्रचलित रचनाप्रकार था। इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न कथावस्तु के लिये हुआ है। पौराणिक महाकाव्य, चरितकाव्य, धर्मकथा—यह फिर एक ही हों या समग्र कथाचक्र हों—इन सब विषयों के लिये औचित्यपूर्वक संधिबंध का प्रयोग हुआ है। प्राप्त प्राचीनतम संधिबंध नवीं शताब्दी के आसपास का है परंतु उसके पहले लम्बी परंपरा रही होगी, यह देखा जा सकता है। साहित्यिक उल्लेखों पर से अनुमान हो सकता है कि स्वयंभू के पहले भद्र (या दंतिभद्र), गोविंद और चतुर्मुखने रामायण और कृष्णकथा के विषय पर रचनायें की होगी। इनमें से चतुर्मुख का निर्देश बाद की अनेक शताब्दियों तक सम्मानपूर्वक होता रहा है। उक्त विषयों का संधिबंध में निरूपण करनेवाला वह अग्रगण्य और शायद वैदिक परंपरा का कवि था। उसके 'अब्धिमंथन' नामक संधिबंध काव्य का उल्लेख भोज तथा हेमचन्द्र ने किया है। देवासुर द्वारा समुद्रमंथन उसका विषय होगा, इस अनुमान के अतिरिक्त उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।

1. 'तीन' नहीं कहा है क्योंकि जनाश्रय की 'छन्दोविचिति' का उल्लेख प्राकृतपरक है कि अपभ्रंशपरक इसका निश्चय नही होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयंभूदेव

उपर्युक्त प्राचीन कवियों में से किसी की भी कृति उपलब्ध नहीं होने के कारण कविराज स्वयंभूदेव (ईसा की नवीं शताब्दी) के महाकाव्य इन संधिबंधों की जानकारी के हमारे प्राचीनतम आधार हैं। चतुर्मुख, स्वयंभू और पुष्पदंत ये तीनों अपभ्रंश के प्रथम पंक्ति के कवि हैं और इनमें भी पहला स्थान स्वयंभू को सहज ही दिया जा सकता है। स्वयंभू की कुलपरंपरा में ही काव्य-प्रवृत्ति थी। लगता है कि उसने नासिक तथा खानदेश के पास के प्रदेशों में भिन्न-भिन्न जैन श्रेष्ठिओं के आश्रय में रहकर काव्यरचना की होगी। बहुत संभव है कि स्वयंभू यापनीय नामक जैन संप्रदाय का होगा। स्वयंभू की केवल तीन कृतियाँ बची हुई हैं : 'पउमचरिय' और 'रिट्ठणेमिचरिय' नामक दो पौराणिक महाकाव्य और 'स्वयम्भूछन्द'[2] नामक प्राकृत और अपभ्रंश छंद-विषयक ग्रन्थ।

'पउमचरिय'

'पउमचरिय' (सं. पद्मचरित) 'रामायणपुराण' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें स्वयंभू पद्म अर्थात् राम के चरित पर महाकाव्य लिखने की संस्कृत तथा प्राकृत परंपरा का अनुसरण करता है। 'पउमचरिय' में प्रस्तुत की गयी रामकथा का जैन स्वरूप वाल्मीकिरामायण में प्राप्त ब्राह्मणपरंपरा के स्वरूप से प्रेरित होने के बावजूद कई महत्त्वपूर्ण बातों में भिन्न है। स्वयंभूरामायण का विस्तार कोई पुराण की स्पर्धा कर सकता है। यह विज्जाहर (सं. विद्याधर), उज्झा (सं. अयोध्या), सुन्दर, जुज्झ (सं. युद्ध) और उत्तर—ऐसे पाँच काण्डों में विभक्त है। प्रत्येक काण्ड सीमित संख्या के 'संधि' नामक खंड में विभक्त है। पाँचों काण्डों के कुल मिलाकर नब्बे संधि हैं। ये प्रत्येक संधि भी बारह से बीस तक के 'कडवक' नामक छोटे सुग्रथित इकाई का बना हुआ है। यह कडवक (= प्राचीन गुजराती साहित्य का 'कडवु') नामक पद्यपरिच्छेद अपभ्रंश और अर्वाचीन भारतीय-आर्य के पूर्वकालीन साहित्य की विशिष्टता है। कथाप्रधान वस्तु के गुंफन के लिये ये अत्यंत अनुकूल है। कडवक की देह

---

2. माध्यमिक भारतीय-आर्य छन्दों के लिये यह एक प्राचीन और प्रमाणभूत साधन होने के अतिरिक्त 'स्वयंभूछन्द' का मुख्य महत्त्व उसमें दी गयी पूर्वकालीन प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की टिप्पणियों के कारण भी है। इस माध्यम से हमें उस साहित्य की समृद्धि का ठीक-ठीक पता चलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी मात्राछन्द में रचित प्रायः आठ प्रासबद्ध चरणयुग्म की बनी होती है। कडवक के इस मुख्य क्लेवर में वर्ण्य विषय का विस्तार होता है। जबकि कुछ छोटे छन्द में ग्रथित चार चरण का बना हुआ अंतिम अंश वर्ण्यविषय का उपसंहार करता है या फिर अतिरिक्त रूप से बाद में आनेवाले विषय का संकेत करता है।[3] इस प्रकार की विशिष्ट संरचना के कारण तथा प्रवाही चरणों को मुक्ति देते मात्राछन्दो के कारण अपभ्रंश संधि, स्वयंपर्याप्त श्लोकों की ईकाई से रचित संस्कृत महाकाव्य के सर्ग की तुलना में विशेषरूप से कथाप्रधान विषय के निर्वाह के लिये अनुकूल था। इसके अलावा अपभ्रंश संधि में श्रोताओं के समय लयबद्ध पठन करने की या गीत के रूप में गान करने की काफी क्षमता थी।

'पउमचरिय' के नब्बे संधि में से अंतिम आठ स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन की रचना है। क्योंकि किसी अज्ञात कारणवश स्वयंभू ने यह महाकाव्य अधूरा छोड़ा था। इसी प्रकार अपने पिता का दूसरा महाकाव्य 'रिट्ठणेमिचरिय' पूरा करने का श्रेय भी त्रिभुवन को है। और उसने 'पंचमचरिय' (सं. पंचमीचरित) नामक एक स्वतंत्र काव्य लिखा था, इसका भी उल्लेख है।

स्वयंभू ने अपने पुरोगामियों के ऋण का स्पष्ट स्वीकार किया है। महाकाव्य के संधिबंध के लिये वह चतुर्मुख से अनुगृहीत हैं तो वस्तु और उसके काव्यात्मक निरूपण के लिये वह आचार्य रविषेण का आभार मानता है। जहाँ तक 'पउमचरिय' के कथानक की बात है वह रविषेण के संस्कृत 'पद्मचरित' या 'पद्मपुराण' (ई. स. 677–78) के पद-चिह्नो पर इस हद तक चलता है कि 'पउमचरिय' को 'पद्मचरित' का मुक्त और संक्षिप्त अपभ्रंश अवतार कहा जा सकता है।[4] फिर भी स्वयंभू की मौलिकता और उच्चस्तरीय कवित्व शक्ति के प्रमाण 'पउमचरिय' में कम नहीं है। एक नियम के रूप में वह रविषेण द्वारा मिले हुए कथानक सूत्र को पकड़े रहता है। वैसे भी यह कथानक अपनी छोटी-बड़ी बातों में परंपरा द्वारा रूढ

---

3. अपभ्रंश कडवक का स्वरुप आगे चलकर प्राचीन अवधी साहित्य के सूफी प्रेमाख्यान काव्यों तथा तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' जैसी कृतियों में भी मिलता है।

4. रविषेण का 'पद्मचरित' स्वयं भी जैन महाराष्ट्री में रचित विमलसूरिकृत 'पउमचरिय' (संभवतः ईसा की चौथी-पाँचवी शताब्दी) के पल्लवित संस्कृत छायानुवाद से शायद ही कुछ विशेष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो चूका था अतः जहाँ तक कथावस्तु की बात है उसमें मौलिक कल्पना या संविधान की दृष्टि से परिवर्तन या रूपांतर की शायद ही कोई गुंजाइश थी। परंतु शैली की दृष्टि से, कथवस्तु को सजाने-सँवारने में वर्णन तथा रस निरूपण में और मनचाहे प्रसंगों को यथेच्छ विस्तार देने में कवि को चाहे जितनी स्वतंत्रता मिलती थी। ऐसे सीमा में बद्ध होने के बावजुद स्वयंभू की कला दृष्टि ने प्रशंसनीय सिद्धि प्राप्त की है। अपनी विवेकबुद्धि का अनुसरण करते हुए वह आधारभूत सामग्री में काटछाँट करता है, उसे नया आकार देता है तो कभी निराली ही राह ग्रहण करता है।

'पउमचरिय' के चौदहवें संधि के वसंत-दृश्यों की मोहक पृष्ठभूमि पर आलेखित तादृश, गतिवान, इन्द्रियसंतर्पक जलक्रीडावर्णन एक उत्कृष्ट सर्जन के रूप में पहले से ही प्रसिद्ध है। अलग-अलग युद्ध-दृश्य, अंजना उपाख्यान (संधि 17-19) में के कुछ भावपूर्ण प्रसंग, रावण के अग्निदाह के चित्तहारी प्रसंग से निःसृत तीव्र विषाद (77 वाँ संधि) ऐसे ऐसे हृदयंगम खण्डों में हम स्वयंभू की कवि-प्रतिभा के प्रबल उन्मेष का दर्शन कर सकते हैं।

'रिट्ठणेमिचरिय'

स्वयंभू का दूसरा महाकाव्य 'रिट्ठणेमिचरिय' (सं. अरिष्टनेमिचरित) अथवा 'हरिवंसपुराण' (सं. हरिवंशपुराण) भी प्रसिद्ध विषय को लेकर लिखा गया है। उसमें बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमिका जीवनचरित्र तथा जैन परंपरानुसार कृष्ण और पांडवों की कथा वर्णित है। उसके एकसौ बारह संधिओं का (जिस के कुल मिलाकर 1947 कडवक और 18000 बत्तीस-आक्षरिक ईकाइयाँ 'ग्रंथाग्र'-है) चार काण्ड में समावेश होता है : 'जायव' (सं. यादव), 'कुरु', 'जुज्झ' (सं. युद्ध) और 'उत्तर'। इसके संदर्भ में भी स्वयंभू के सामने पहले की कुछ आदर्श रचनायें थीं। नवीं शताब्दी से पहले विदग्ध ने प्राकृत में, जिनसेन ने (इ. स. 783-84) संस्कृत में और भद्र (या दंतिभद्र ? भद्राश्व ?), गोविंद और चतुर्मुख ने अपभ्रंश में हरिवंश विषयक महाकाव्य लिखे थे। 'रट्ठिणेमिचरिय' के निन्यानवे संधि के बाद का अंश स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन द्वारा रचित है और आगे चलकर उसमें 16 वीं शताब्दी में गोपाचल (= ग्वालीअर) के एक अपभ्रंश कवि यशःकीर्ति भट्टारकने कुछ अंश जोडे हैं।

स्वयंभू के बाद राम और कृष्ण-चरित पर रचित अपभ्रंश संधिबद्ध काव्यों में से कुछ का उल्लेख यहीं कर लें। ये सभी रचनायें अभी तक अप्रकाशित है। धवलने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ईसा की 11 वीं शताब्दी से पहले) 122 संधि में हरिवंशपुराण की यशःकीर्ति भट्टारक ने 34 संधि में 'पंडुपुराण' (सं. पांडुपुराण) (ई. स. 1523) तथा उसके समकालीन पंडित रइधु अपरनाम सिंहसेन ने 11 संधि में रामायण–विषयक 'बलहद्दपुराण' तथा 'णेमिणाहचरित' (सं. नेमिनाथचरिय) की रचना की । लगभग इसी दौर में श्रुतकीर्ति ने 40 संधि में 'हरिवंसपुराण' (सं. हरिवंशपुराण) ई. सन् 1551 में पूर्ण किया । ये रचनायें इस बात का प्रमाण हैं कि स्वयंभू के बाद सात सौ साल के बाद भी रामायण और हरिवंश के विषयों की जैन परंपरा जीवित थी ।

पुष्पदंत

पुष्पदंत (अप. पुप्फयंत) अपरनाम मम्मइय (ई. सन् 957–972 में विद्यमान) की कृतियों से हमें संधिबन्ध में रचित अन्य दो प्रकारों की जानकारी मिलती है । पुष्पदंत के माता–पिता ब्राह्मण थे । आगे चलकर उन्होंने दिगंबर जैनधर्म अपनाया था । पुष्पदंत के तीनों अपभ्रंश काव्यों की रचना मान्यखेट (= आज के आंध्रप्रदेश में स्थित मालखेड) में राज्य करते राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (ई. सन् 939-968) और खोट्टिगदेव (ई. सन् 968–972) के अमात्य क्रमशः भरत और उसके पुत्र नन्न के आश्रय में हुई थी । स्वयंभू और उसके पुरोगमियोंने राम और कृष्ण-पांडव के कथानक का खुलकर उपयोग किया था । पुष्पदंत की कविप्रतिभाने जैन पुराणकथा के नये एवम् विशालतर प्रदेशों में विहार करना पसन्द किया । जैन पुराणों के मतानुसार प्राचीन युग में तिरसठ महापुरुषों (या शलाकापुरुषों) का आविर्भाव हुआ था । इनमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव (= अर्धचक्रवर्ती) नौ बलदेव (उन वासुदेवों के भाई) और नौ प्रतिवासुदेव (अर्थात् उन वासुदेवों के विरोधी) का समावेश होता है । लक्ष्मण, पद्म (= राम) तथा रावण–ये आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव तथा कृष्ण, बलभद्र और जरासंध नौवें माने जाते हैं । इन तिरसठ महापुरुषों का जीवनवृत्तांत देनेवाली रचनायें 'महापुराण' अथवा 'त्रिषष्टि–महापुरुष (या शलाकापुरुष) चरित' के नाम से प्रसिद्ध है । इनमें जिसमें पहले तीर्थंकर ऋषभ और पहले चक्रवर्ती भरत का चरित वर्णित है वह अंश 'आदिपुराण' और अन्य महापुरुषों के जीवनचरित का अंश 'उत्तरपुराण' कहा जाता है ।

'महापुराण'

पुष्पदंत के पहले भी इस विषय में संस्कृत और प्राकृत में कुछ पद्य–रचनायें हुई थी परंतु लगता है कि अपभ्रंश में इस विषय पर महाकाव्य की रचना तो सबसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले पुष्पदंतने की । 'महापुराण' या 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार' (सं. त्रिषष्टि-महापुरुष-गुणालङ्कार) नामक इस महाकृति में 102 संधि हैं जिनमें से पहले सड़तीस संधि में 'आदिपुराण' और अन्य में 'उत्तरपुराण' है ।

पुष्पदंत ने कथानक के संदर्भ में जिनसेन-गुणभद्रकृत संस्कृत "त्रिषष्टिमहापुरुष-गुणालङ्कार-संग्रह" (ई. सन् 898 में पूर्ण) का और कवि-परमेष्ठी की लुप्त रचना का आधर लिया है । इन विषयों में भी प्रसंग तथा सामग्री सहित कथानक का समग्र कलेवर परंपरा से रूढ होता था, ऐसे में कवि को निरूपण में नावीन्य और चारुता लाने के लिये केवल अपनी वर्णन की तथा शैली की कलात्मक क्षमता पर ही निर्भर रहना होता था । फलतः विषय कथानात्मक और पौराणिक होने के बावजुद जैन अपभ्रंश कवि उसके निरूपण में प्रशिष्ट संस्कृत के आलंकारिक महाकाव्य की परंपरा को अपनाते हैं । यह भी एक कारण है कि ये कवि हल्केफुल्के कथानक कलेवर को अलंकार, छन्द और पांडित्य की तड़क-भड़क से बढ़ा-चढ़ाकर सजाते है । 'रिट्ठणेमिचरिय' में स्वयंभू हमें स्पष्ट कहता है कि काव्य-रचना करने के लिये उसे इन्द्र ने व्याकरण दिया, भरतने रस, व्यासने विस्तार, पिंगलने छन्द, भामह और दण्डी ने अलंकार, बाणने अक्षराडम्बर, श्रीहर्षने निपुणत्व और चतुर्मुखने छडुणी, द्विपदी और ध्रुवक से मंडित पद्धडिका आदि दिये । पुष्पदंत भी परोक्ष रूप से ऐसा कहता है, कला के अन्य कुछ क्षेत्र में प्रतिष्ठित ऐसे कुछ नाम जोड़ता है और घोषणा करता है कि अपने 'महापुराण' में प्राकृतलक्षण, सफलनीति, छन्दभंगिमा, अलंकार, विविध रस तथा तत्वार्थ का निष्कर्ष मिलेगा । संस्कृत महाकाव्यों का आदर्श लेकर उसकी प्रेरणा से रचित अपभ्रंश महाकाव्यों का सामर्थ्य, सही अर्थों में वस्तु के वैचित्र्य या संविधान से ज्यादा उसके वर्णन या निरूपण में निहित है ।

स्वयंभू को तुलना में पुष्पदंत अलंकार की समृद्धि, छन्द-वैविध्य और व्युत्पत्ति पर विशेष निर्भर है । छन्दोभेद की विपुलता तथा संधि और कडवक की दीर्घता इस बात के सूचक हैं कि पुष्पदंत के समय तक आते आते संधिबंध का स्वरूप कुछ विशेष संकुल हुआ होगा । 'महापुराण' के चौथे, बारहवें, सत्रहवें, छयालिसवें, बावनवें इत्यादि संधिओं के कुछ अंश पुष्पदंत की असामान्य कवित्वशक्ति के उत्तम उदाहरण कहें जा सकते हैं । 'महापुराण' के 69 से 79 संधि में रामायण की कथा का संक्षेप दिया गया है, 81 से 92 संधि में जैन हरिवंश है, तो अंतिम अंश में तेईसवें तथा चौबीसवें तीर्थंकर पार्श्व तथा महावीर के चरित हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरितकाव्य

पुष्पदंत के अन्य दो काव्य 'णायकुमारचरिय' (सं. नागकुमारचरित) और जसहरचरिय' (सं. यशोधरचरित) पर से पता चलता है कि विशाल पौराणिक विषयों के अलावा जैन पुराण, अनुश्रुति या परंपरागत इतिहास के प्रसिद्ध व्यक्तियों के बोधदायक जीवनचरित प्रस्तुत करने के लिये भी संधिबन्ध का प्रयोग होता था। विस्तार और निरूपण की दृष्टि से ये चरितकाव्य या कथाकाव्य संस्कृत महाकाव्यों की प्रतिकृति से लगते हैं। इन में भी पुष्पदंत के सामाने कुछ पूर्व उदाहरण होंगे। यों ही से उल्लेख पर से हमें पुष्पदंत से पहले के कम से कम दो चरितकाव्यों के नाम का पता चलता है—एक स्वयंभू कृत 'सुद्दयचरिय' और दूसरा उसके पुत्र त्रिभुवनकृत 'पंचमीचरिय'। 'णायकुमारचरिय' नव संधियो में नायक नागकुमार (जैन पुराणकथा अनुसार चौबीस कामदेव में से एक) के पराक्रम का वर्णन करता है और साथ ही साथ वह फागुन की शुक्ल पंचमी के दिन श्रीपंचमी का व्रत करने से होती फलप्राप्ति का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।

पुष्पदंत का तीसरा काव्य 'जसहरचरिय' चार संधियों में उज्जयिनी के राजा यशोधर की कथा प्रस्तुत करता है और इस कथा के द्वारा प्राणिवध के पापों के कटु फल का दृष्टांत देता है। पुष्पदंत के पहले और बाद इसी कथानक पर आधारित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं में मिलती रचनायें इस बात की द्योतक है कि यह विषय जैनों में बड़ा लोकप्रिय रहा है।

पुष्पदंत का प्रशिष्ट काव्यरीति पर प्रभुत्व, अपभ्रंश भाषा में अनन्य निपुणता तथा बहुमुखी पांडित्य उसे भारत के कवियों में महत्त्वपूर्ण पद प्रदान करते हैं। एक स्थान पर अपने काव्यविषयक आदर्श का हल्का-सा संकेत करते हुए वह कहता है कि उत्तम काव्य शब्द और अर्थ के अलंकार से तथा लीलायुक्त पदावलि से मंडित, रसभावनिरंतर, अर्थ की चारुता से मंडित, सर्व विद्याकला से समृद्ध, व्याकरण और छन्द से पुष्ट और आगम से प्रेरित होना चाहिये। उच्च कोटिका अपभ्रंश साहित्य इस आदर्श को साकार करने में प्रयत्नशील रहा है परंतु यह कहने में अत्युक्ति नहीं है कि इनमें सबसे ज्यादा सफलता पुष्पदंत को मिली है।

पुष्पदंतोत्तर चरितकाव्य

पुष्पदंत के बाद हमें संधिबद्ध चरितकाव्य या कथाकाव्य के कई उदाहरण मिलते हैं। परंतु उनमें के कई अभी तक पाण्डुलिपि के रूप में ही हैं। जो कुछ थोड़े से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशित हुए हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है धनपाल कृत 'भविसयत्तकह' (भविष्यदत्त-कथा)। धनपाल दिगंबर धर्कट वणिक था और उसका समय संभवतः ईसाकी बारहवीं शताब्दी से पहले का है। बाईस संधियों में वर्णित यह काव्य कुछ-कुछ सरल शैली में भविष्यदत्त की कौतुकपूर्ण कथा कहता है और साथ ही साथ कार्तिक माह की शुक्ल पंचमी के दिन श्रुतपंचमी का व्रत करने से प्राप्त होते फल का उदाहरण देने का लक्ष्य सिद्ध करता है। इसका कथानक इस प्रकार है : एक व्यापारी अकारण अरुचि होने पर पुत्र भविष्यदत्त सहित अपनी पत्नी का त्याग करता है और दूसरा विवाह करता है। बड़ा होने पर भविष्यदत्त किसी प्रसंगवश परदेश जाता है तब उसका सौतेला छोटा भाई उसे धोखा देकर किसी एक निर्जन द्वीप पर अकेला छोड़ जाता है। परंतु माता ने श्रुतपंचमी का व्रत किया था इसलिये भविष्यदत्त की सारी कठिनाईयाँ दूर होती हैं, और उसका उदय होता है। शत्रु को पराजित करने में राजा की मदद करने के बदले में वह राज्यार्ध का अधिकारी बनता है। मृत्यु के बाद चौथे जन्म में श्रुतपंचमी का व्रत करने से उसे केवलज्ञान प्राप्त होता है। धनपाल के पहले इसी विषय पर अपभ्रंश में त्रिभुवन का 'पंचमिचरिय' तथा प्राकृत में महेश्वर का 'णाणपंचमीकहाओ' (सं. ज्ञानपंचमीकथाः) काव्य मिलता है। धनपाल के निकटवर्ती समय में श्रीधर ने चार संधियों में अपभ्रंश 'भविसत्तचरिय' की (सं. भविष्यदत्तचरित) ई. सन् 1174 में रचना की है जो अभी तक अप्रसिद्ध है।

कनकामर का 'करकंडचरिय' (सं. करकण्डुचरित) दस संधियों में एक प्रत्येकबुद्ध (अर्थात् स्वयंप्रबुद्ध संत) का जीवनवृत्तांत प्रस्तुत करता है। बौद्ध साहित्य में भी करकंडु का संदर्भ मिलता है।

धाहिल कृत 'पउमसिरिचरिय' (सं. पद्मश्रीचरित) (ईसा की 11 वीं शताब्दी के आसपास) कपटभाव युक्त आचरण के बूरे फल का दृष्टांत देने के लिये चार संधियों में पद्मश्री के तीन जन्म का वृत्तांत प्रस्तुत करता है। कथावस्तु हरिभद्र की प्रसिद्ध प्राकृत कथा 'समराइच्चकहा' की एक गौणकथा से लिया है।

परंतु जैसा कि पहले कहा है वैसे संधिबद्ध चरितकाव्यों में से अभी तक ज्यादातर रचनाओं को मुद्रण का सद्भाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। यहाँ हम ऐसे काव्यों की एक सूचि वह भी पूर्ण नहीं दे कर ही संतोष मान सकते हैं। प्रायः ये काव्य किसी जैन सिद्धांत या धार्मिक-नैतिक मत के दृष्टांत को प्रस्तुत करने के लिये किसी तीर्थंकर या जैन पुराणकथा, जनश्रुति या इतिहास के किसी यशस्वी पात्र का चरित-चित्रण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरितकाव्यों की सूचि

नाम	कवि	संधिसंख्या	रचनासमय ई. सन्
पासपुराण (सं. पार्श्वपुराण)	पद्मकीर्ति	18	993
जंबूसामिचरिय (सं. जम्बूस्वामिचरित)	सागरदत्त	11	1020
जंबूसामिचरिय (सं. जम्बूस्वामिचरित)	वीर	11	1020
सुदंसणचरिय (सं. सुदर्शनचरित)	नयनंदी	11	1040
विलासवइकहा (सं. विलासवतीकथा)	साधारण या सिद्धसेन	11	1068
पासचरिय (सं. पार्श्वचरित)	श्रीधर	12	1133
सुकुमालचरिय (सं. सुकुमालचरित)	श्रीधर	6	1152
सुकुमालसामिचरिय (सं. सुकुमालस्वामिचरित)	पूर्णभद्र	6	—
पज्जुण्णकह (सं. प्रद्युम्नकथा)	सिंह या सिद्ध	15	12 वीं शताब्दी
जिणदत्तचरिय (सं. जिनदत्तचरित)	लक्खण	11	1219
वयरसायिचरिय (सं. वज्रस्वामिचरित)	वरदत्त	2	—
बाहुबलिदेवचरिय (सं. बाहुबलिदेवचरित)	धनपाल	18	1398
सेणियचरिय (सं. श्रेणिकचरित)	जयमित्र हल्ल	11	15 वीं शताब्दी
चंदप्पहचरित (सं. चंद्रप्रभचरित)	यशःकीर्ति	11	,,
सम्मइजिणचरिय (सं. सम्मतिजिनचरित)	रइधू	10	,,
मेहेसरचरिय (सं. मेघेश्वरचरित)	,,	13	,,
घणकुमारचरिय (सं. घनकुमारचरित)	,,	4	,,
वड्ढमाणकव्व (सं. वर्धमानकाव्य)	जयमित्र हल्ल	11	,,
अमरसेणचरिय (सं. अमरसेनचरित)	माणिक्यराज	9	,,
णायकुमारचरिय (सं. नागकुमारचरित)	,,	9	,,
सुलोयणाचरित (सं. सुलोचनाचरित)	देवसेन	28	—

कथाकोश

उपर्युक्त रचनाओं के अलावा एक ओर विषयप्रकार भी संबंध में मिलता है। यह है किसी विशिष्ट जैन ग्रन्थ में प्रतिपादित किसी धार्मिक या नैतिक विषय के उदाहरणों को प्रस्तुत करती कथावली। 'कथाकोश' नाम से प्रसिद्ध इस साहित्य की अनेक कृतियाँ संस्कृत और प्राकृत में मिलती हैं। अपभ्रंश में 56 तथा 58 संधियों के दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भागों में रचित नयनंदीकृत 'सयलविहिविहाणकव्व' (सं. सकलविधिविधानकाव्य) (ई. सन् 1044) तथा 53 संधि में निबद्ध श्रीचन्द्रकृत 'कहकोस' (सं. कथाकोश) (ईसा की ग्यारहवीं शती) ये दोनों रचनायें श्रमणजीवन विषयक, और जैन शौरसेनी में रचित आगमकल्प प्रसिद्ध दिगम्बर ग्रन्थ 'भगवती–आराधना' से सम्बद्ध कथाओं का वर्णन करती है । नयनंदी और श्रीचंद्र ने स्वीकार किया है कि उनकी रचनायें पुरोगामी संस्कृत और प्राकृत के आराधना–कथाकोशों पर आधारित हैं ।

21 संधि की श्रीचंद्र कृत 'दंसणकहरयणकरंड' (सं. दर्शनकथारत्नकरण्ड) (ई. सन् 1064), 11 संधि की हरिषेण कृत 'धम्मपरिक्ख' (सं. धर्मपरीक्षा) (ई. सन 988), 14 संधि की अमरकीर्ति कृत 'छक्कम्मुवएस' (सं. षट्कर्मोपदेश) और संभवत: 7 संधि की श्रुतकीर्ति कृत 'परमिट्ठिपयासासार' (सं. परमेष्ठिप्रकाशसार) (ई. सन् 1497) आदि रचनाओं का भी इसी प्रकार में समावेश होता है । इन में से अभी तक तीन–चार रचनाओं का प्रकाशन हुआ है ।

इन में से हरिषेण की 'धम्मपरिक्ख' रचना अपनी कथावस्तु की विशिष्टता के कारण विशेष रसप्रद है । इस में मुख्यत: ब्राह्मण–पुराण कितने असम्बद्ध और अर्थहीन हैं यह सटीक प्रयुक्ति से प्रमाणित कर के मनोवेग अपने मित्र पवनवेग को जैन धर्म स्वीकार करने की जो प्रेरणा देता है, उसकी बात है । मनोवेग पवनवेग की उपस्थिति में एक ब्राह्मणसभा में अपने बारे में नितांत असंभवित और ऊटपटांग बातें जोड़कर कहता है और जब वे ब्राह्मण इन बातों को स्वीकार नहीं करते तो वह रामायण महाभारत और पुराणों में से ऐसे ही असंभवित प्रसंग और घटनाओं को अपनी बातों के समर्थन में प्रस्तुत करके अपने शब्दों को सही प्रमाणित करता है । हरिषेण की इस कृति का आधार कोई प्राकृत रचना थी । आगे चलकर 'धम्मपरिक्ख' का अनुसरण करते हुए संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में भी कुछ काव्यों की रचना हुई है । हरिभद्रकृत प्राकृत 'धूर्ताख्यान' (ईसा की आठवीं शताब्दी) में इस विषयक की सर्वप्रथम रचना इस से भी पहले की है ।

इस संक्षिप्त वृत्तांत पर से एक अंदाज मिल सकेगा कि अपभ्रंश साहित्य में संधिबंध का कितना महत्त्व था ।

रासाबंध

संधिबंध की भाँति अपभ्रंश ने स्वतंत्र रूप से जिस का विकास किया है और जो काफी प्रचलित है ऐसा एक और साहित्य–स्वरूप है रासाबंध । अनुमान किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है कि यह भावप्रधान काव्यप्रकार मध्यम आकार की (संस्कृत खंडकाव्य की याद दिलाती) रचना होगी । इस में काव्य के कलेवर के लिये प्रायः एक निश्चित परंपरागत मात्राछन्द का प्रयोग होता था और वैविध्य के लिये बीच-बीच में विभिन्न रुचिर छन्दों का प्रयोग होता था । हालाँकि रासाबन्ध के प्रचार और लोकप्रियता के समर्थन में प्राचीनतम प्राकृत-अपभ्रंश के पिंगलकारों की रासक की व्याख्या हमें मिलती हैं परंतु आश्चर्य इस बात का है कि एक भी प्राचीन रासा का दृष्टांत तो क्या उसका नाम भी बचा नहीं है । (स्वयंभू तो रासा को पंडितगोष्ठियों में रसायण रूप 'कहकर' प्रशंसा करता है) । आगे चलकर भी अपभ्रंश के इसमहत्त्वपूर्ण काव्य-प्रकार विषयक हमारा अज्ञान कम करे ऐसी सामग्री स्वल्प है । लगातार और आमूलचूल बदलकर रासा आधुनिक भारतीय-आर्य साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक चलते रहे हैं । प्राचीन राजस्थानी साहित्य में बहुधा जैन लेखकों द्वारा रचित सैंकडों रासा मिलते हैं । परंतु अपभ्रंश में तेरहवीं शताब्दी के आसपास 'संदेशरासक' और करीब बारहवीं शताब्दी में साहित्यिक दृष्टि से मूल्यहीन एक उपदेशात्मक जैन रासा के सिवा और कुछ मिलता नहीं है । इसमें बाद की रचना 'उपदेशरसायनरास' अस्सी पद्यो में सद्गुरु और सद्धर्म की प्रशंसा और कुगुरु तथा कुधर्म की निंदा करती है । यह रासककाव्य एक प्रतिनिधि रचना नहीं परंतु इस बात का उदाहरण मात्र है कि उत्तरकाल में इस लोकप्रिय साहित्यप्रकार का उपयोग धर्मप्रचार में होता था । किसी 'अंबादेवयरासय' का उल्लेख ग्यारहवीं शताब्दी की तथा 'माणिक्य-प्रस्तारिका-प्रतिबद्ध-रास' का उल्लेख बारहवीं शताब्दी की कृति में मिलता है ।

'संदेशरासक' के विशिष्ट महत्त्व के कारण उसके बारे में विस्तृत जानकारी परिशिष्ट में दी गयी है ।

लगता है कि वसंतोत्सव से जुड़ी चर्चरी नामक गेय रचनायें भी अपभ्रंश में लिखी गयी होगी । परंतु ग्यारहवीं शताब्दी की 'संतिनाहचच्चरी' के उल्लेख तथा तेरहवीं शताब्दी की एक बोधप्रधान जैन रचना के सिवा कुछ बचा नहीं है ।

खंडविभाजनरहित महाकाव्य

विशिष्ट बंधवाले संधिकाव्य के अलावा अपभ्रंश में विभाग या खण्ड में विभाजित न हो ऐसे छन्दोबद्ध महाकाव्य भी रचे गये हैं । ऐसा नहीं है कि अपभ्रंश कथाकाव्य के लिये संधिबंध ही निश्चित था क्योंकि आदि से लेकर अंत तक निरपवाद रूप से एक ही छन्द का प्रयोग हुआ हो और संविधान या विषयादि के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधार पर किसी भी प्रकार खण्ड या विभाग न किये गये हों ऐसे कथाकाव्यों के एक दो उदाहरण हमे मिलते हैं। हरिभद्र के ई. सन् 1150 में पूर्ण हुए 'णेमिणाह-चरिय' (सं. नेमिनाथचरित) का प्रमाण 8012 श्लोक का है और समग्र रचना रड्डा नामक एक मिश्र छन्द में रची गयी है। हम 'स्वयंभूछन्द' में दिये गये उल्लेखों पर से अनुमान कर सकते हैं कि हरिभद्र के पहले—कम से कम तीन शताब्दी पहले हुए गोविंद नामक अपभ्रंश कवि ने भी रड्डाछन्द के विविध प्रकारों में एक कृष्ण-काव्य रचा होगा। 'गउडवहो' जैसी प्राकृत रचनायें भी इसी ढाँचे की है।

धार्मिक तथा आध्यात्मिक कृतियाँ

अपभ्रंश में कथाकाव्यों की (और संभवतः भावप्रधान काव्यों की) विपुलता थी परंतु इसका मतलब यह नहीं कि इस में अन्य काव्यप्रकार बिलकुल ही नहीं थे। धर्म-बोधक विषय की छोटी-छोटी रचनाओं के अलावा कुछ अध्यात्म या योग विषयक रचनायें भी मिलती हैं।

इन में योगीन्दुदेव (अप. जोइंदु) का 'परमप्पपयास' (सं. परमात्मप्रकाश) और 'योगसार' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'परमप्पपयास' के दो अधिकारों में से पहले में 132 दोहे हैं, जिन में बाह्यात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा का मुक्त और सरल शैली में प्रतिपादन किया गया है। 214 पद्यों (प्रायः दोहे) का दूसरा अधिकार मोक्षतत्त्व और मोक्षसाधन विषयक है। योगीन्दु साधक योगी को आत्म-साक्षात्कार का सर्वोच्च महत्त्व समझाता है। और इसके लिये उपायों के रूप में विषयोपयोग के त्याग का, धर्म के केवल बाह्याचार नहीं परंतु उसके आंतरिक तत्त्व को धारण किये रहने का, आंतरिक शुद्धि का और आत्मा के सच्चे स्वरूप का ध्यान करने का उपदेश देता है। 'योगसार' में 108 पद्यों (प्रायः दोहे) में संसार भ्रमण से विरक्त मुमुक्षु को प्रबुद्ध करने के लिये उपदेश दिया गया है। स्वरूप शैली और सामग्री की दृष्टि से उसका 'परमप्पपयास' के साथ काफी साम्य है।

यही शब्द रामसिंह कृत 'दोहापाहुड' (सं. दोहाप्राभृत) के लिये भी कहे जा सकते हैं। इसके 212 दोहाबहुल पद्यों में इसी आध्यात्मिक-नैतिक दृष्टि पर बल दिया गया है। इसमें शरीर और आत्मा के तात्त्विक भेद का निरूपण करने के बाद परमात्मा के साथ आत्मा की अभेदानुभूति को साधक योगी का सर्वोच्च साध्य माना गया है। विचार में तथा परिभाषा में इन तीनों कृतियाँ का ब्राह्मण और बौद्ध परंपरा की अध्यात्मविषयक कुछ कृतियों के साथ उल्लेखनीय साम्य है। इनकी भाषा और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैली सरल, सरोक, लोकगम्य और अलंकार तथा पांडित्य के बोझ से मुक्त है। इन्हें भारतीय अध्यात्म-रहस्यवादी साहित्य में जैन परंपरा का मूल्यवान प्रदान माना जा सकता है।

अपभ्रंश में जैनों की भाँति बौद्धों का अध्यात्म–रहस्यवादी साहित्य भी रचा गया है। इनके रचयिता महायान संप्रदाय की वज्रयान तथा सहजयान शाखा के सिद्ध थे। इनमें से सरह तथा कान्ह के दोहाकोश (लगभग 10 वीं शताब्दी) व्यवस्थित रूप में मिलते हैं। कर्मकांड तथा बाह्याचार का विरोध, गुरु का महत्त्व, चित्तशुद्धि, शून्यताप्राप्ति आदि विषयों पर सीधी, तीक्ष्ण देशज जोशभरी वाणी में रचित इन रचनाओं में बाद के संतसाहित्य की रीति, भाषा और भावों के मूलस्रोत मिलेंगे। बौद्ध अपभ्रंश साहित्य को विरल उपलब्ध कृतियों के रूप में भी इनका मूल्य बहुत है।

छोटी धार्मिक कृतियों में लक्ष्मीचन्द्रकृत 'सावयधम्मदोहा' (सं. श्रावकधर्मदोहा) अपरनाम 'नवकार–श्रावकाचार' (16 वीं शताब्दी के पूर्व) उल्लेखनीय है। इसमें शीर्षक के अनुसार श्रावक का कर्तव्य लोकभोग्य शैली में बताया गया है। इसके अलावा 25 दोहे की महेश्वरकृत संयमविषयक 'संजमंजरी' (संभवतः 11 वीं शताब्दी के आसपास) का, जिनदत्त (ई. सन् 1706–1752) कृत 'चर्चरी' और 'कालस्वरूप-कुळक' का और धनपालकृत 'सत्यपुरमण्डनमहावीरोत्साह' (ईसाकी 11वीं शताब्दी), अभयदेवकृत 'जयतिहुअण' आदि स्तवनों का उल्लेख किया जा सकता है।

प्रकीर्ण कृतियाँ और उत्तरयुगीन प्रवाह

स्वतंत्र कृतियों के अलावा जैन प्राकृत तथा संस्कृत ग्रंथों में और टीकासाहित्य में छोटे–बड़े कई अपभ्रंश पद्यखण्ड मिलते हैं। उदाहरण के रूप में कुछ के नाम : वर्धमानकृत 'ऋषभचरित' (ई. सन् 1104), देवचंद्रकृत 'शान्तिनाथचरित्र' (ई. सन् 1104), हेमचंद्रकृत 'सिद्धहेम' व्याकरण तथा 'कुमारपालचरित' अपरनाम 'द्व्याश्रय' (ईसाकी 12 वीं शताब्दी), रत्नप्रभकृत 'उपदेशमालादोघट्टीवृत्ति' (ई. सन् 1182), सोमप्रभकृत 'कुमारपालप्रतिबोध' (ई. सन् 1185), हेमहंसशिष्यकृत 'संजममंजरीवृत्ति' (ईसा का 15 वीं शताब्दी से पहले) इत्यादि के अलावा अलंकार साहित्य में उद्धृत पद्यों में जोकि जैनेतर अपभ्रंश रचनाओं के सूचक हैं, उनका विशेष मूल्य है। इनमें से 'सिद्धहेम' के उदाहरण विशेष ध्यानार्ह हैं। हेमचन्द्रने इन पौने दो सौ जितने (मुख्यतः दोहाबद्ध) पद्यों में से अधिकांश उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में से या पहले के व्याकरणों में से इकट्ठे किये लगते हैं। कृत्रिम या गढ़े हुए उदाहरणों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संख्या स्वल्प है । उदाहरणों की भाषा विविध प्रदेशों और कालखण्डों का प्रभाव लिये हुए है । विषय-वैविध्य, अनायास सिद्ध अलंकार, भावों की तीक्ष्णता और सरल पर तुरंत ही बेधनेवाली अभिव्यक्ति और अनुभूति की ठोस झंकार—इन गुणों के कारण हेमचन्द्रीय उदाहरण एक ताजगी और उष्मा से धड़कते साहित्य की ओर संकेत करते हैं ।

संधि

तेरहवीं शताब्दी के आसपास छोटे अपभ्रंश काव्यों के लिये 'संधि' नामक ('संधिबंध' से भिन्न) एक नया रचनाप्रकार विकसित होता है । इस में किसी धार्मिक, उपदेशात्मक या कथाप्रधान विषय का कुछ कडवकों में निरूपण किया जाता है और उसका मूल स्रोत कई बार आगम-साहित्य या भाषासाहित्य अथवा तो पूर्वयुगीन धर्मकथा-साहित्य में का कोई एक प्रसंग या उपदेशवचन होता है । उदाहरण हैं रत्नप्रभकृत 'अंतरंगसंधि' (ईसा की 13 वीं शताब्दी), जयदेवकृत 'भावनासंधि', जिनप्रभ (ईसा की 13 वीं शताब्दी) कृत 'चउरंगसंधि', 'मयणरेहासंधि' (ई. सन् 1241) तथा अन्य संधियाँ ।

तेरहवीं शताब्दी में और उसके बाद रचित कृतियों की उत्तरकालीन अपभ्रंश भाषा में तत्कालीन बोलियों का बढ़ता हुआ प्रभाव लक्षित होता है । इन बोलियों में भी कब से साहित्य-रचनायें होने लगी थी--हालाँकि प्रारंभ में यह अपभ्रंश साहित्यकारों और साहित्यप्रवाहों का विस्ताररूप था । बोलचाल की भाषा में यह प्रभाव कुछ हल्के-फुल्के रूप में तो ठेठ हेमचन्द्रीय अपभ्रंश उदाहरणों में भी है । इससे ऊलटे साहित्य में अपभ्रंश परंपरा पन्द्रहवीं शताब्दी तक जाती है और क्वचित् बाद में भी उसे जीवन्त देखा जा सकता है ।

वस्तुनिर्माण तथा क्षेत्र की सीमा के बावजूद नूतन साहित्यस्वरूप और छन्दस्वरूपों का सृजन, परंपरापुनित काव्यरीति का प्रभुत्व, वर्णननिपुणता और रसनिष्पत्ति की शक्ति--इन सबके द्वारा अपभ्रंश साहित्य में जो सामर्थ्य और सिद्धियाँ प्रकट होती है उसके कारण उसे भारतीय साहित्य के इतिहास में सहज ही ऊँचा और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त होता है । प्राचीन गुजराती, व्रज, अवधी, महाराष्ट्री आदि के साहित्य, छन्द, काव्यरीति और साहित्यस्वरूप के संदर्भ में अपभ्रंश की ही परंपरा आगे बढ़ती है, अथवा तो उसमें से नयी दिशा में विकास होता है । इस दृष्टि से भी अपभ्रंश साहित्य का पद और महत्त्व निराला ही है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदेशरासक

अब तक, उपलब्ध अन्य अपभ्रंश साहित्य की रचनाओं में 'संदेशरासक' अपनी कुछेक अपूर्व विशेषताओं के कारण अपना निजी पहचान बनाये हुए है । यूँ काव्य तो केवल सवा दो सौ पद्यों का है फिर भी अपनी विशिष्टताओं के कारण वह काफी महत्त्वपूर्ण है । प्रथम तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से 'संदेशरासक' एक मूल्यवान कृति है । अब तक प्रकाशित प्रशिष्ट अपभ्रंश की रचनाओं में से एक भी ऐसी नहीं है कि जिसे नितांत शुद्ध साहित्य–रचना कहा जा सके । अब तक अपभ्रंश में धर्मकथायें, चरित, पुराण आदि की बोधप्रद या धार्मिक रचनायें ही मिलती रही है । स्वयंभू या हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अपभ्रंश–उदाहरणों पर से यदि अनुमान किया जायें तो इस में कोई संदेह नहीं कि प्राकृत के बाद अपभ्रंश ने शृंगार और वीररस के साहित्य तथा सुभाषितों की रचनापरंपरा आगे बढ़ायी थी । परंतु अब तक तो इन फुटकल कहने के लायक पद्यों के सिवा श्रृंगाररस या इतर प्रकार की शुद्ध ललित वाङ्मय की कही जा सकेगी ऐसी एक भी अपभ्रंश रचना हाथ लगी नहीं थी । 'संदेशरासक' इस प्रकार की पहली रचना है । इसके निर्माण का प्रमुख प्रवृत्तिनिमित्त रसानंद ही है । सीधे उपदेश नहीं, कांतासंमित उपदेश भी नहीं परंतु पाठक और श्रोता को सद्य और परम ऐसी निर्वृत्ति का लाभ मिले यही इस 'संदेश-रासक' रचना का प्रयोजन । कवि ने प्रस्तावना में ही कहा है कि उसका यह काव्य रसिकों के लिये रससंजीवनीरूप और अनुरागी के लिये पथदीपरूप है ।

कर्ता

'संदेशरासक' की दूसरी विशिष्टता यह है कि उसका रचनाकार कवि मुसलमान था । उसका नाम था अद्दहमाण या अब्दल रहमान । पश्चिमदेश में स्थित प्रसिद्ध म्लेच्छदेश के निवासी मीरसेन नामक किसी बुनकर का वह पुत्र था । वह यह भी कहता है कि उसने प्राकृत काव्य और गीतों की रचना में प्रसिद्धि पायी थी । पूरे काव्य में कहीं भी हल्का–सा अंदेशा भी नहीं होता कि यह रचना एक विदेशी–आर्येतर कवि की है । यही बात सिद्ध करती है कि संदेशरासककारने अत्रत्य काव्य-रीति और संस्कृति को किस हद तक आत्मसात् किया था । यह सही है कि काव्य का मंगलाचरण और समापन खास विशेषता लिये हुए है । देखिये मंगलाचरण में इष्टदेव का स्तवन : जिसने समुद्र, पृथ्वी, गिरि, वृक्ष, नक्षत्र आदि की सृष्टि की वह आपको कल्याण का दान करें, मनुष्य, देव, विद्याधर तथा सूर्यचन्द्र जिसको नमन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं । इसी प्रकार काव्य की अंतिम पंक्ति में 'जिसका न आदि है न अंत' ऐसे परमेश्वर का जयजयकार किया है । परंतु यदि पहले से पता हो कि यह एक मुसलमान कवि की रचना है तभी काव्य के इस प्रकार के आदि और अंत सूचक लगेंगे । काव्यविषय का जिस प्रकार निरूपण किया गया है, अनेक स्थानों पर जिन हृद्य और सुभग अलंकारों का विनियोग किया गया है, जिस प्रकार विरहिणी की करुण अवस्था का हृदयद्रावक चित्र प्रस्तुत किया गया है तथा समग्र काव्य में भाषा और छन्द विषयक जो सहज अधिकार प्रकट होता है–यह सब बड़ी गहरी छाप छोड़ जाते हैं । लगता है कविने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के विशेषकर शृंगारिक साहित्य का आकंठ पान किया होगा । 'गाथासप्तशती', 'वज्जालग्ग', 'लीलावई' जैसे प्राकृत गाथा–संग्रह या काव्यों की कुछ गाथाओं के अपभ्रंश अनुवाद या प्रतिध्वनियाँ भी उपर्युक्त बात का समर्थन करती हैं ।

वस्तु

'संदेशरासक' की तीसरी विशेषता उसके स्वरूप में निहित है । इस विशेषता को देखने से पहले एक निगाह काव्य की वस्तु को देख लें । रचना के शीर्षक से ही समझा जा सकता है कि यह एक विरह–प्राणित संदेशकाव्य है । परंतु 'मेघदूत' की रचना के बाद उसका अनुकरण करते हुए कई सामान्य या निम्न कक्षा के दूतकाव्य कुकुरमुत्ते की तरह जो पैदा हुए, उनके और 'संदेशराशक' के बीच जमीन–आसमान का फर्क है । काव्य के आरंभ में कविने आत्मपरिचय दिया है । और पूर्वपरिचित रोचक निदर्शन की पूरी शृंखला द्वारा यह व्यक्त किया है कि उसके पूर्वसूरिओं में कईओं को उत्कृष्ट काव्य–कृतिओं को सच्चा ध्रुवपद मिला है फिर भी अपने जैसे एक अत्यंत निरीह जन के ऐसे नम्र प्रयत्न को रसिक–दिलों को रिझाने का कुछ अधिकार और अवकाश है । काव्य के इस प्रवेशक–खण्ड के बाद मूल कथावस्तु का आरंभ होता है ।

राजपूताने के किसी इलाके के विजयनगर में रहती कोई प्रोषितभर्तृका उस मार्ग से गुजरते पथिक को देखकर कुछ पूछताछ करती है । पथिक किसीका संदेशवाहक बनकर मूलतान से खंभात नगर जा रहा था । पथिक मूलतान की समृद्धि का बहुत हृदयंगम वर्णन करता है । यहाँ तथा अन्य स्थानों पर कहीं भी आयास प्रतीत नहीं होता । भाषा, छन्द, अलंकार और वक्तव्य की अनेकविध ललित भंगिमा पर कवि के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहज अधिकार का अनुभव होता है । विरहिणी का पति भी अर्से हुए व्यापार के लिये खंभातनगर गया था । अतः वह पथिक को अपना संदेश उसे पहूँचाने की बिनती करती है । पथिक की सहृदयता देखकर विरहिणी उसे संदेशा कहती है । इसमें स्थूल सामग्री के रूप में विरह के कारण अपनी करुण, दुःखी, दयनीय अवस्था का वर्णन, इतना समय बीत जाने के बावजूद न लौटने पर उपालंभ, विरह के तीव्र दाह और मिलनाशा के अमृत का बारीबारी से अनुभव लेते अपने हृदय की त्रिकुवत् स्थिति और इन सब के कारण दुःसह्य बना जीवन आदि है । परंतु विशेष अपूर्वता तो उसकी अभिव्यक्ति–रीति में हो हैं । भिन्न–भिन्न भावानुकूल छन्दों का आश्रय लेकर, पहले दो–चार बातें कहती है, फिर दो–चार बातें कहती हैं, इतने में पथिक का हृदय सहृदयता के कारण भीग उठता और वह निसंकोच जी चाहा कह देने को आग्रह करता है : यों उपर्युक्त सामान्य सामग्री अनेक रम्य भंगिमाओं के सिंगार सज कर काव्य–रस का वाहक बनती है । फिर देर हो जाने के भय से पथिक जाने की अनुमति चाहता है । सो सुंदरी अंतिम दोचार शब्द सुन लेने को कहती है । इस तरह काव्य आधे तक पहुँचता है । इस दारान पथिक के हृदय में समभाव से कुतूहल जागता है और वह विरहिणी से पूछता है कि कितने समय से तुम ऐसी दीन दशा भोग रही हो ? और इस तरह कई दिनों से दिल में छिपाये हुए दुःखद भावों को एक सहृदय व्यक्ति के पास व्यक्त करने का मौका मिलने पर रमणी अपनी कहानी शुरु करती है । यहाँ काव्य का दूसरा खण्ड पूरा होता है । आरंभ का अंश यदि छोड़ दें तो यह खण्ड स्वतः पूर्ण रूप से वियोगि के आर्त, करुणार्द्र सूर बहाते विलापगीतों की माला जैसा है ।

तीसरे खण्ड में षड्ऋतुओं का मनोरम और आबेहूब वर्णन है । पति जब परदेश गया तब कैसा ग्रीष्म तप रहा था से लेकर एक के बाद एक ऋतु और उस समय की अपनी दशा–इस प्रकार वर्णन करते हुए अंततः वसंत का वर्णन करके विरहिणी अटकती है । अंत में पथिक को विदा देकर जैसे ही वह लौटती है तो सामने दक्षिण दिशा में निगाह पड़ते ही, दूर रास्ते पर परदेश से लौटे हुए अपने पति को देखती है । इसके साथ ही कवि 'जिस प्रकार उस विरहिणी का कार्य अचानक ही सिद्ध हुआ वैसे ही श्रोताओं और पाठकों का भी सिद्ध हो' ऐसी प्रार्थना करके अनादि–अनंत का जयजयकार करते हुए काव्य को समाप्त करता है ।

स्वरूप

अब इस काव्य–स्वरूप को जिस साँचे में ढाला गया है वह देखें । सब से पहले तो यही बात कि रचना का शीर्षक ही काव्य के प्रकार को सूचित कर देता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है । पुरानी गुजराती और हिन्दी दोनों में कई रासाकाव्य प्रसिद्ध है । अपभ्रंश में ऐसा ही 'उपदेशरासायणरास' नामक ग्रन्थ मिलता है परंतु स्वरूप और संविधान की दृष्टि से यह पहला प्रसिद्ध अपभ्रंश रासा है जो सबसे अलग है । कविने काव्य को विषयानुसार तीन भागों में बाँट दिया है । हर विभाग को 'प्रक्रम' ऐसा नाम दिया है । पहले 'प्रक्रम' में प्रास्ताविक बातें दी गयी है । अतः उसकी भाषा प्राकृत है, अपभ्रंश नहीं । काव्य में बीच-बीच में जहाँ भी गाथा है वहाँ वहाँ प्राकृत का ही उपयोग किया गया है और जो दो-चार वर्णवृत्त प्रयुक्त हुए हैं उनकी भाषा भी प्राकृत-प्रचुर है । विरहांक के 'वृत्तजाति-समुच्चय' या स्वयंभू के 'स्वयंभूच्छन्द' जैसे छन्द-ग्रंथोंने रासा का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा है कि रासाबंध की रचना अडिल्ला, रासा, चौपाई, दोहा आदि छन्दों में की जाती है । यह परिभाषा 'संदेशराशक' पर ठीक-ठीक लागू होती है । और फिर 'संदेशरासक' में भी रासक का लक्षण देते हुए कहा गया है कि जो बहु रूपकों में (= छन्दों में) निबद्ध होता है ।

काव्य की भाषा अपभ्रंश तो है परंतु वह लौकिक बोलियों से दूर तक प्रभावित उत्तरकालीन अपभ्रंश है । इसमें हेमचन्द्र की शिष्टमान्य अपभ्रंश के लक्षणों के साथ साथ ऐसी भी कुछ विशिष्टतायें हैं जो किसी एक प्रांतीय भाषा की निजी नहीं परंतु सभी उत्तरकालीन अपभ्रंशभेदों के बीच समान रूप से मिलती है । इसके अलावा 'संदेशरासक' की भाषा में कुछ शब्द और रूप ऐसे हैं-जैसे कि 'संनेहय' 'निवेहिय' जिनमें 'सू' का 'ह्', 'संनेहय' में 'न्द' का 'न्ह' 'चंबाअ' में 'म्प' का 'म्ब' ऐसे शब्द पंजाबी बोली की विशिष्टता है । अतः इसे पंजाबी और प्राचीन तुज गौजर से मिश्रित उत्तरकालीन अपभ्रंश कहा जा सकता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. अपभ्रंश भाषा

अपभ्रंश के स्वरूप विषयक प्राचीन उल्लेख

(अलंकार, व्याकरण आदि के प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त अपभ्रंश विषय उल्लेखों का भाषांतर यहाँ दिया गया है। मूल उल्लेख इस विभाग के परिशिष्ट में हैं।)

'अपभ्रंश' संज्ञा के अर्थ :

1. इष्ट या मान्य स्थान से, स्तर से च्युत होना, नीचे गिरना यह।[1] यह पतन अर्थात् लाक्षणिक अर्थ में 'स्खलन', 'भ्रष्टता', या 'विकृति' (आचार-विचार के प्रदेश में) :

(1) 'बड़ों के लिये भी बहुत चढ़ने का परिणाम अपभ्रंश में आता है।' (कालिदास).

2. भाषा की 'भ्रष्टता' या 'विकृति'। 'भ्रष्ट', 'विकृत', 'अशिष्ट' रूप या शब्द-प्रयोग। (तुलनीय 'अपभाषा', 'अपशब्द', 'अपप्रयोग' आदि)[2] :

(3) '(प्रत्येक) अपभ्रंश की प्रकृति साधु (= व्याकरणशुद्ध) शब्द होते हैं' (व्याडि)

(4) 'अपभ्रंश (ही) ज्यादा होते हैं, (जबकि) शब्द (तो) कम होते है। जैसेकि एक एक शब्द के अनेक अपभ्रंश होते हैं। जैसे 'गौ' शब्द के 'गावी', 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतलिका' आदि अनेक अपभ्रंश हैं।' (पंतजलि) :

---

1. आचार्य भरत 'समान शब्द, 'विभ्रष्ट' और 'देशीगत' ऐसे त्रिविध प्राकृत का उल्लेख करते हैं और परिभाषा देते हुए कहते हैं कि 'जो अनाथ वर्ण, संयोग, स्वर या वर्ण का परिवर्तन या लोप प्राप्त करते हैं उन्हें विभ्रष्ट कहते हैं।' (नाट्यशास्त्र, 17–3, 5, 6).

2. 'अपशब्द' के लिये भी यही कहा गया है : 'त एव शक्तिवैकल्यप्रमादालस्यादिभिरन्यथोच्चारिताः शब्दा अपशब्दा इतीरिताः ॥' (भर्तृहरि). 'अशक्ति, प्रमाद, आलस्य के कारण भिन्न रीति से उच्चरित शब्द ही अपशब्द कहे जाते हैं।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) '(शुद्ध शब्द) जिसकी प्रकृति न हो ऐसा कोई स्वतंत्र अपभ्रंश (अपभ्रष्ट) शब्द नहीं है । सारे अपभ्रंश की प्रकृति साधु शब्द होते हैं । परंतु प्रसिद्धि के कारण रूढ बने हुए कुछ अपभ्रंश स्वतंत्र प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं । अतः 'गौः' प्रयोग जहाँ करना होता है वहाँ अशक्ति या प्रमाद के कारण उसका 'गावी' आदि अपभ्रंश प्रयुक्त होते हैं । (भर्तृहरि) ।

3. भ्रष्ट, विकृत बोली या भाषा—उस उस समय की देशभाषा । (इस अर्थ में 'अपभ्रष्ट'—'अवहट्ठ' भी प्रयुक्त हुआ है) :

(6) 'शास्त्रो में संस्कृत से जो भिन्न है उसे अपभ्रंश कहा गया है ।' (दंडी).

(7) 'भाषा' अर्थात् संस्कृत का अपभ्रंश; 'भाषा'का अपभ्रंश अर्थात् 'विभाषा ।' यह उन उन देश की गहूवरवासिओं की तथा प्राकृत जनों की.....(अभिनवगुप्त) । 'परंतु अपभ्रंश का क्या नियम है ?' इसके उत्तर में कहते हैं,...(प्राकृत पाठ का विवरण करते हुए अभिनवगुप्त) ।

(8) 'और तीसरा अपभ्रष्ट । हे राजा, देशभाषा के भेदों के अनुसार यह अनंत है ।' ('विष्णुधर्मोत्तर') ।

(9) 'उन उन देशों में जो शुद्ध बोला जाये वह अपभ्रंश (वाग्भट्ट, 11वीं शताब्दी) । उन देशों में अर्थात् कर्णाट, पांचाल आदि में शुद्ध अर्थात् अन्य भाषा के मिश्रण के बिना जो बोला जाये वह अपभ्रंश है—ऐसा अर्थ है । (सिंहदेवगणि) ।

(10) 'देशी वचन सब लोगों को मीठे लगते हैं, अतः उसे अवहट्ठ मैं कहता हूं ।' (मैथिल कवि विद्यापति, 14 वीं शताब्दी का अंत्यभाग) ।

(11) 'कथामात्र ए नइषधरानी अपभ्रंश ए दाखी' (भालण, सोलहवीं शताब्दी का आरंभ)[1]

---

1. इसके साथ पद्मनाभ (ईसन् 1456), भालण, अखो, प्रेमानन्द शामल आदि गुजराती कवि 'प्राकृत', 'गुर्जरभाषा', 'गुजराती भाषा' ऐसी संज्ञाओं का भी गुजराती के लिये प्रयोग करते हैं । 'सरस बन्ध—प्राकृत कवि' (कान्हडदे प्रबन्ध, 1–1) : 'प्राकृतबन्ध कविततणि करी' (का. प्र. 4/352); 'गुर्जरभाषाना नलराजाए गुण मनोहर गाउं' ('नलाख्यान,' 1–1); 'संस्कृत बोल्ये शुं थयुं, काई प्राकृतमांथी नाशी गयुं ? ('अखाना छप्पा,' 247). 'बाँधुं नागदमन गुजराती भाषा' ('दशमस्कंध', 16–54); 'संवाद शुकपरिक्षतराजानो, कहुं प्राकृत पदबन्ध' ('दशमस्कंध', 1–7) 'मोहनजीसुत रखीदास कहे : प्राकृतनी ए पुराणी करी' (सिंहासनबत्रीसी,' वहाणनी वार्ता, ८) ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(12) 'अपभ्रष्टशब्दप्रकाश' (= 1880 में प्रकाशित, प्रभाकर रामचन्द्र पंडितकृत गुजराती के व्युपत्तिदर्शक कोश का नाम) ।

(13) 'इनमें छठा जो देशविशेष के अनुसार अनेक भेदों से युक्त अपभ्रंश' (रुद्रट, नवीं शताब्दी) ।

(14) 'यह तथा देशबोली प्रायः अपभ्रंश के अंतर्गत आती हैं ।' (रामचन्द्र, बारहवीं शताब्दी) ।)

(15) 'गीत द्विविध कहा जाता है, संस्कृत तथा प्राकृत । हे नरपति, तीसरा अपभ्रष्ट है, जो अनंत है, देशभाषा के अनुसार इसका यहाँ कोई अंत नहीं ।' (विष्णुधर्मोत्तर) ।

4. इस नाम की एक साहित्य-भाषा :

(16) (काव्य के) संस्कृत, प्राकृत और इसके अतिरिक्त अपभ्रंश-यों तीन प्रकार हैं ।' (भामह, करीब छठा शताब्दी) ।

(17) इस प्रकार आर्यों ने इस विशाल वाङ्मय को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र-यों चार प्रकार का कहा है ।

आभीर आदि की भाषाओं को काव्य में अपभ्रंश कहने की रूढि है परंतु शास्त्र में संस्कृत से जो भिन्न है उसे अपभ्रंश कहा जाता है । (दण्डी, करीब सातवीं शताब्दी) ।

(18) 'संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं में निबद्ध ऐसे प्रबंधों की रचना में जिसका अंतःकरण निपुणतर था ।' (वलभी के धरसेन द्वितीय का जाली दानपत्र, करीब सातवीं शताब्दी) ।

(19) (संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के उल्लेखों के बाद)-'अरे एक चौथी भाषा पैशाची भी है । तो यह वही होगी । (उद्योतनसूरि, ईसवीसन् 778).

(20) '(हे काव्यपुरुष), शब्दार्थ तुम्हारा शरीर है, संस्कृत मुख, प्राकृत बाहु, अपभ्रंश जघन, पैशाच चरण, मिश्र वक्षःस्थल' (राजशेखर, नवीं शताब्दी) ।

(21) 'महाकाव्य, पद्यात्मक और प्रायः संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा निबद्ध...(हेमचंद्र, बारहवीं शताब्दी ।)

(22) 'अवहट्ठय (= अपभ्रष्टक), संस्कृत, प्राकृत और पैशाचिक भाषा में जिन्होंने लक्षण और छन्दों के अलंकार द्वारा सुकवित्वको विभूषित किया (अब्दल रहमान, करीब तेरहवीं शताब्दी) ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(23) 'संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषा ये चारों भाषायें काव्यशरीर के रूप में प्रयुक्त की जाती है ।' (वाग्भट बारहवीं शताब्दी ।

(24) 'भाषाभेद के अनुसार (काव्य) के छः भेद संभव हैं । प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाचभाषा और शौरसेनी तथा छठा देशविशेष के अनुसार अनेक भेदों से युक्त अपभ्रंश ।' (रुद्रट, नवीं शताब्दी) ।

(25) 'अमुक अर्थ की संस्कृत द्वारा रचना संभव है, तो किसी की प्राकृत द्वारा और कोई अपभ्रंश द्वारा, उसी प्रकार किसी अर्थ को पैशाची, शौरसेनी या मागधी में गूँथा जा सकता है । (यह राजशेखर का अनुसरण करते हुए दिया गया है) (भोज, दसवीं शताब्दी) ।

(26) जगत के समस्त प्राणिओं का व्याकरण आदि संस्कार से रहित ऐसा सहज वाणीव्यापार ही प्रकृति है । उसमें से उद्भवित या वही प्राकृत । वही देश-विशेष के अनुसार और संस्करण से विशिष्टता प्राप्त कर संस्कृत आदि के बाद के स्वरूपभेदों को प्राप्त करती है ।...और फिर प्राकृत ही अपभ्रंश है, इसे अन्य लोगों ने उपनागर, आभीर और ग्राम्य यों त्रिविध बताया है, इसके निरसन के लिये (सूत्रकार ने) 'भूरिभेदः' यों कहा है । किस प्रकार ? 'देशविशेष के कारण ।' इसके लक्षण का योग्य निर्णय लोगों से करवाया जाये ।' (नमिसाधु, ग्यारहवीं शताब्दी)

(27) 'संस्कृत आदि छः भाषा' : संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश को प्रकार की भाषा कही जाती है ।' (हेमचन्द्र, बारहवीं शताब्दी) ।

(28) 'गौड आदि संस्कृत स्थित है, लाटदेश के कवि प्राकृत में दृढ रुचिवाले हैं, सकल मरुभूति, टक्क और भादानक के कवि अपभ्रंश युक्त प्रयोग करते हैं, अवंती, पारियात्र और दशपुर के कवि पैशाची का आश्रय लेते हैं, जबकि मध्यदेशवासी कवि सर्वभाषासेवी हैं । (राजशेखर, ईसवीसन् 900 के आसपास) ।

(29) '(राजासन के) पश्चिम में अपभ्रंश कवि' (राजशेखर)[1]

(30) 'संस्कृत द्वेषी लाटवासी मनोज्ञ प्राकृत को सुनना पसंद करते हैं । गुर्जर अन्य के नहीं अपने ही अपभ्रंश से संतुष्ट होते हैं' (भोज, दसवीं शताब्दी)। अपभ्रंश

क्त होती है । जब-

1. राजशेखर में इस प्रकार के अन्य तीनचार उल्लेख 'काव्यमीमांसा' में तथा एक 'बालरामायण' में हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(31) ''"अब्धिमंथन" जैसे अपभ्रंश भाषा में गुम्फित संश्लिष्टबंधयुक्त महाकाव्य हैं तो "भीमकाव्य" आदि ग्राम्य अपभ्रंश भाषा में गुम्फित अवस्कन्धकबंधवाले महाकाव्य हैं ।' (हेमचन्द्र) ।

अपभ्रंश के स्वरूप की विचारणा ।

जब भी कोई संज्ञा शताब्दिओं के प्रयुक्त होती रहती है तब उसके अर्थ में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है और यह स्वाभाविक भी है । 'प्राकृत' अर्थात् (1) साहित्य और शिष्ट व्यवहार की संस्कृत भाषा से स्पष्टतः भिन्न दिखाई देती जनसाधारण की भाषा, (2) महाराष्ट्री प्राकृत, (3) महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी-ये भाषायें, (4) महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची और अपभ्रंश ये भाषायें, (5) एक ओर संस्कृत और दूसरी ओर गुजराती, हिन्दी आदि उत्तरभारतीय भाषाओं के बीच की भाषायें, (6) लोकभाषा गुजराती, अवधी, ब्रज आदि । इसके अलावा भी दो तीन अर्थ दिये जा सकते हैं । 'अपभ्रंश' संज्ञा का भी ऐसा ही है ।

जो लोग ये मानते हैं कि ईसा पूर्व की दूसरी से लेकर ईसा की बीसवीं शताब्दी तक 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है वे लोग कई उलझनों का शिकार होंगे । वास्तव में ऐसी उलझनें हुई भी हैं । आधुनिक युग के कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश विषयक प्राचीन विद्वानों के समय-समय पर और अलग अलग संदर्भ में किये गये विधानों को उस शब्द के अमुक नियत अर्थ के साथ जोड़कर पहले से ही अपभ्रंश के बारे में भ्रमपूर्ण मत बना लिये हैं और इनके फलस्वरूप उन्हें कुछ आधारभूत सामग्री को इन मतों के चौकठे में ठोकपीट कर बिठाना पड़ा है ।

उपर 'अपभ्रंश' के अर्थ विषयक उद्धरणों से यह देखा जा सकता है कि 'अपभ्रंश' का साधारण यौगिक अर्थ है, 'इष्ट या मान्य स्थान से, स्तर से च्युत होना, नीचे गिरना ।' लाक्षणिक अर्थ में यह पतन अर्थात् 'स्खलन', 'भ्रष्टता', 'विकृति' फिर यह आचारविचार के प्रदेश में हो या भाषाव्यवहार के प्रदेश में । हमारे सभी अर्थ में 'अपभ्रंश' संज्ञा का प्रयोग होता रहा है । शब्द और अर्थ भाषा निबद्ध... अथवा व्याकरण शुद्ध शिष्ट शब्द और असाधु अथवा अशुद्ध अ-शिष्ट शब्द विषयक चर्चा में पतंजलि के समय से भी पहले शिष्ट, संस्कारी वर्ग के 'संस्कृत' के विरोध में जनसमूह की संस्कारहीन भाषा अर्थात् 'प्राकृत' और उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'भ्रष्ट', 'ग्राम्य' प्रयोग अपभ्रंश कहे जाते थे। और आगे चलकर समय समय पर लोकभाषा का स्वरूप बदलता रहा और उसके अनुसार 'अपभ्रंश' एक सामान्य संज्ञा के रूप में भिन्न भिन्न बोलिओं से जुड़ती गयी। प्राकृतें, प्राकृत का शिष्ट रूप या रूपविशेष, मध्यकालीन देशभाषायें और आधुनिक मैथिली, गुजराती आदि भाषायें समयभेद से या संदर्भभेद से 'भाषा', 'प्राकृत', 'अपभ्रंश' और 'अपभ्रष्ट' ऐसे नाम-निर्देश प्राप्त करती रही हैं। इसके अलावा 'देशी' और 'सामान्य भाषा' ऐसी संज्ञायें भी दसवीं शताब्दी पहले लोकबोली के लिये प्रयुक्त होती थी।

आरंभ में संस्कृत के विरोध में ग्राम्य, अ-शिष्ट मानी जाती प्राकृत बोलियों के लिये 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग होता था परंतु आगे चलकर साहित्यिक प्राकृतें अधिक से अधिक रूढ स्वरूप प्राप्त करने पर व्यवहार की बोली से हटने लगी। और इसी दौर में 'अपभ्रंश' संज्ञा सामान्य से विशेष संज्ञा बनी। किसी भी 'ग्राम्य' 'विकृत' भाषा के लिये नहीं, भाषाविशेष के लिये 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग होने लगा। भामह (ईसा की छठीं शताब्दी) तथा दंडी (ईसा की सातवीं शताब्दी) तथा दंडी (ईसा की सातवीं शताब्दी) साहित्य की तीन भाषाओं के रूप में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के नाम देते हैं। सातवीं शताब्दी के आसपास के एक ताम्रपत्र में, वलभीराज गुहसेन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-तीनों भाषा में गुम्फित साहित्य-प्रबंध रचने में निपुण था ऐसा धरसेन (द्वितीय) के नाम से उल्लेख है। इन उल्लेखों में अपभ्रंश का एक विशिष्ट साहित्यभाषा के रूप में निर्देश मिलता है। आगे चलकर उद्द्योतन (आठवीं शताब्दी), स्वयंभू (नवीं शताब्दी), पुष्पदंत (दसवीं शताब्दी) आदि अनेक अपभ्रंश कवि, राजशेखर (नवीं शताब्दी), हेमचन्द्र तथा अन्य कई विद्वान अपभ्रंश को एक साहित्यभाषा के रूप में जानते थे यह हम उनके उल्लेख, व्यवहार और निरूपण द्वारा जानते हैं। तो दूसरी ओर रुद्रट (नवमी शताब्दी), नमिसाधु (ग्यारहवीं शताब्दी) तथा पुरुषोत्तम (11 वीं-12 वीं शताब्दी), रामशर्मा और मार्कंडेय जैसे प्राकृत व्याकरणकार अपभ्रंश एक नहीं, परंतु अनेक होने की बात करते हैं। तो फिर अपभ्रंश की एकता और अनेकता विषयक निर्देशों और प्रमाणों की इन असंगतियों की स्पष्टता क्या और कैसे होगी ?

इनमें एक बात तो स्वयं स्पष्ट है कि साहित्यशास्त्री और व्याकरणकार अपभ्रंश की बात करने को इसलिये बाध्य है चूँकि वह साहित्य में प्रयुक्त होती है। जन-साधारण के केवल बोलचाल में ही प्रयुक्त बोलियों से उन्हें कुछ सरोकार नहीं था। प्राचीन समय में संस्कृत जानता शिष्टजन राजसभा में या विदग्धगोष्ठि में कविता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त करने के लिये जो काव्य रचना करता था उसके उपयोग के लिये, उसकी शिक्षा के लिये काव्यशास्त्र और व्याकरण रचे जाते थे । नाटक में ऐसी रुढि बन गयी थी कि उसमें उच्च वर्ग के पात्र की भाषा संस्कृत होगी और अन्य की प्राकृत । रंगभूमि पर प्रस्तुत किये जाते, समाज के संस्कारवंचित वर्ग में से और भिन्न भिन्न प्रादेशिक विस्तारों से लिये गये पात्रों को कुछ वास्तविकता का पुट देने के लिये उनकी उक्तिओं में, लोक में ज्ञात उच्चारण और प्रयोग की दो चार लाक्षणिकता का आंशिक प्रयोग होता था । इसमें वास्तविक जीवन में प्रयुक्त बोलियों को यथातथ रूप में पात्र की उक्ति में प्रस्तुत करने का आशय नहीं था । आज आधुनिक युग में यथार्थवाद में रममाण लोग भी इस हद तक नहीं जाते, जाना संभव भी नहीं है । प्राकृत में संस्कृत से भिन्न ऐसे कुछ व्यापक लक्षण अलग से लेकर उसमें बोलीविशेष के अनुसार कुछ-कुछ परिवर्तन कर लिया जाता । भरत के नाट्यशास्त्र में ऐसी प्राकृत बोलियों में मागधी, आवंती, शौरसेनी आदि सात 'भाषाये" और शाबरी, आभीरी आदि अनेक 'विभाषाये" बतायी गथी हैं । साथ-साथ अमुक प्रदेश की उकारयुक्त बोली, अमुक प्रदेश की तकारयुक्त ऐसी प्रादेशिक विशेषता की सूची दी गयी है । किस पात्र की भाषा कैसी हो इस विषयक नाट्यकार को जिन नियमों का ध्यान रखना है उसके संदर्भ में इस भाषा विषयक जानकारी का उल्लेख किया गया है । और इसी प्रयोजन से संस्कृत के उच्चारणादि में कैसे कैसे परिवर्तन किये जाये ताकि अभिनेता की संस्कृत भाषा प्रेक्षक जनता को प्राकृत बोली जैसी लगे इस के नियम उस समय के प्राकृत व्याकरण में दिये जाते थे ।

भरत की परंपरा का अनुगमन करनेवाले पुरुषोत्तम, रामशर्मा, मार्कण्डेय आदि प्राच्य व्याकरणकार विस्तार से 'भाषाओं' और 'विभाषाओं' के लक्षण देते है । 'भाषाओं' के नाम मुख्य रूप से प्रदेशमूलक तथा 'विभाषाओं' के जातिमूलक हैं इस पर से कुछ अध्ययनकर्ताओं ने यह मान लिया कि व्याकरणकारों ने उस प्रदेश तथा जाति की वास्तविक बोली का निरूपण किया है। परंतु उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट होगा कि मूलतः इन लोगों ने उस उस बोली के लोकदृष्टि से तुरंत ध्यान में आये ऐसे कुछ स्थूल, कामचलाउ लक्षण ही रंगभूमि के उपयोग हेतु बताये हैं । इतना ही नहीं आगे चलकर ये लक्षण रूढ और परंपरागत बनते गये सो कई बातों में उन्हें तत्कालीन वास्तविक स्थिति से कुछ लेना-देना भी नहीं रहा । पात्र-प्रकारों की सूचि बदलती गयी वैसे-वैसे बोलियों के नाम और लक्षण में भी कमोबेश परिवर्तन होते रहे, हाँ, प्रयोजन और निरूपण की दृष्टि वही की वही रही ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परंतु इन बोलियों का नाटक के अलावा साहित्य में अन्यत्र भी उपयोग होता था । भरत ने जिसे 'विभाषाएँ' और देशभाषाएँ कहीं और अभिनवगुप्त ने जिन विशेषताओं की 'भाषा का अपभ्रंश ही विभाषा' कहकर जो व्याख्या दी, उनमें से जिनका नाटक के अलावा प्रयोग होता था उसे तब 'अपभ्रंश' नाम देने की परंपरा प्राच्य व्याकरणकारों में स्थिर हुई । छटी–सातवीं शताब्दी से अपभ्रंश गद्यमय तथा पद्यमय कथाओं के और प्रबंधों के उल्लेख मिलते हैं और काव्य शरीर के रूप में प्रयुक्त एक भाषा के रुप में अपभ्रंश के विशिष्ट बन्ध और छन्द की बात साहित्यशास्त्री करते हैं । इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत की समकक्ष साहित्यभाषा के रूप में व्याकरणकार उसका निरूपण करते हैं और अपभ्रंश में रचना करने को इच्छुक विद्वानों के लिये संस्कृत में से अपभ्रंश कैसे बनाया जाये उसके नियम देते हैं । परंतु महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, संघात जैसे विशिष्ट प्रबन्धों के अलावा साहित्य–विनोद हेतु अन्यत्र भी अपभ्रंश का प्रयोग होता था । प्रांत प्रांत के लोगों की भाषा और वेशभूषा को लेकर कौतुकमय रचना करने की रुढि सातवीं शताब्दी से आरंभ हो गयी थी । क्रीडा, गोष्टि आदि में विनोद के लिये की जाती भाषा-चित्र रचनाओं में भी भाषाओं के मिश्रण का प्रयोग होता था । भोज के 'सरस्वती–कठाभरण' जैसे ग्रंथों में इसका विस्तार से निरूपण हुआ है । ऐसी रचनाओं में जब प्रादेशिक बोली से युक्त भाषा का प्रयोग होता था तब उसे भी कई बार अपभ्रंश या अपभ्रष्ट कहा जाता था । इस दृष्टि से अपभ्रंश के अनेक भेद माने जाते थे । 'विष्णुधर्मोत्तर' और वाग्भट की 'अपभ्रंश' विषयक व्याख्या इसी संदर्भ में समझनी होगी । इसके साथ–साथ नमिसाधु द्वारा उल्लेखित उपनागर, आभीर, और ग्राम्य ऐसे भेद या नागर, ब्राचड और उपनागर (तथा पांचाल, मागध, वैदर्भ इत्यादि वैसे अन्य बीस) ये प्राच्य व्याकरणकार द्वारा दिये गये भेद अथवा रुद्रटकथित देशविशेष के अनुसार भूरिभेद उक्त प्रकार की रचनाओं के लक्षित करते होये बहुत संभव है ।

परंतु इस प्रकार समय–समय पर भिन्न–भिन्न अर्थ में 'अपभ्रंश' संज्ञा प्रचलित होने के कारण अपभ्रंश के स्वरूप के सम्बन्ध में काफी उलझने पैदा होती रही है । एक ओर दंडी, उद्द्योतनसूरि, राजशेखर और प्राच्य व्याकरणकारों द्वारा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाचिक का वर्गीकरण स्वीकृत हुआ है तो दूसरी और संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश ऐसी भाषा–व्यवस्था भी रुद्रट, भोज, हेमचन्द्र, अमरचन्द्र आदि में मिलती हैं ।

दंडी अपभ्रंश को आभीर आदि की भाषा के रूप में बताते हैं और फिर विरहांक आदि आभीरी भाषा या आभीरोक्ति के रूप में जो उदाहरण देते हैं वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश के ही हैं। आभीरी और अपभ्रंश के प्रगाढ सम्बन्ध के अन्य कई प्रमाण भी मिलते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो दूसरी शताब्दी में सौराष्ट्र में आभीरराज ईश्वरसेन के शासन का उल्लेख मिलता है। पुराणों में उत्तर के, वायव्य या पश्चिम के प्रदेशों के साथ आभीरों का सम्बन्ध बताया गया है। 'महाभारत' (सभापर्व) और 'ब्रह्मांडपुराण' आभीरों को सिंधुप्रदेश के बताते हैं। क्रमशः आभीरों की आबादी दक्षिण की ओर गयी होने के भी प्रमाण मिलते हैं। 'बृहत्संहिता' में कहा गया है कि आभीर आनर्त और सौराष्ट्र में तथा कोंकण में थे। इस प्रकार प्रतीत होता है कि सिंध, राजस्थान, व्रजभूमि, मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र, खानदेश और वराड तक का प्रदेश समय-समय पर आभीरों से जुड़ा होगा। विदर्भ के आसपास के दिगम्बर जैन कवियों के और राजस्थान के श्वेताम्बर जैन कवियों के प्राप्त अपभ्रंश में विस्तृत महाकाव्य, सौराष्ट्र के वलभी में अपभ्रंश साहित्यरचना का प्राप्त प्राचीन शिलालेखीय निर्देश और गुजरात के हेमचन्द्र द्वारा अपभ्रंश का सविस्तर निरूपण आदि तथ्य तथा आधुनिक हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती का अपभ्रंश से घनिष्ठ सम्बन्ध उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हैं।

भाषाविकास की दृष्टि से अपभ्रंश का स्थान प्राकृत के बाद और अर्वाचीन उत्तर भारतीय भाषाओं के पहले का है। भारत की भारतीय-आर्य भाषाओं का वेद से लेकर आज पर्यंत का इतिहास अध्ययन की सुविधा के लिए तीन भागों में बाँट दिया गया है। प्राचीन भारतीय-आर्य (वैदिक भाषा, प्रशिष्ट संस्कृत), मध्यकालीन भारतीय-आर्य (पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि), नव्य भारतीय-आर्य (हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि)। इनमें मध्यकालीन भारतीय-आर्य के तीन क्रमिक विभाग-(1) प्राचीन प्राकृत-अशोककालीन बोलियां, पाली; (2) द्वितीय प्राकृत (साहित्य, नाटक आदि की प्राकृत); और (3) तृतीय प्राकृत (अपभ्रंश) किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से देखने पर अपभ्रंश मध्यकालीन और आधुनिक युग के संधिकाल का संकेत करती है। अपभ्रंश आंशिक रूप से प्राकृत होने के बावजूद उसकी अपनी निजी कई विशेषतायें हैं, जो आगे चलकर आधुनिक युग में भी दिखाई देती हैं। अपभ्रंश का उच्चारण मुख्य बातों में प्राकृत के अनुसार रहा है। परंतु कुछ बातों में अपभ्रंश प्राकृत से भिन्न है जैसे-अंत्य स्वरों के ह्रस्व उच्चारण का प्राबल्य, अनाद्य स्थान पर स्थित 'ए' 'ओ' का भी ह्रस्व उच्चारण, अनुनासिक स्वरों की बहुलता, नासिक्य वकार, दो स्वरों के मध्य स्थित 'स्' का 'ह्', '-ब्व' > (पूर्वस्वर दीर्घत्व) + 'व' की प्रक्रिया, प्रदेशभेद के अनुसार अघोरेफ युक्त संयुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यंजनो को सुरक्षित रखना और क्वचित् (आद्याक्षर में) रकार का प्रक्षेप इत्यादि। रूप-परिवर्तन में सार्वनामिक प्रत्ययों से विकसित प्रत्यय आगे चलकर संज्ञा के रूप-परिवर्तन में भी सादृश्यता के कारण प्रयुक्त होने लगे हैं और अकारांत अंगो का प्रभाव सर्वग्राही है। प्रथमा-द्वितीया, तृतीया-सप्तमी और पंचमी-षष्ठी की घालमेल में चार कारक विभक्तियाँ अलग की जा सकती हैं और फलतः परसर्गों का प्रचार बढ़ता गया है। इसके अलावा विभक्ति के विशिष्ट प्रयोग और रुढ़ उक्तियाँ आदि हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। इस दृष्टि से अपभ्रंश प्राकृत से ज्यादा आधुनिक भाषाओं के अधिक निकट है। शब्द-समूह के संदर्भ में भी यही बात नजर आती है। प्राकृत की तुलना में अपभ्रंश में देशज शब्दों का प्रयोग बढ़ा है और उनमें से कई आधुनिक भाषाओं में सीधे चले आये हैं।

अपभ्रंश साहित्य की उपलब्ध कृतिओं में जो भाषा मिलती है, उसे स्थूल दृष्टि से एकरुप माना जा सकता है। परंतु आधुनिक विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखें तो समय और प्रवेश के अनुसार उसमें कुछ भिन्नता स्पष्टतः दिखाई देती है। दिगम्बरों और श्वेताम्बरों की अपभ्रंश कृतियों की भाषा मूलतः तो प्रादेशिक भिन्नता के कारण कुछ अपनी-अपनी विशेषतायें लिये हुए हैं। इसी प्रकार स्वयंभू, पुष्पदंत, हरिभद्र आदि के शिष्ट, उच्च, पांडित्यप्रचुर अपभ्रंश की तुलना में हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत कुछ दोहों का लौकिक अपभ्रंश काफी भिन्न है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

(1) अत्यारूढिर्भवति महतामप्यभ्रंशनिष्ठा। (शाकुन्तल, 4, 5) (3) शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारः। (भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय। 118 वार्तिक) (4) भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः (महाभाष्य, 1–1–1) (5) नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद् विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रूढितामापद्यमानाः स्वातंत्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादादिभिर्वा गाव्यादयस्तत्प्रकृतयोऽपभ्रंशा प्रयुज्यन्ते। (वाक्यपदीय, 1, 148, वार्त्तिक) (6) शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदभ्रंशतयोदितम्। (दण्डी, काव्यलक्षण, 1, 36) (7) भाषा संस्कृतापभ्रंशः। भाषापभ्रंशस्तु विभाषा। सा तत्तदेश एव गह्वरवासिनां प्राकृतवासिनां च। (भरतनाट्यशास्त्र 17 : 49, 50 पर अभिनवभारती)। (8) अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप। देशभाषाविशेषेण॥ (विष्णुधर्मोत्तर, 3, 3). (9) अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्। (वाग्भटालंकार, 2, 3); यत्तेषु तेषु कर्णाटपाञ्चालादिषु देशेषु शुद्धम्परभाषाभिरमिश्रितं भाषितं सोऽपभ्रंशो भवतीत्यर्थः। श्लोकार्ध पर की सिंहदेवगणि की टीका). (10) देसिल वअणा सब जन मिट्ठा। तं तैसन जंपओ अवहट्ठा (कीर्तिलता, 1, 13). (11) नलाख्यान, 1–11. (12) षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादभ्रंशः॥ (रुद्रट, काव्यालंकार, 2–12). (14) इयं च देशगीश्च प्रायोऽभ्रंशे निपततीति। (रामचन्द्र–गुणचन्द्र, नाट्यदर्पण, 195 अ). (15) संस्कृतं प्राकृतं चैव गीतं द्विविधमुच्यते॥ अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप। देशभाषाविशेषेण तस्यान्तो नेह विद्यते॥ (विष्णुधर्मोत्तर 3, 3) (16) संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा (भामह, काव्यालंकार 1–16). (17) तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा। अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुविधम्॥ (दण्डी, काव्यलक्षण (= काव्यादर्श) 1–32); आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः। शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदभ्रंशतयोदितम्॥ (काव्यलक्षण, 1–56). (18) संस्कृतप्राकृताभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्ध–प्रबन्धरचनानिपुणतरान्तःकरणः। (धरसेन के शक संवत 400 के जाली ताम्रपत्र में गुहसेन का विशेषण इन्डियन एन्टिक्वरी. 10–284). (19) कुवलयमाला, पृ. 66). (20) शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। (राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ. 8). (21) पद्यं प्रायः संस्कृत–प्राकृतापभ्रंश–ग्राम्यभाषा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निबद्ध ... महाकाव्यम् । (हेमचन्द्र, काव्यानुशासन 8-330). (22) अवहट्टयसक्कय-पाइयमि पेसाइयंमि भासाए । लक्खण-छंदाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं ॥ (अब्दल रहमान, संदेशरासक 1, 6). (23) संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम् । इति भाषाचतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् । (वाग्भट, वाग्भटालंकार, 2-1) (24) भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य सम्भवति प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शूरसेनी च । षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥ (रुद्रट, काव्यालंकार, 2/11-12). (25) संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतनैव चापरः शक्यो रचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन वा पुनः ॥ पैशाच्या शौरसेन्या च मागध्याऽन्यो निबध्यते । (भोज, सरस्वतीकंठाभरण, 2/10-11). (26) सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारसहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः । तत्र भवं सैव वा प्राकृतम् ।...तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति...तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः । स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्य-त्वभेदेन त्रिधोक्तः तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति । कुतो देशविशेषात् कारणात् । तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगयसेयम् । (नमिसाधु, काव्यालंकारवृत्ति 2-12). (27) भाषा षट् संस्कृतादिकाः भाष्यन्ते भाषाः संस्कृत-प्राकृत-मागधी-शौरसेनी पैशाच्यभ्रंशलक्षणाः । (हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि, 2/199). (28) गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः । सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ॥ आवन्त्याः पारि-यात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषा भजन्ते । यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषा-निषण्णः ॥ (राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ. 51). (29) पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः । (काव्यमीमांसा, पृ. 54-55). (30) शृण्वन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः । अपभ्रंशेन तुष्यन्ति खेन नान्येन गुर्जराः ॥ (भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, 2-13). (31) अपभ्रंशभाषा निबद्धसन्धिबन्धमब्धिमथनादि । ग्राम्यापभ्रंशभाषानिबद्धावस्कन्धकबन्धं भीमकाव्यादि । (हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, 8-337).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. हेमचन्द्रीय अपभ्रंश

पुरुषोत्तम, रामशर्मा, मार्कंडेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि के प्राकृत–व्याकरणों में अपभ्रंश के विषय में थोड़ी–बहुत जानकारी दी है परंतु या तो ये विद्वान हेमचंद्र से आधुनिक है या उस पर निर्भर है अथवा उनकी जानकारी संक्षिप्त और अव्यवस्थित है । प्राचीनता, विस्तार और व्यवस्था की दृष्टि से हेमचन्द्र का अपभ्रंश विषयक निरूपण सबसे महत्त्वपूर्ण और उद्धृत उदाहरणों के कारण प्रमाणभूत है ।

जैसा कि कहा जा चूका है हेमचन्द्र ने अपभ्रंश को एकरूप मानकर उसका प्रतिपादन किया है । वे कहीं भी अपभ्रंश के विविध भेदों का उल्लेख भी नहीं करते है । वे अपभ्रंश को एक साहित्य भाषा माननेवालों की परंपरा का अनुसरण करते हैं । वैसे शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि प्राकृत–प्रकारों तथा उनके सामान्य लक्षणों का उन्होंने स्पष्टतः उल्लेख किया है परंतु अपभ्रंश प्रकारो के बारे में हल्का–सा इशारा भी नहीं किया है । उनके 'काव्यानुशासन' में एक स्थान पर ग्राम्य अपभ्रंश का और उसमें रचित काव्य के नाम का निर्देश (भोज का अनुसरण करते हुए) मिलता है परंतु लगता है कि इस निर्देश द्वारा शिष्ट सर्वसाधारण साहित्य भाषा के स्थानीय अंशयुक्त मिलावटवाले रूप का संकेत दिया गया है । अतः स्पष्ट है कि हेमचन्द्र को अपभ्रंश' संज्ञा से एक प्रतिष्ठित साहित्यभाषा ही अभीष्ट थी ।

परंतु भिन्न–भिन्न समय के पूर्वरचित व्याकरणों और साहित्यरचनाओं पर आधारित होने के कारण हेमचन्द्र निरूपित अपभ्रंश में भाषिक विश्लेषण की दृष्टि से भिन्न–भिन्न देशकाल की विविध भाषा सामग्री का मिश्रण होना अनिवार्य है ।

पहले हम हेमचन्द्र द्वारा दिये उदाहरणों के आधार पर हेमचन्द्र से भिन्न एक स्वतंत्र व्याकरण की रूपरेखा बनायें ।

व्याकरण की रूपरेखा

इस रूपरेखा को ध्वनिविकास, शब्द–रचना, संज्ञा के रूप–नियम और प्रयोग जैसे विभागों में बाँटा है ।

1. ध्वनिविकास: मुख्यतः प्राकृत की स्थिति अपभ्रंश में चालु रही है । प्राचीन भारतीय–आर्य में से मध्य भारतीय–आर्य में हुए ध्वनिपरिवर्तन का संक्षिप्त सार (अपभ्रंश की बचीखुची विशेषताओं के साथ) इस प्रकार है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वर : 1. मूल के इकहरे स्वर सामान्य नियम के अनुसार सर्वत्र यथावत् रहते हैं। अपवाद : (1) आद्य 'ऋ > 'रि', अनाद्य 'ऋ' > 'अ', 'इ', (ओष्ठ्य संदर्भ में) 'उ'। (2) संयुक्त व्यंजन का अथवा अनुस्वार पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। क्वचित नासिक्य व्यंजन के पूर्व स्थित 'ए', 'ओ' ह्रस्व हो जाते हैं। (3) 'स्स्' और 'व्व्' इकहरे बनने पर पूर्व स्वर दीर्घ हो जाते हैं। (4) क्वचित् आद्य स्वर (वाक्य संधि के फलस्वरूप) लुप्त हो जाते हैं।

2. संयुक्त स्वरों में 'ऐ' > 'ए' या 'अइ' और 'औ' > 'ओ' या 'अउ'— ऐसी प्रक्रिया है।

3. अपभ्रंश में अंत्य स्वर ह्रस्व होता है, अतः मूल के अंत्य दीर्घ स्वर ह्रस्व बन जाते हैं, और 'ए' का ह्रस्व 'ए' या 'इ', 'ओ' का ह्रस्व 'ओ' या 'उ' होता है। क्वचित् अंत्य 'अ' का 'उ' हो जाता है।

व्यंजन : व्यंजन के परिवर्तन का आधार उनके शब्दगत स्थान और संदर्भ पर निर्भर होता है।

4. इकहरे आद्य व्यंजन यथावत रहते हैं। अपवाद : (1) अपभ्रंश पांडुलिपियों में आद्य 'न्' के स्थान पर 'ण्' लिखने का विशेष पचलन है। (2) 'य्' > 'ज्'। *(3) 'श्र', 'प्र' > 'स्' (क्वचित् 'छ')। (4) क्वचित अल्पप्राण का महाप्राण होता है।*

5. इकहरे अंत्य व्यंजन लुप्त हो जाते हैं।

6. इकहरे मध्यवर्ती व्यंजनों में निम्न अनुसार परिवर्तन होते हैं। (1) 'क्', 'ग्', 'च्', 'ज्', 'त्', 'द्', 'य्' बहुधा लुप्त होते हैं। परवर्ती (या पूर्ववर्ती तथा परवर्ती) स्वर यदि 'अ' या 'आ' होते हैं तब लुप्त व्यंजन के स्थान पर यश्रुति आती है। पूर्वस्वर 'उ', 'ओ' हों तो क्वचित् वश्रुति आती है। पांडुलिपियों में यश्रुति तथा वश्रुति के विषय में काफी अनवस्था है। (2) क्वचित् उपर्युक्त व्यंजन लुप्त न होकर उनमें का घोष व्यंजन यथावत् रहता है, अघोष घोष बन जाता है। (3) 'ख्', 'घ्', 'थ्', 'ध्', 'फ्', 'भ्' का 'ह्' होता है। (4) क्वचित् (3) में सूचित का 'ह्' न हो कर, उनमें का घोष यथावत् रहता है और यदि अघोष हों तो घोष बनता है। (5) 'ट्' > 'ड्'; 'ठ्' > 'ढ्'। (6) 'न्' > 'ण्'। (7) 'प्' > 'व्'. 'व्' यथावत् रहता है परंतु क्वचित् उसका 'व्' हो जाता है। (8) 'म्' का क्वचित् 'वँ' होता है। (9) 'अ', 'आ' के सिवा अन्य स्वरों के पूर्व 'व्' क्वचित् लुप्त होता है। (10) 'श्', 'ष्' > 'स्', । (11) क्वचित् 'स्', 'श्'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'ष्' > 'ह्'। यह परिवर्तन अपभ्रंश में विशेष रूप से होता रहा है। 'दिअह' (दिवस) 'पाहाण' (पाषाण), 'साह्' (शास्), लूह् (लूष्) आदि तथा हकारवाले विभक्ति प्रत्यय तथा आख्यातिक प्रत्यय इसके उदाहरण हैं। (12) क्वचित (सकार के सान्निध्य में विशेष) अल्पप्राण का महाप्राण होता है। (13) क्वचित् ('र्', 'ऋ' के सान्निध्य में विशेष) दंत्य का मूर्धन्य होता है। क्वचित् 'ड्', 'र्' का 'ल्' होता है। (15) क्वचित् इकहरा व्यंजन दोहरा होता है।

8. अपभ्रंश में क्वचित् आद्य या मध्यवर्ती इकहरे 'द्', 'व्' आदि में रकार का प्रक्षेप होता है। प्राकृत में 'ह्न्', 'ल्ह्' और क्वचित् परवर्ती रकार वाले संयुक्त व्यंजनों को छोड़ दें तो अन्य कोई संयुक्त व्यंजन शब्दारंभ में प्रयुक्त नहीं होते।

9. संयुक्त मध्यवर्ती व्यंजन या तो सारूप्य (समान रूप) प्राप्त करते हैं या स्वरागम होने पर विश्लेष प्राप्त करते हैं।

10. व्यंजन-सारूप्य के नियम निम्न अनुसार है।

(5) 'ज्ञ' > 'न्न्' या 'ज्ज्'। (6) दंत्य + 'य्' या 'व्' > तालव्य। (7) क्वचित् परवर्ती इकारवाले संयुक्त व्यंजनों को यथावत् रखनेका प्रादेशिक रवैया अपभ्रंश में था। (8) दंत्य + इकार > मूर्धन्य (क्वचित्) (9) 'त्स्', 'प्स्' > 'च्छ्'। (10) 'क्ष्' > 'क्ख्' 'च्छ' या 'ज्झ्' (11) ऊष्म व्यंजन + स्पर्श > अल्पप्राण + महाप्राण। (12) ऊष्म व्यंजन + अननासिक व्यंजन > अनुनासिक व्यंजन + 'ह्'। (13) 'ह्' + अनुनासिक व्यंजन > अनुनासिक व्यंजन + 'ह्', परंतु क्वचित् अनुनासिक व्यंजन + उसी वर्ग का घोष महाप्राण। (14) 'द्य्', 'य्' > 'ज्ज्' (15) 'य्' > 'ज्झ्', 'ह्व्' > 'ब्भ्'। (16) उपर्युक्त नियमानुसार निष्पन्न होते संयुक्त व्यंजन के स्थान पर—विशेषतः मूल के व्यंजनों में का एक रकार या ऊष्म व्यंजन हों तब < ◁ अनुस्वार + इकहरा व्यंजन ▷ > होने का रवैया।

11. (1) ऊष्म व्यंजन + अनुनासिक व्यंजन, या 'य्' 'र्', 'ल्', 'व्'; (2) र कार + ऊष्म व्यंजन या 'य्', 'व्', 'ह्', (3) 'व्' + 'य्'; (4) स्पर्श + अनुनासिक व्यंजन, या 'र्'; (5) दंत्य + वकार—इन संयोगों का स्वरप्रक्षेप से विश्लेष (विभाजन) होता है। प्रक्षिप्त स्वर 'इ' या 'अ' अथवा (ओष्ठ्य संदर्भ में) 'उ' होता है।

12. दोहरा 'स्' (= 'स्स्') और 'व्' (= 'व्व्') कभी कभी इकहरा बनता है और तब पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर दीर्घ होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

13. व्यंजनलोप के कारण पास-पास रहे हुए समान स्वर मिलकर एक दीर्घ स्वर होता है ।

14. 'अय्' > 'ए', 'अव्' > 'ओ' । अन्य स्थान पर भी परवर्ती 'य्', 'व्' > 'इ', 'उ' ।

15. सारूप्य के उपर्युक्त नियमों के अनुसार निष्पन्न होते संयुक्त व्यंजनों में से शब्दारंभ में केवल परवर्ती व्यंजन ही यथावत् रहते हैं । इनके अपवाद 8 वें नियम में दिये गये हैं ।

अपभ्रंश के कुछ लाक्षणिक ध्वनि-परिवर्तन के झुकाव

1. 'अे' का 'अॅ' या 'इ' और 'ओ' का 'ओं' या 'उ'—अपभ्रंश में यह अंत्य स्वर के ह्रस्व उच्चारण के रवैया की ही एक प्रवणता है) उदाहरण : अकारांत पुं. तृ. ए. व. के 'एॅण', 'इण', 'इ' प्रत्यय तथा बहुवचन के 'एॅहिं', 'इहिं' प्रत्यय; सप्तमी एक व. का 'इ', स्त्रीलिंग तृ. एक. व. का 'इ' तथा संबोधन एक. व. का 'इ', सर्वनाम के पुं. प्रथमा बहु. व. का 'एॅ', (जे, ते, अन्ने या 'इ' (अइ, ओइ); आज्ञार्थ द्वितीय पु. एक. व. का 'इ'; किवँ, जिवँ, तिवँ ।

पुं. प्र. द्वि. एक. व. का 'उ' : षष्ठी एक व. का 'हु'; स्त्रीलिंग प्र. द्वि. बहु व. का 'ओं', 'उ' ।

2. ऋकार यथावत् (उच्चारण में 'र'). उदाहरण : कृदंत, गृण्ह (चार बार) गृह्, घृण, तृण, सुकृद ।

सूत्र 394 खास 'गृण्ह्' के लिये है ।

3. रकार यथावत् । उदाहरण : अंत्र, द्रम्म, द्रक्क, द्रह, द्रेहि, ध्रुव, प्रंगण, प्रमाणिअ, प्रयावदी, प्रस्स्, प्राइँव, प्राइम्व, प्राउ, प्रिअ, ब्रुव्, ब्रो, भ्रंती, भ्रंत्रि, व्रत ।

सूत्र 391. 393, 398, 414, 418, रकार यथावत् सुरक्षित रखनेवाले शब्दों का विधान करते हैं । प्राकृत में भी 'द्र' संयोग यथावत् रखने का प्रादेशिक झुकाव था ।

4. रकार का प्रक्षेप । उदाहरण : तुम्र (दो बार), त्रं, ध्रुं (?) भ्रंत्रि, त्रास, (तुलनीय क्रमदीश्वर में 'भ्रास' < 'भाष्य') ।

सूत्र 399 रकार-प्रक्षेप विषयक है । केवल 'वुज्' (392) में 'ज्' है ।

उपर्युक्त 2 से 4 तक का चलन अपभ्रंश में प्रादेशिकता तथा प्राचीनता का द्योतक है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. 'त्' का 'द्' (या 'द्' यथावत्)–यह घोषभाव के चलन का ही एक और रूप है। उदाहरण : गद, आगद, किद, सुकृद, सुकिद, कृदंत, कधिद, ठिद, विहिद, विणिम्मविद (इन सबमें भूतकृदंत का 'इद'<'इत' प्रत्यय), कीलदि, जोऐदि, प्रस्सदि (वर्तमान तृ. पु. एक व. का 'दि'<'ति' प्रत्यय), तिदस, मदि, रदि।

सूत्र 396 घोषभाव विषयक है। यह चलन प्राचीनता का द्योतक है।

6. 'म्' का 'वँ' (या 'व्') उदाहरण : जावँ, तावँ, (जाउ, ताउ) अेवँ (अेवँइ, अेवहिँ), केवँ, जिवँ, तिवँ); प्राइँव, पग्गिवँ (लिखित रूप 'प्राइम्व', 'पग्गिम्व'); नव्, नाउँ, ठाउँ, कवँल, भवँर, पवाँण, सावँल, नीसावँण्ण, रवण्ण।

सूत्र 397 इस चलन से सम्बन्धित है। अपभ्रंश में यह एक प्रादेशिक चलन था।

7. वकार का लोप। उदाहरण : (अंगगत) दिअह, निअत्त, पइस्, पइट्ठ, पयट्ट, परिअत्त, पिआस, बइट्ठ, रूअ, लायण्ण, लोअडी, साहु, सुइण; (प्रत्यय के पहले) आइअ, जीउ, तउ, पहाउ, जाउँ, ताउँ, नाउँ, ठाउँ।

अपभ्रंश में यह चलन प्रादेशिक था।

8. 'स्' का 'ह्'। इसके उदाहरण ऊपर 'ध्वनि–विकास' में 7 (11) में दिये गये हैं।

9. संयुक्त व्यंजनों का एकत्व।

पूर्वस्वर दीर्घत्व के बिना : उपांत्य अक्षर के बाद–नवखी (प्रत्यय में), एवड, केवड, जेवड, तेवड; एत्तुल, केत्तुल, तेत्तुल : बप्पीकी, करत (छन्दोमूलक ?) आद्य अक्षर के बाद–अनु, कटरि, कटारय, कणिआर, पठाव, लेखडय। अकारांत पुं. षष्ठी एक व. का 'स्' प्रत्यय, भविष्य का 'इह' प्रत्यय।

पूर्वस्वर दीर्घत्व के साथ : नीसावँण्ण; आकारांत पुं. षष्ठी एकवचन का 'आसु' प्रत्यय, भविष्य का 'इस्' प्रत्यय; 'साव'।

अपभ्रंश का यह चलन आधुनिकता का द्योतक था।

छन्दविषयक परिवर्तन

अद्धिन्न, विन्नासिअ, प्फल, उद्धब्भुअ; कि, करँत, तँ; कँइ (काइँ के स्थान पर) आदि के प्रयोग छन्दोमूलक हैं। टिप्पणी में कुछेक स्थानों पर इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आख्यातिक धातु के अंग के प्रकार

अपभ्रंश में आख्यातिक रूप आख्यातिक अंग और प्रत्ययों से बना है। आख्यातिक अंग (1) आख्यातिक धातुमूलक (2) यौगिक या (3) संज्ञामूलक होता है।

यौगिक-(क) उपसर्ग और आख्यातिक धातु के संयोगवाले :

अणुहर_, पवस_, पडिपेक्ख्, परिहर_, विहस_ (तथा निज्जि, पब्भस_, पसर_, विछोड्, विणड्, विणिग्गव_, विन्नास_, संपड्, संपेस_, संवल_ आदि।)

(ख) नामादि और आख्यातिक धातु ('कर_, 'हो') के संयोगवाले : बलिकर_ (वसिकर_), खसप्फसिहो, चुण्णीहो, लहुईहो।

संज्ञामूलक अर्थात् जो मूलतः संज्ञा या विशेषण हों ऐसा : तिक्ख_, पल्लव_, मउलिअ, घणा।

आख्यातिक धातुमूलक : शेष : कर_, आव_, मर_, लह_, मिल_, पड्, जा, खा, दे, हो, मुअ इत्यादि।

इन मौलिक अंगों पर से अंगसाधक प्रत्यय आदि द्वारा निम्नलिखित अंग सिद्ध हुए हैं :

प्रेरक अंग-प्रत्ययसाधित प्रकार :

'आव_' प्रत्ययवाले : उठाव_, कराव_, घडाव_, नच्चाव_, पठाव_, हराव_।

'अव_' प्रत्ययवाले : उल्हव_, ठव_, विणिग्गव_।

(दोनों प्रत्यय मूलतः संस्कृत के 'आप्_' प्रत्यय से हुए हैं।)

—विकारसाधित प्रकार :

केवल स्वरविकारवाले : (अ>आ) पाड्, बाल_, मार_, वाल_, वाह_, विन्नास_; (ऊ>ओ) तोस_।

स्वर तथा व्यंजन दोनों के विकारवाले : फेड्, (मूल 'फिट्_'), विछोड् (मूल 'विछुट्_'), फोड् (मूल 'फुट्ट्')।

कर्मणि अंग : प्रत्ययसाधित प्रकार :

'इअ' प्रत्ययवाले : आण_, जाण_, पाव_, बोल्ल_, माण_, वण्ण_, पठाव_।

'(इ)ज्ज_' प्रत्ययवाले : कंप_, गिल_, चंप_, छोल्ल_, दंस_ फुक्क्, मिल_, लज्ज_, विणड्, सुमर_, जा, जो, कि, छि, दि, पि : ('ज्ज_' प्रत्ययवाले) खा। (दोनों प्रत्यय मूल में संस्कृत कर्मणि के 'य' में से हुए हैं।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध प्रकार : (सीधे संस्कृत कर्मणि अंग का ध्वनिपरिवर्तित रूप) : वेप्प्_, डज्झ्_, लब्भ्_, समप्प्_ ।

कर्मणि अंग मौलिक अथवा प्रेरक अंग पर से सिद्ध होता है ।

भविष्य अंग–'ईस्_' ('एस्_', 'इस्_'), 'स्_' (स्वरांत के बाद) प्रत्यय वाले: करीस्_, पइसीस्_, पावीस्_, बुड्डीस्_ कीस्_, सहेस्_; फुट्टिस्_, होइस्_, एस्_, होस्_ ।

'इह्_' या 'ह्_' (स्वरांत के बाद) वाले : गमिह्_, होह्_ ।

(भविष्य के अंगसाधक प्रत्यय संस्कृत '(इ)ष्य्_' में से आये हैं । भविष्य आज्ञार्थ अंग–'एज्ज्_' ('इज्ज्_') या 'ज्ज्_' (स्वरांत के बाद) प्रत्यय वाले : रक्खेज्ज्_, लज्जेज्ज्_, चइज्ज्_, दिज्ज्_, भमिज्ज्_, होज्ज्_ ।

(अंगसाधक प्रत्यय विध्यर्थ के 'एय' में से आये हैं ।)

संयोजक स्वर

कुछ रूपों में अंग और रूपसाधक प्रत्यय संन्निकट हो, तो कुछ में उनके बीच संयोजक स्वर है । (1) स्वरांत अंगों के बाद, (2) आज्ञार्थ द्वितीय पुरुष एकवचन के स्वरादि प्रत्ययों के पहले और (3) भविष्यकाल के प्रथम पुरुष एकवचन के प्रत्यय के पहले संयोजक स्वर नहीं है । अन्यत्र है ।

संयोजक स्वर बहुधा 'अ', तो क्वचित् 'आ', 'इ', 'ॲ' या 'ॲ' है ।

काल

निदेशार्थ में (1) वर्तमानकाल और (2) भविष्य, तथा आज्ञार्थ में (3) वर्तमान और (4) भविष्य–इतने रूप हैं । यह रूप कर्तरि तथा कर्मणि प्रयोग के मौलिक तथा प्रेरक अंग पर से सिद्ध हुए हैं । भविष्य के लिये विशिष्ट अंग है । हेमचन्द्र द्वारा दिये गये उदाहरण स्वरूप तथा प्रमाण की दृष्टि से सीमित होने के कारण इनमें कुछ ही रूप प्रकार के नमूने हैं ।

इनके अलावा अन्य भाव उक्त काल के रूपों द्वारा, कृदंत द्वारा या अन्य किसी प्रकार से व्यक्त हुए हैं । उनके लिये विशिष्ट रूप नहीं है ।

निर्देशार्थ वर्तमान

संयोजक स्वर : व्यंजनांत अंग और प्रत्यय के बीच संयोजक 'अ' होता है । छन्द के कारण प्रयुक्त पूर्वभूमिका के कुछ रूपों में संयोजक 'ए' या 'आ' है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यय और रूप : लाक्षणिक अपभ्रंश के रूपों के अतिरिक्त क्वचित् पूर्व-भूमिका के (प्रायः छन्द, प्रास आदि के कारण) तो क्वचित् विशेष विकसित भूमिका के रूप भी प्रयुक्त हुए हैं । ऐसे 'संधियुग' के रूप और प्रत्यय कोष्ठक में रखे गये हैं ।

प्रथम पु. एकव. :	उ	करउँ
,, ,, बहुव. :	हुँ	लहहुँ, जाहुँ, (चडाहुँ)
द्वितीय पु. एकव. :	हि, (सि)	मरहि, रुअहि, जाहि, (रच्चसि)
,, ,, बहुव. :	हु, (ह)	इच्छहु, (इच्छह)
तृतीय पु. एकव. :	इ, (दि)	करइ, पिअइ, जाइ, (करेइ), (कोलदि, जोएदि)
,, ,, बहुव. :	हिँ, ('न्ति' = अनुस्वार + 'ति') :	करहिँ, सुअहिँ, लेहिँ गणंति, देंति, जंति

इसी प्रकार अन्य रूप निम्नलिखित अंगो पर से सिद्ध हुए हैं :

प्रथम पु. एक व. : कड्ढ_, जाण_, झिज्ज_, देक्ख_; (कर्मणि) किज्ज_, जोइज्ज_

,, ,, बहु व. : ('आ' संयोजकवाले) मरा, वला ।

द्वितीय पु. एक व. : आव_, गज्ज_, नीसर_, लह्, विसर_

,, ,, बहु व. : ('ह' प्रत्ययवाले) जाण_, पुच्छ् ।

तृतीय पु. एक व. : आव_, उत्तर_, उम्मिल्ल्, कह्, खंड्, गण_, गोव_, घल्ल्, तडप्फड्, देक्ख_, घर_, निव्व_, पडिपेक्ख_, परिहर_, पयट्ट्, पयास्, फिट्ट्, मिल_, रुच्च_, लह्_, विस्र_; (स्वरांत अंग) चेअ, पिअ, खा, जा, दा, घा, मा पडिहा, अणुणे, ए, दे, हो, (प्रेरक अंग) मार_, वाल_, फेड_, ठव_, उल्लव_, (कर्मणि अंग) आणिअ, जाणिअ, बोल्लिअ, पालिअ, माणिअ, वण्णिअ, कप्पिज्ज_, गिलिज्ज_, चंपिज्ज_, जाइज्ज_, मिलिज्ज_, रूसिज्ज_, विणडिज्ज_, सुमरिज्ज_, खज्ज_, किज्ज_, छिज्ज_, पिज्ज_, घेप्पू, डज्झ_, लब्भ_, (प्रेरक कर्मणि), पठाविअ; ('ए' संयोजकवाले) करे, तक्के, तिक्खे, थक्के, घरे, मारे, वज्जे, संमाणे, सिक्खे ।

तृतीय पु. बहु व. : ('हिँ' प्रत्ययवाले) हर_, घर_, नव_, पड_, पराव_, लह_, सह_, सुक्क्, मउलिअ, (कर्मणि) दिज्ज_, ('न्ति' प्रत्ययवाले) गृह_, भुंज_, मह_, लह_, वस_, विहस_, खा, जा था, दे, हो, (प्रेरक) फोड_ (कर्मणि) घेप्प_ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'करउँ' पर से 'करुँ' और हकार लुप्त होने पर 'करहिँ' पर से 'करे', 'करहु' पर से 'करो', और 'करहिँ' पर से 'करे' ऐसे आधुनिक रूप बने हैं ।

निर्देशार्थ भविष्य

भविष्य–अंग + (संयोजक स्वर) + प्रत्यय = भविष्य रूप ।

प्रथम पु. एक व. के रुप में संयोजक स्वर नहीं है । तृतीय पु. एक व. में क्वचित् 'इ' संयोजक है ।

प्रथम पु. एक व. : 'उ' (अंग साधक 'इस्') : करीसु, पावीसु, बुड्डीसु, (कर्मणि) बलिक्कीसु; (अंग साधक 'एस्') : रूसेसु; (अंग साधक 'इस्') : फुट्टिसु ।

द्वितीय पु. एक व. : 'हि' (अंगसाधक 'एस्') : सहेसहि ।

तृतीय पु. एक व. : 'इ' (अंगसाधक 'इस्') : चुण्णीहोइसइ; (संयोजक 'इ') ऐसी, (अंगसाधक 'इह्', संयोजक 'इ०') : गमिही; (अंगसाधक 'ह्', संयोजक 'इ') होहिइ ।

तृतीय पु. बहु व. : 'हिँ' (अंगसाधक 'स्') : होसहिँ ।

अन्य रूपों के उदाहरण नहीं है । 'एसी' < 'एसिइ'; 'गमिही' < 'गमिहिइ' इनमें 'इ + इ' = 'ई' यह संधि है ।

हेमचन्द्र 'कीसु' को कर्मणि वर्तमान का रूप मानते हैं (सू. 389) । परंतु कर्मणि अंग 'कि' ('किज्जउँ' आदि में है वह) + भविष्य अंगसाधक 'इस्' + प्रथम पु. एक व. का प्रत्यय 'उ' ऐसा स्पष्ट पृथक्करण किया जा सकता है ।

आज्ञार्थ वर्तमान

स्वर से आरंभ होते प्रत्यय सीधे ही अंग को लगे हैं । व्यंजन से प्रारंभ होते प्रत्यय और व्यंजनांत अंग के बीच संयोजक 'अ' होता है ।

	प्रत्यय	रूप
द्वितीय पु. एक व. :	इ	अच्छि, चरि, जंपि, जोइ, फुट्टि, मेल्लि, रुणझुणि, रोइ, संचि, सुमरि ।
	एँ	करे
	उ	करु, गज्जु, देक्खु, पेक्खु, विलंबु
	अ	पेच्छ, भण
	हि	आणहि, करहि, छड्डहि, धरहि, सुमरहि, खाहि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय पु. बहु व. :	हु	करहु, नमहु, पिअहु, मग्गहु, देहु ।
	ह	पल्लवह, पुच्छह, ब्रुवह
तृतीय पु. एक व. :	उ	अच्छउ, विणडउ, (कर्मणि) समप्पउ, जाउ, होउ ।
तृतीय पु. बहु व. :	न्तु	(= अनुस्वार + 'तु') पीडन्तु ।

इनमें 'अ' (द्वितीय पु. एक व.), 'हि' (द्वितीय पु. एक व.), ह (द्वितीय पु. बहु व.) प्रत्ययवाले रूप प्राकृत में से लिये गये हैं। 'एँ', प्रत्यय 'इ' की पूर्वभूमिका है।

'चरि', 'जोइ' पर से 'चर', 'जो', 'करहु' पर से 'करो' और 'करउ' (तृतीय पु. एक व.) पर से 'करो' ('भगवान आपका भला करो।' जैसे प्रयोगों में)

इस प्रकार आधुनिक रूप बने हैं।

('इ', 'एँ'-संस्कृत विध्यर्थ परस्मै द्वितीय पु. एकवचन के 'ए' प्रत्यय में से, 'उ' < 'अ', 'हु', 'ह' वर्तमान के : 'उ' < 'तु'।)

आज्ञार्थ भविष्य

द्वितीय पु. एक व. :	हि	(अंगसाधक 'ज्ज') : दिज्जहि
,, ,, बहु व. :	हु	(अंगसाधक 'एज्ज') : रक्खेज्जहु

इसके अलावा 'अ' प्रत्ययवाले प्राकृत रूप पुरुष और वचन से निरपेक्ष रूप से प्रयुक्त होते थे। उदारणों में ('इज्ज' अंगसाधकवाले) चइज्ज, भमिज्ज, (द्वितीय पु. एक व.) और ('ज्ज' अंगसाधकवाला) 'होज्ज' (तृतीय पु. एक व.) ऐसे रूप हैं। 'लज्जेज्जं' (प्रथम पु. एक व.) रूप संस्कृत 'लज्जेयम्' (विध्यर्थ प्रथम पु. एक व.) का ही रूपांतर है।

'दिज्जहि' (या 'देज्जहि'), 'रक्खेज्जहु' (या 'रक्खिज्जहु') जैसे रूपों से आधुनिक गुजराती में 'देजे', 'राखजो' जैसे रूप बने हैं।

कृदंत

वर्तमान, कर्मणि भूत, विध्यर्थ और सम्बन्धक भूत या पूर्वकालिक (तथा हेत्वर्थ) ये चार कृदंत हैं।

वर्तमान कृदंत : प्रत्यय 'न्त' (= अनुस्वार + 'त') : व्यंजनांत अंगों के बाद यदि प्रत्यय लगा हो तो वहाँ बीच में संयोजक 'अ' रहता है। कभी-कभी स्वार्थिक 'अ' से विस्तृत हो कर 'न्तय' (संकुचित 'न्ता') रूप में भी यह प्रयुक्त हुआ है। ओलिंग में वही और 'न्ति' का विस्तृत 'न्तिअ' है। छन्दवश क्वचित् अनुस्वार का अनुनासिक हुआ है। आधुनिक वर्तमान कृदंत में अनुनासिकता लुप्त हो कर केवल 'त्' प्रत्यय रहा है। ('करत्' : करता, करती)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदहारण : डज्झंत, दारंत, निवसंत, पवसंत, मेल्लंत, लहंत, वलंत, एंत, देंत, छोल्लिज्जंत, दंसिज्जंत, फुक्किज्जंत, नासंतय, रडंतय, जंतय, होंतय, चिंतंता, नवंता ।

(स्त्रीलिंग) करंत, निअंत, गणंति, दिंति, मेल्लंति, जोअंति, उड्डावंतिअ, लहंतिअ ।

कर्मणि भूत कृदंत : प्रत्यय 'इअ' (क्वचित् 'इद') । कभी-कभी स्वार्थिक 'अ' से विस्तृत होकर 'इअय' (या 'इआ') के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है । तीनों लिंग में समान रूप के प्रत्यय है । प्रत्ययसाधित प्रकार के अलावा कर्मणि भूत कृदंत का अन्य प्रकार है, सिद्ध प्रकार । इसमें सीधे ही संस्कृत कर्मणि 'अनिट्' भूत कृदंत का ध्वनिपरिवर्तित रूप होता है । इसमें अंग और प्रत्यय अलग नहीं हो सकते । इसमें भी कभी कभी स्वार्थिक 'अ' द्वारा विस्तार होता है । स्त्रीलिंग क्वचित् 'इ' (या 'ई'), 'इअ' प्रत्यय से ।

उदाहरण : (प्रत्यय-साधित प्रकार) : 'गलिअ' और इसी प्रकार उल्लाल_, चिंत्_, ठ्ठ, डोह्_, तोस्_, निज्जि, पड्_, पी, बाल्_, भण्_, मिल्_, मुण्_, लिह्_, संपेस्_ संवल्_-इन अंगो पर से; 'घडिअय' और उसी प्रकार उट्ठ्_, चड्_, निवड्_, पसर्_, बोल्ल्_, वाह्_-इन अंगो पर से; 'वारिआ' और उसी प्रकार 'विन्नासिआ', 'मारिआ'; ('इद' प्रत्ययवाले) कधिद, विणिम्मविद, विहिद । (सिद्ध प्रकार) : गय, जाय, निग्गय, मुअ, सुअ, फुट्ट, निवट्ट, इट्ठ, दिट्ठ, पइट्ठ, पब्भट्ठ, दट्ठ, उव्वाण, छिण्ण, विइण्ण, पत्त, समत्त, तित; किअय, मुअय, दिट्ठय, पइट्ठय, बइट्ठय, विणट्ठय; जुत्तय, विढत्तय, वुन्नय, मुआ, हुआ, भग्गा, तुट्टा, पलुट्टा, दड्ढा, दिण्णा, उव्वत्ता, आगद, गद, किद ।

(स्त्रीलिंग) पइट्ठि, दिट्ठि, रुट्ठि, दिण्णी, रुद्धी, गइअ, मुइअ, रत्तिअ ।

विध्यर्थ कृदंत : प्रत्यय 'एव्वय', 'एवा' या 'एवं' । कुछ रूपों में संयोजक स्वर 'इ' है । कुछ में संयोजक स्वर नहीं है ।

उदाहरण : सहेव्वय, करिएव्वय, मरिएव्वय; जग्गेवा, सोएवा; देवं ।

हेमचन्द्र 'देवं' को हेत्वर्थ कृदन्त का रूप मानते हैं परंतु यह विध्यर्थ कृदन्त लगता है ।

संबंधक भूत कृदंत : प्रत्यय 'वि', 'प्पि', 'विणु', 'प्पिणु', 'इ', 'इउ' । व्यंजन से आरंभ होते प्रत्यय के पहले संयोजक स्वर 'इ', 'ए' या 'अ' ।

(सोपसर्ग धातु को संस्कृत में लगते संबंधक भूतकृदंत के 'य' प्रत्यय में से 'इ' और विश्लेष द्वारा 'इउ' अथवा तो प्राकृत 'तूर्ण' पर से '(इ)उण' और फिर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'इउँ' < 'इउ' तथा वैदिक प्रत्यय 'त्वी' और 'त्वीनम्' में से शेष प्रत्यय विकसित हुए होंगे ।)

उदाहरण : 'वि'–चुंबिवि, देक्खिवि, बुड्डिवि, लग्गिवि, झाइवि, लाइवि, करेवि, बालेवि, पिक्खेवि, लेवि; फिट्टवि, मेलवि, मेल्लवि, विछोडवि ।

'प्पि'–गमेप्पि, जिणेप्पि, गंपि, जेप्पि ।

'विणु'–छड्डेविणु, झाऐविणु, पेक्खेविणु, लेविणु ।

'प्पिणु'–करेप्पिणु, गमेप्पिणु, गृण्हेप्पिणु, चएप्पिणु, मेल्लेप्पिणु, गंपिणु, देप्पिणु, लेप्पिणु,

'इ'–करि, जोइ, मारि ।

इसके अलावा 'इउ' प्रत्यय भी है, और हेमचन्द्र ने उसका उल्लेख किया है । परंतु इसके उदाहरण के रूप में दिया गया रूप अन्य प्रकार से भी समझाया जा सकता है (देखिये 395/5 विषयक टिप्पण) । परंतु अन्यत्र 'इउ' वाले सम्बन्धक भूत-कृदंत के रूप मिलते हैं । 'इ' वाले रूपों में से आधुनिक हिंदी के रूप ('कर के', 'बोल कर') और 'इउ' वाले रूपों में से आधुनिक गुजराती के रूप ('करी', 'बोली-ने') विकसित हुए हैं ।

वैकल्पिक 'गंपि', 'गंपिणु' में व्यंजनादि प्रत्यय होने बावजुद संयोजक स्वर नहीं है ।

'चएप्पिणु', 'पालेवि' और 'लेविणु'–इन्हें हेमचन्द्र ने हेत्वर्थ के रूप माने हैं । (देखिये सू. 441 विषयक वृत्ति तथा दूसरा उदाहरण) । परंतु इन रूपों को सं. भू. कृ. के रूपों से भिन्न मानने की आवश्यकता नहीं है । आधुनिक हिन्दी, गुजराती आदि की भाँति अपभ्रंश में भी शक् के साथ सं. भू. कृ. का रूप प्रयुक्त होता था यह मानना ही युक्तियुक्त है । परंतु अन्यत्र देखा गया है कि 'वि', 'प्पि', 'विणु' और 'प्पिणु' प्रत्यय हेत्वर्थ कृदंत के लिये प्रयुक्त किये गये हैं ।

इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र ने 'एवं', 'अण', 'अणहँ' और 'अणहिँ' आदि प्रत्ययों को भी हेत्वर्थ के प्रत्यय माना है । (सू. 441 और वृत्ति) । परंतु 'एवं' मूलतः विध्यर्थ कृदंत का प्रत्यय है और अन्य क्रियावाचक 'ण' प्रत्यय ('करण' आदि में जो है वह) तथा उसके कारक रूप हैं, और हेत्वर्थ कृदंत के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं । 'ण' वाले रूपों पर से मारवाडी का 'करणो', हिंदी 'करना', मराठी 'करणे' आदि प्रकार के सामान्य कृदंत विकसित हुए हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. शब्दसिद्धि

इस विभाग के अंतर्गत मुख्यतः नामिक अंग सिद्ध करते कृत् और तद्धित प्रत्यय अलग से दिये गये हैं ।

कृत्-प्रत्यय

आख्यातिक अंग को कृत्-प्रत्यय लगने पर संज्ञा या विशेषण बनता है । सारे कृत्-प्रत्यय परवर्ती प्रत्यय हैं और ये इस प्रकार हैं :

'अ' यह प्रत्यय क्रियावचक संज्ञा सिद्ध करता है । स्त्रीलिंग में 'अ' के स्थान पर 'ई' ('इ') भी होता है ।

उदाहरण : (पुं, न) घुंट, चूर, वंच, सिक्ख । (स्त्री.) उट्ठ०, घत्त, घर, बईस, मब्भीस-डी, सुहच्छ-डी (सुहच्छिअ) । अंतिम दो उदाहरणों में स्वार्थिक 'ड' और 'अ' प्रत्यय भी है ।

'दूर' तात्छील्यवाचक : °जंपिर, भमिर ।

'उअ' कर्तृवाचक : पवासुअ ।

'ण' (अंग और प्रत्यय के बीच संयोजक 'अ' होता है) :

क्रियावाचक : °अब्भत्थण, अत्थमण, असण, अंबण, आलवण, एच्छण, करण, गिलण, निवडण, परिहण, सुमरण, अकूखण ।

कर्तृवाचक : °अब्भुद्धरण, मग्गण ।

तात्छील्यवाचक : (स्वार्थिक 'अ' के साथ) फुट्टणय, बोल्लणय, भसणय, मारणय, रूसणय ।

तद्धित प्रत्यय

'गर' प्रत्यय :

(क) विशेषण-साधक : (1) संज्ञा से विशेषण (स्वामित्व वाचक) 'आय' : पराय; 'ईक' : बप्पीकी (स्त्री.); (मत्वर्थीय) 'आल' : मुंजाल; : 'मा' : वज्जमा ।

(2) विशेषण से विशेषण-(अधिकतावाचक) 'यर' : तुच्छयर ।

(3) सर्वनाम से विशेषण-स्वामित्ववाचक 'आर' (स्वार्थिक 'अ' के साथ) : महारय, तुहारय, अम्हारयए, तुम्हारय; (सादृश्यवाचक) 'ह' (अकेला या स्वार्थिक 'अ' के साथ) : जेहय, तेहय, केहय; 'इस' : अइस, जइस, तइस, कइस; 'त्तुल'(इयत्तावाचक) : ए-त्तुल, के-त्तुल, जे-त्तुल, ते-त्तुल; 'वड' (महत्तावाचक) एवड, जेवड, तेवड, केवड ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(4) संज्ञा–साधक : विशेषण या संज्ञा से भाववाचक संज्ञा : 'इम' : गहीरिम, वंकिम, सरिसिम, मुणीसिम; 'त्तण' (विकल्प में 'अ' द्वारा विस्तरण) : उण्हत्तण, तुंगत्तण, वड्डुत्तण; थिरत्तणय, वड्डुत्तणय; पत्तत्तण, 'तिलत्तण; 'प्पण'–वड्डुप्पण । पुंल्लिंग पर से स्त्रीलिंग संज्ञा–'इ' (स्वार्थिक प्रत्यय 'अ' से विस्तृत 'इअ' या 'ई') विशेषण के साथ (चंपावण्णी, गोरि, कुमारी, तइज्जी, वंकी, सकण्णी); कृदंत के साथ (दिण्णी, रुट्ठी, गइअ, मुइअ, जोअंति, गणंति; 'उड्डावंतिअ' में प्रत्यय को 'इअ' लगा है ।

(ग) क्रियाविशेषण–साधक : सर्वनाम से क्रिया विशेषण–(रीतिवाचक) 'म' (या 'वँ') : एम (एवँ) इम, जेवँ, जिवँ, तेवँ, तिवँ, केम (केवँ), किवँ; 'ह' : जिह, तिह, किह; 'ध' : जिध, तिध; (स्थलवाचक) 'त्थ' : एत्थु, जेत्थु, तेत्थु, केत्थु; 'त्त' : जत्त, तत्त; (सीमावाचक) 'म' : जाम; ताम; 'उँ' : जाउँ; 'महिँ' : जामहिँ, तामहिँ ।

(घ) स्वार्थिक : 'अ' (स्त्री. 'इअ') बहुत ही व्यापक है । निम्नलिखित अंगों को लगे हैं :

विशेषण–अग्गल, अपूर, उज्जु, उण्ह, गरु, तुच्छ, निअ, बहु, वहिल्ल, अप्पण, इत्त, जेह, तेह, तेवड्ड, महार, केर, तण; कृदंत–प्रत्यय : वर्तमान का '°न्त', भूतकृदंत का '°इअ', विध्यर्थ कृदंत का 'एव्व', तात्छिल्यवाचक '°ण' ।

सर्वनाम : अप्प, एक्कमेक्क ।

संज्ञा : अग्ग, अग्गिट्ठ, अंधार, कसवट्ट, कुडीर, कुडुंब, दडवड, द्रवक्क, पंगण, भंड, माह, रूअ, वेरिअ ।

प्रत्यय : '°ड', '°त्तण' ।

स्त्रीलिंग : अइरत्तिअ, कणिअ, गोरिअ, मुणालिअ, मुंडमालिअ, सहिअ; (भूतकृदंत) गइअ, मुइअ; वर्तमान कृदंत का 'न्तिअ' प्रत्यय ।

'इअ' : अवराहिअ ।

'उअ' : बहिणुअ (स्त्री.)

'उड' ('अ' से विस्तारित) : बप्पुडय, वंकुडय ।

'उल्ल' ('अ' से विस्तारित) : कुडुल्ली (स्त्री.) चूडुल्लय

'बलुल्लडय' में 'उल्ल' + '°ड' + अ' साथ में हैं ।

'ड' : स्वार्थिक 'अ' के साथ जुड़कर इस प्रत्यय बहुतायत से 'डय' (या 'डा') के रूप में मिलता है । स्त्रीलिंग 'ड', 'डिय' (प्राकृत 'डिया') या 'डी' । निम्नलिखित अंगों में यह लगा है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कन्न, गोट्ठ, दिअह, दूअ, देस, नेह, पच्छायाव, पारक्क, मणिअ, भित्त, मोक्कल, रन्न, रूअ, संदेस, हत्थ, हिअ, हुंकार, (स्त्रीलिंग) अम्म, अन्त, गोर, धूलि, निद्द, परिहास, बुद्धि, भ्रंति, मब्भीस, मुद्ध, रत्ति, वत्त, सुहच्छि । इसमें 'मणिअडां' में 'अड्डय' प्रत्यय है । 'बलुल्लडा' में 'ºउल्लडय' ।

पूर्ववर्ती प्रत्यय :

अ : नञर्थकः : अगलिअ, अचिंतिअ, अडोहिअ, अप्पिअ, अलहंतिअ ।

स : सहार्थक : सकण्ण, सरोस, सलज्ज, ससणेही ।

सु : प्राशस्त्यवाचक : सुअण, सुपुरिस, सुभिच्च, सुवंस ।

लिंगपरिवर्तन

तद्भवों का जो लिंग मूल संस्कृत में था वह प्राकृत में और विशेष कर के अपभ्रंश में बदलता रहा है । इसमें मुख्यतः अंत्य स्वर का सादृश्य या पर्याय का प्रभाव कारणरूप होता है । 445 वें सूत्र में हेमचन्द्र ने लिंगपरिवर्तन का उल्लेख किया है । वहाँ पुंल्लिंग का नपुं. ('कुंभइँ'), नपुं. का पुंल्लिंग ('अम्भा लग्गा'), नपुं. का स्त्रीलिंग ('अंत्रडी') और स्त्रीलिंग का नपुं. ('डालइँ')–आदि उदाहरण दिये गये हैं । 'तेवड्डुउँ' (371), 'खलाइँ' (334) में पुंल्लिंग के स्थान पर नपुंसकलिंग, 'सोएवा', 'लग्गेवा', 'वारिआ' (438.3) में, तथा 'फल', 'लिहिआ' (335), 'नयण' (422-6), 'वड्डा' (364) आदि में नपुं. के स्थान पर पुंल्लिंग रूप है । 'झुणि' (432) अंत्य स्वर के कारण स्त्रीलिंग हुआ हैं । हिन्दी में पुंल्लिंग–नपुंसकलिंग का भेद लुप्त हो गया है । और हिन्दी तथा गुजराती के अनेक तद्भवों के लिंग मूल संस्कृत से भिन्न है । आगे चलकर स्त्रीलिंग लघुता का वाचक बन गया है । उसका आरंभ 'अंत्रडी' (= छोटी आँत) जैसों में देखा जा सकता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. संज्ञा का रूपतंत्र

प्रथम और द्वितीय पुरुष सर्वनामों को छोड़कर अन्य सर्वनामों के रूपाख्यान भी किसी अपवाद से ही संज्ञा के रूपाख्यान जैसे ही है । इसलिये संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम सब के रूपाख्यान का इसी विभाग में निरूपण किया है ।

अकारान्त पुंल्लिंग

1.2.1. 'उ' प्रत्यय : अहरु (अहर–), संकरु (संकर–), निग्गउ (निग्गय–); घडिअउ (घडिअय–); इसी प्रकार माण, विहाण, लक्ख, मिलिअ, पच, कमल, तण, सायर, जुत्तय, जय, सन्न, चूर, घाय, कंत आदि पर से । 'आ' प्रत्यय : अम्हारा, कंचुआ, गरुआ; झुंपडा, ढोल्ला, दड्ढा, महारा, मारिआ, वड्डा, वारिआ, वेग्गला, सामला, सीअला, हुआ ।

1.2.2. अप्रत्यय : खग्ग, पल्लव, गुण, कर, विसम, थण, देस, फुट्ट, सम, घर, मणोरह, भोग ।

'आ' प्रत्यय : अद्धा, अप्पणा, गोट्ठडा, घणा, घोडा, चडिआ, जाया, तणा, दिअहा, दिअहडा, दिट्ठा, दिण्णा, निसिआ, पयडा, मुआ, वरया, रक्खणा, संता, सिद्धत्था ।

3.1. 'एं' प्रत्यय : अण्णें, अहरें, °उड्डाणें, कज्जें, °कूखेवें, तें, दइअें, दइवें, मच्छें, वाएं, हत्थें; केर–एँ, किएँ, संदेसें, हुंकारडएँ ।

'इ' प्रत्यय : निच्छइ (358.1).

'एण' ('एँण', 'इण') प्रत्यय : खणेण । इसी प्रकार कवण, जण, नह, पवसंत, फुट्टणअ, मोक्कलड, वास, सय, सिर इन अंगों से । :
कोड्डेँण, तुहारेँण, पाणिएँण : खग्गिण, वसिण, सरिण ।
'इ' प्रत्यय । जलि (382.2), कमलि (395.1), 'जलि', 'वल्लइइ' (383.1).

3.2. 'एहिँ' ('इहिँ', 'एँहिँ') प्रत्यय : चलेहिँ, पयारेहिँ, लकूखेहिँ, लोअणेहिँ, सअेहिँ, सरवरेहिँ, अत्थिहिँ, सत्थिहिँ, हत्थिहिँ, कसरेहिँ, कसरकूकेहिँ, घुंटेहिँ, नयणेहिँ, वणेहिँ, सरेहिँ, सुअणेहिँ;
'हिँ' प्रत्यय : अंगहिँ, करहिँ, केसहिँ, गुणहिँ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5.1. 'हे ँ' प्रत्यय : 'वच्छहे ँ'; 'हु' प्रत्यय : 'वच्छहु', '॰जलहु' ।

5.2. 'हुँ' प्रत्यय : मुहहुँ, सिंगहुँ ।

4.6./1. 'हो ँ' प्रत्यय : अप्पहो ँ, आयहो ँ, कलेवरहो ँ, तहो ँ, दुल्लहहो ँ, लोअहो ँ, सामिअहो ँ, सेसहो ँ ।
'स्सु' प्रत्यय : कंतुस्सु ('कंत' पर से) और उसी प्रकार खंध, जग, जय, तत्त, पर, पिअ, सुअण—इन अंगों पर से ।
अप्रत्यय : पिअ (?) (332.2).

4.6./2. 'हँ' प्रत्यय : तणहँ ('तण' पर से); और उसी प्रकार से अन्न, चत्तंकुस, थण, मत्त, मयगल, माणुस, लोअण, समत्त, सोकूख इन अंगों पर से ।
'आहँ' प्रत्यय : चिंतंताहँ, नवंताहँ, निवट्टाहँ, मुक्काहँ, सउणाहँ ।
अप्रत्यय : गय (?) (345)

7.1. 'इ' प्रत्यय : उच्छंगि, करि, ॰खंभि, ॰जुगि, तलि, ॰निवहि, ॰पत्थरि, ॰पंकइ, ॰यडि, रहवरि, वणि, विओइ, विच्चि, हिअइ; अंधारइ, कसवट्टइ, कुडीरइ, तेहइ, दिट्ठइ, पणट्ठइ, निवडिअइ, रण्णडइ । 'ऍ' ('ए') प्रत्यय : अग्गिऍ, तले ँ, त्थले ँ, पिऍ, विहवे ँ; दिट्ठे (396) । दूरे (349.1), भुवणे (441.2), मज्झे (406.3); 'हि ँ' प्रत्यय : ॰घरहि ँ (422.15), देसहि ँ (381.1), अन्नहि ँ, एक्कहि, कवणहि ँ, कहि ँ, जहि ँ, तहि ँ ।

7.2. 'एहि ँ' ('इहि ँ', 'ऍहि ँ') प्रत्यय । मग्गेहि ँ, डुंगरेहि ँ, अंगहि ँ, गवक्खेहि ँ ।

8.1. 'अ' प्रत्यय : खल, मेह, पिअ, भमर, सारस ।
'आ' प्रत्यय : ढोल्ला, पहिआ, मित्तडा, हिअडा, हिआ ।

8.2. 'हो ँ' प्रत्यय : तरुणहो ँ, लोअहो ँ ।

अकारान्त नपुंसकलिंग

प्रथमा-द्वितीया के सिवा पुंल्लिंग से अलग प्रत्यय नहीं है । प्र. द्वि. एक व. में भी जहाँ सादा अंग है वहाँ जो पुल्लिंग में है वही प्रत्यय है । परंतु स्वार्थिक 'अ' प्रत्ययवाला अंग हों तब विकल्प में 'उँ' प्रत्यय लगा है । बहुवचन में भी पुंल्लिंग की भाँति बनते रूप के अलावा 'इँ' प्रत्ययवाले रूप भी है । 'इँ' के पूर्ववर्ती 'अ' के विकल्प में 'आ' होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1/2. एकवचन : 'अग्गउँ' और उसी प्रकार निम्नलिखित अंगों में से अप्पणय, उप्पय, एक्कमेक्कय, एहय, किअय, कुडुंबय, °छंदय, तणय, तुच्छय, तेवड्डय, थिरत्तणय, दिट्ठय, पसरिअय, बोल्लिअय, भग्गय, वल्लहय, विदत्तय, वुत्तय, हिअय, हिअडय ।

'वारिआ', 'जग्गेवा', 'सोअेवा' पुंल्लिंग अनुसार है । 'संवलिअ' प्राकृत रूप है ।

1/2. बहुवचन : 'कमलइँ' और उसी प्रकार निम्नलिखित अंगों पर से : अलि·उल, कुंभ, खंड, डंबर, निच्चिंत, पन्न, फल, मणोरह, लोअण, सर; 'फलाइँ' और उसी प्रकार निम्नलिखित अंगों पर से : खल, °गंड, रयण, वड्ड, वलण, विगुत्त, सय, हरिण ।

'फल', 'नयण' आदि तथा 'लिहिआ' 'वड्डा' आदि पुंल्लिंग की भाँति ।

इकारान्त/उकारान्त पुंल्लिंग नाम

1/2.1. और 2. अप्रत्ययः सामि, केसरि, मुणि, कडु ।

3.1. 'एँ' प्रत्यय : अग्गिएँ; 'ण' प्रत्यय : अग्गिण; अनुस्वार : 'अग्गि' 'संतें' (441.2) में प्रत्यय से लगने से पहले अंग का अंत्य स्वर लुप्त हुआ है ।

3.2. 'हिँ' प्रत्यय : बिहिँ ।

4.1. 'हे' प्रत्यय : गिरिहे, तरुहे ।

4.2. 'हुँ' प्रत्यय : सामिहुँ, तरुहुँ ।

4/6.2. 'हुँ' प्रत्यय : तरुहुँ, सउणिहुँ ।

7.1. 'हिँ' प्रत्यय : तिहिँ; 'हुँ' प्रत्यय : दुहुँ ।

स्त्रीलिंग

1.2.1. अप्रत्यय : घण, रेह, मुद्ध, सिल, भल्लि, कित्ति, पइट्ठ, दिण्णी, वंकी ।

1.2.2. अप्रत्यय : उदाहृत पद्यों में आता नहीं है, अन्यत्र मिलता है ।

'उ' (या 'ओ') प्रत्यय : जज्जरिआउ, जज्जरिआओ, अंगुलिउ, घुग्घिउ, सल्लइउ, विलासिणीओ, 'भज्जिउ' में पूर्ववर्ती 'अ' लुप्त हुआ है ।

3.1. 'एँ' प्रत्यय : चंदिमएँ, जाइट्ठिअएँ, निद्दएँ, कंतिएँ ।

3.2, 'हिँ' प्रत्यय : दितिहिँ, सरिहिँ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5.1. 'हे ँ' प्रत्यय : बालहे ँ

5.2. 'हुँ' प्रत्यय : वयंसिअहुँ ।

4/6 1. 'हे ँ' प्रत्यय : अलहंतिअहे ँ, °जंपिरहे ँ, तहे ँ, तिसहे ँ, घणहे ँ, मज्झहे ँ, मुद्धडहे ँ, °हासहे ँ; जोअंतिहे ँ, मेल्लंतिहे ँ, रोमावलिहे ँ; कंगुहे ँ; गणंतिएँ (333) प्राकृत है ।

4/6,2. 'हु' प्रत्यय : वयंसिअहु; 'हँ' प्रत्यय : मायहँ ।

7.1. 'हि ँ' प्रत्यय : एक्कहि ँ, उज्जेणिहि ँ, वाराणसिहि ँ, सल्लइहि ँ, संधिहि ँ; इहि ँ; 'हि' प्रत्यय : महिहि ।

7.2. 'हि ँ' प्रत्यय : दिसिहि ँ ।

8.1. अप्रत्यय : दूइ, घणि, पुत्ति, बहिणि, सहि, गोरि; 'एँ' प्रत्यय : अम्मिएँ, बहिणुएँ, बिट्टीए; 'ई' प्रत्यय : अम्मि, मुद्धि ।

8.2 'हों' प्रत्यय : तरुणिहों.

संबोधन एकवचन का 'ए' 'बिट्टीए' में छंद के कारण दीर्घ किया गया है ।

प्रथम और द्वितीय पुरुष सर्वनाम

	एकवचन		बहुवचन	
	प्रथम पुरुष	द्वितीय पुरुष	प्रथम पुरुष	द्वितीय पुरुष
1.	हउँ	तुहुँ	अम्हे, अम्हइँ,	तुम्हे, तुम्हइँ
2.	मइँ	तइँ, पइँ	,, ,,	,, ,,
3.	,,	,, ,,	अम्हेहि ँ	तुम्हेहि ँ
4/5/6.	महु, मज्झु,	तुह, तउ तुज्झ, तुघ	अम्हाहँ	तुम्हहँ
7.	मइँ	तइँ, पइँ	अम्हासु	तुम्हासु

छन्द के कारण 'अम्हहँ' का 'अम्हाहँ' हुआ है ।

अन्य विशिष्ट सार्वनामिक रूप

प्रथमा/द्वितीया		प्रत्यय	अंग	रूप
			ज; त (नपुं.)	ध्रुं त्रं
,,	,, बहु व.	ए (अ, इ)	त; ए, ओ ।	ते, ते, ति; एइ, ओइ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचमी एक व.	हाँ	ज, त, क	जहाँ, तहाँ, कहाँ
सप्तमी	हिँ	ज, त, क, अन्न एक्क	जहिँ, तहिँ, कहिँ अन्नहिँ, एक्कहिँ ।

'ए' का पुं. 1/2 एक व, में 'एहो'; नपुं. 1/2 एक व. में 'एउ' और षष्ठी एक व. में 'आ' अंगस्वरवाले 'जासु', 'तासु', 'कासु' ऐसे रूप होते हैं । इसके साथ-साथ प्राकृत के समय से प्रचलित रूपों का प्रयोग भी होता है । स्त्रीलिंग अंग अकारांत या आकारांत होते है-'ज', 'जा', 'त', 'ता' इत्यादि ।

परसर्ग

विभक्ति-प्रत्यय से सूचित अर्थसम्बन्ध का कोई छायाविशेष अथवा तो भिन्न ही अर्थसम्बन्ध सूचित करने के लिये संस्कृत में कुछ निश्चित खास रूप प्रयुक्त होते थे । ऐसे रूपों का प्रयोग मध्यम भारतीय-आर्य भूमिका में बढ़ता गया । अर्थ की दृष्टि से ऐसे शब्द अपने मूल अर्थ से हटते गये और व्यक्तित्व की दृष्टि से अन्य शब्दों के प्रभाव के कारण गौण बनते गये । धीरे धीरे विभक्ति-प्रत्ययों का कार्य और स्थान ये परसर्ग लेते गये । भिन्न-भिन्न विभक्तिओं के अलग-अलग प्रत्यय ध्वनि-परिवर्तन के परिणाम रूप एकात्मक बनने लगे, तो अर्थसम्बन्धी उलझने होने लगी । ऐसे में इन उलझनों से रास्ता निकालने के लिये परसर्गों का प्रयोग बढ़ता गया । प्राकृत की तुलना में अपभ्रंश में नये नये परसर्गों का चलन हुआ । हेमचन्द्र के उदाहरणों में इसका दोनों ढंग से प्रयोग हुआ है : अंग के साथ समस्त रूप में तथा विभक्तिप्रत्यय के साथ । इसकी सूचि निम्न प्रकार है :

'साथ' के अर्थ में : 'समाणु' (सं. समान; सं. समम् 'साथे' के अनुसार)- (समस्त) 'पयरक्खसमाणु' 418.3 : (तृतीया का योग) 'पुप्फवइहि समाणु' 438.5; सहुँ (= सं. सह) 419.5, 356

'बिन' के अर्थ में : विणु । देखिये शब्दसूचि । तृतीय का योग ।

'में से' के अर्थ में : होंतउ (= 'हो' का वर्त. कृ.)। पंचमी का योग । उदाहरण सूत्र 355, 372 (1), 373 (1), 379 (1) और 380 (1) के नीचे । °ट्ठिउ (सं. स्थित): (समस्त) हिअयट्ठिउ जइ नीसरहि (439.5) = 'जो हृदय में से नीकले' ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अम्हासु ठिअं' (381) और 'तुम्हासु ठिअं' (374)—इसमें 'ठिअं' परसर्ग के रूप में है या 'स्थित' के अर्थ में, यह बिना संदर्भ के निश्चित नहीं हो सकता ।

'के लिये' के अर्थ में : केहिँ (सं. कृते, प्रा. कए, कएहिं), तेहिँ, रेसि, रेसिं (*रेस (?) का तृ. एक व.) और 'तणेण' (तन > तण का तृ. एक व.) : षष्ठी के योग से। देखिये सूत्र 425.

'संबंधी' के अर्थ में : केरउ (नपुं. केरउँ, स्त्री. केरी, सं. कार्य (?)) और 'तणउ' (न. तणउँ, स्त्री. तणी; सं. तन (?) : षष्ठी के योग से । देखिये सूत्र 422 (20, 21) तथा 361 (1) 373 (2) 379 (4) । आधुनिक गुजराती काव्यभाषा में 'केरु', 'तणु' जीवंत है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. प्रयोग

1. वर्तमान कृदंत प्रथमा एकवचन का रूप क्रियातिपत्यर्थ प्रयुक्त होता है : 'जइ भग्गा घरु एंतु' (351) : 'यदि भागकर घर आता'; 'जइ ससि छोल्लिज्जंतु, तो मुह-कमलि सरिसिम लहंतु (395) : 'यदि चन्द्र को छिला गया होता तो मुखकमल के साथ समानता प्राप्त करता ।'

   वर्तमान कृदंत का ऐसा अर्थ प्राकृत-युग से ही विकसित हो चूका था । हेमचन्द्र ने प्राकृत विभाग में (सूत्र 8.3.180) इसका उल्लेख किया है । आधुनिक हिन्दी, गुजराती आदि में यह प्रयोग जीवंत है ।

2. 'ण' प्रत्यय से सिद्ध क्रियारूप हेत्वर्थ कृदंत के अर्थ में प्रयुक्त होता है । एच्छण 353, करण 441.1.

3. 'व' प्रत्यय से सिद्ध विध्यर्थ कृदंत हेत्वर्थ कृदंत के रूप में प्रयुक्त होते हैं । देवं 441.1.

विभक्तिप्रयोग :

4. तृतीया : निरपेक्ष (absolute) रचना में : 'पुत्तें जाएं कवणु गुणु' (395.6) : 'पुत्र-जन्म से क्या लाभ ?'

   'पुत्तें मुएण कवणु अवगुणु' (395 6) : 'पुत्र के मृत्यु से क्या हानि?' 'पिएँ दिट्ठें सुहच्छडी होइ' (443.2) : 'प्रिय को देखने से जी जुड़ाता है ।'

5. चतुर्थी/षष्ठी ।

   (1) निरपेक्ष रचना में : 'पिअहों परोक्खहों निद्दडी केवँ (417.1) : 'प्रियतम के आँख से दूर होने पर निद्रा कैसी ?'

   (2) वर्तमान कृदंतवाली निरपेक्ष रचना में : 'पिअ जोअंतिहे मुह-कमलु' (332.2) : 'प्रियतम का मुख-कमल देखने पर ।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'एहउ चिंतंताहँ' (362) : 'यह सोचते'। 'जाहँ अवरोप्परु जोअंताहँ (409) 'जिनके परस्पर देखने पर'। 'देंतहों हउँ–उव्वरिय, जुज्झंतहों, करवालु' (379·2) : 'देने पर मैं बची हूँ। युद्ध करते तलवार'।

आधुनिक गुजराती में 'बोलतां, करतां, फरतां' आदि में यह प्रयोग चला आ रहा है।

(3) 'प्रति', 'ओर' के अर्थ में : 'कुंजरु अन्नह तरुअरहँ कोड्डेण धल्लइ हत्थु (422.9) : 'हाथी अन्य तरुवर की ओर तो कुतूहल से सूंड फेंकता है।' 'सिरु व्हसिउ खंधस्सु' (445.3) : 'सिर कंधे की ओर झुका है।' 'साहु लि लोउ सत्थावत्थहँ आलवणु करेइ' (422.2.) : 'स्वस्थ अवस्थावालों के साथ तो सब लोग बोलेंगे।'

(4) 'ण' प्रत्यय से सिद्ध क्रियावाचक संज्ञा का षष्ठी का रूप हेत्वर्थ कृदंत के रूप में प्रयुक्त होता है। 'अक्खणहँ' (350.1.), भुंजणहँ (441.1.).

(5) निम्नलिखित क्रिया के योग से :

तुलना और अनुकरणवाचक : उवमिअ : 'सीहहों उवमिअइ' (418.3.) : 'सिंह के साथ तुलना की जाती है'। 'अणुहर' : 'सुपुरिस कंगुहे अणुहरहिँ' (367.4) : 'सत्पुरुष कांगनी के समान है'।' 'ससि पिअहों अणुहरइ' (418.8.) : 'चन्द्र प्रियतम जैसा लगता है।'; 'झा' : 'झाएविणु तत्तस्सु' (440) : 'तत्त्व का ध्यान करके।' परंतु 'छम्मुहु झाइवि' (331) में 'झा' द्वितीया के योग से प्रयुक्त हुआ है। 'गण्' : 'ताण गणंतिएँ' (333) : 'उनकी गिनती करने पर'।

6. सप्तमी (1) निरपेक्ष रचना में : 'अवसरि निवडिअइ' (358–2) और उसी प्रकार 370.3, 383.2, 396.2, 406.2, 418.8 422.12 और 427.1 इन उदाहरणों में। (2) 'ण' प्रत्यय से बनी हुई क्रियावाचक संज्ञा का सप्तमी का रूप हेत्वर्थ कृदंत के रूप में प्रयुक्त होता है : भुंजणहि 441.1.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. अन्य विशिष्ट प्रयोग : हेत्वर्थ कृदंत के साथ 'न' और 'जा' के रूप मूल क्रिया की अतिदुष्करता या करने की अक्षमता के सूचक हैं।' तं अक्खणहँ न जाइ' (350.1) : 'वह कहा नहीं जा सकता'।' सुहु भुंजणहिँ न जाइ' (441.1) : 'सुख भोगा नहीं जा सकता'। आधुनिक हिन्दी तथा गुजराती में यह प्रयोग जीवंत है और बिना 'न' की रचना हिंदी में कर्मणि रचना के रूप में स्थिर हुई है।

उपसंहार

इस विश्लेषण से उपलब्ध सामग्री में 'प्राचीन' और 'आधुनिक' तथा भिन्न-देशीय लक्षणों की मिलावट स्पष्ट दिखाई देती है। आधारभूत उदाहरणों के मूलरूप की देशकालगत विविधता के कारण ऐसा हुआ है।

व्यंजनों के लोप के स्थान पर घोषत्व का चलन तथा ऋकार, संयुक्त परवर्ती रकार तथा अकार सुरक्षित रखने का चलन प्राचीनता का सूचक है तो दूसरी ओर संयुक्त व्यंजनों के एकत्व का चलन आधुनिकता का सूचक है।

स्वरमध्यवर्ती 'म्' और 'व्' तथा संयुक्त परवर्ती 'र्' का यथावत् रहना, सकार-वाला भविष्य-अंग, 'ज्ज्'वाला भविष्य-आज्ञार्थ, द्वितीय पु. एक व. का 'इ', भूतकृदंत का 'इअय', सम्बन्धक भूत कृ. का 'इउ', हेत्वर्थ का 'एवं', विध्यर्थ कृ. का 'एअय' और पुंलिंग प्रथमा एक व. का 'अउ'–ये प्रत्यय तथा, नपुंसकलिंग के रूप—ये सब लक्षण आगे चलकर गुजराती की विशिष्टता बने हैं। तो दूसरी ओर स्वरमध्यवर्ती 'म्' का 'वँ्' या लोप तथा 'व्' का लोप, संयुक्त परवर्ती 'र्' का सारूप्य, हकारवाला भविष्य-अंग, सम्बन्धक भूत कृ. का 'इ', हेत्वर्थ के रूप में प्रयुक्त 'ण' प्रत्ययवाले रूप, पुंलिंग और नपुंसकलिंग का अभेद—ये सब लक्षण आगे चलकर व्रज, खड़ी बोली आदि पश्चिमी हिन्दी भाषासमूह की विशिष्टता बने हैं।

हेमचन्द्र के उदाहरणों में कुछ 'मिश्र' लक्षणवाले पद्य भी है, जिन में पुं. प्रथमा एक व. के 'अउ' और 'आ' वाले भिन्नदेशीय रूप साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोली के लक्षणों की दृष्टि से हेमचन्द्रीय उदाहरणों की भाषा को अधिक सूक्ष्मता से देखना चाहिये ।

उपर्युक्त निष्कर्षों से इतना तो देखा जा सकता है कि हेमचन्द्रीय उदाहरणों की अपभ्रंश भाषा को प्राचीन गुजराती, प्राचीन मारवाडी या प्राचीन हिन्दी कहना एकांगी और अशास्त्रीय है । इन उदाहरणों में उक्त तीनों भाषाओं की कुछ विशिष्टतायें बीजरूप में उपस्थित हैं । यही कथन इस परिस्थिति के अनुरूप और युक्तिसंगत होगा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धहेम-शब्दानुशासन-गत

अपभ्रंश व्याकरण

[अध्याय 8, पाद 4, सूत्र 329–448]

329 स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे ॥

अपभ्रंश में सामान्य रूप से स्वर के स्वर ।

वृत्ति अपभ्रंशे स्वराणां स्थाने प्रायः स्वरा भवन्ति ।

(प्रकृति रूप संस्कृत शब्द के) स्वरों के स्थान पर अपभ्रंश में सामान्य रूप से (अन्य) स्वर आते हैं ।

उदा० (१) कच्चु, कच्च; (२) वेण, वीण; (३) बाह, बाहा, बाहु; (४) पट्ठि, पिट्ठि, पुट्ठि; (५) तणु, तिणु, तृणु; (६) सुकिदु, सुकिउ, सुकृदु; (७) किन्नउ, किलिन्नउ; (८) लिह, लीह, लेह; (९) गउरी, गोरी ।

छाया (१) कच्चित् ; (२) वीणा; (३) बाहुः; (४) पृष्ठम्; (५) तृणम्; (६) सुकृतम्; (७) क्लन्नकः अथवा क्लन्नकम्; (८) लेखा; (९) गौरी ।

वृत्ति प्रायोग्रहणात् यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित् प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति ॥

(सूत्र में) 'प्रायः' शब्द रखा है इसलिए (यह समझना है कि) जिसके बारे में अपभ्रंश में विशिष्ट (परिवर्तन होता है यह) कहा जायेगा, उसके विषय में भी क्वचित् प्राकृत अनुसार तथा शौरसेनी अनुसार कार्य (= परिवर्तन) होता है ।

330 स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ ॥

'सि' आदि लगने पर दीर्घ और ह्रस्व ।

वृत्ति अपभ्रंशे नाम्नोऽन्त्य-स्वरस्य दीर्घह्रस्वौ स्यादौ प्रायो भवति । सौ ॥

अपभ्रंश में 'सि' (= प्रथमा एकवचन का 'ः सु') आदि (कारक प्रत्यय) लगने पर संज्ञा का अंत्य स्वर, सामान्य रूप से, (मूल में ह्रस्व हो तो)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीर्घ तथा (मूल में दीर्घ हो तो) ह्रस्व (होता है)। (जैसे कि) 'सि' (= प्रथमा एकवचन का 'स्' प्रत्यय) लगने पर :-

उदा० (१) ढोल्ला सामला धण चंपा-वण्णी ।
नाइ सुवण्ण-रेह कसवट्टइ दिण्णी ॥

शब्दार्थ ढोल्ला (दे.) नायकः, प्रियः । सामला-श्यामलः । धण (दे.) —नायिका, प्रिया । चंपा-वण्णी—चम्पकवर्णी । नाइ-इव, यथा । सुवण्ण-रेह-सुवर्ण-रेखा । कसवट्टइ—कष-पट्टके । दिण्णी-दत्ता ॥

छाया नायकः श्यामलः । नायिका चम्पकवर्णी । (दृश्येते) यथा कषपट्टके सुवर्ण-रेखा दत्ता ॥

अनुवाद प्रियतम श्यामवर्ण का (है जबकि) प्रिया (है) चंपकवर्ण की । (दोनों) मानों कसौटी के पत्थर पर सुवर्ण की रेखा दी गयी (= लगी) हो (ऐसे शोभित हो रहे हैं ।)

वृत्ति आमन्त्र्ये ।
संबोधन (एकवचन) में :—

उदा० (२) ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिआ 'मा करु दीहा माणु ।
निद्दएँ गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥

शब्दार्थ ढोल्ला (दे.)-नायक । मइँ-मया । तुहुँ-त्वम् । वारिआ-वारितः । मा-मा । करु-कुरु । दीहा-दीर्घम् । माणु-मानम् । निद्दएँ-निद्रया । गमिही-गमिष्यति । रत्तडी-रात्रिः । दडवड (दे.)-शीघ्रम् । होइ— भवति (= भविष्यति) । विहाणु (दे.)-प्रभातम् ।

छाया नायक, मया त्वम् वारितः 'दीर्घम् मानम् मा कुरु । (यतः) रात्रिः निद्रया गमिष्यति । शीघ्रम् प्रभातम् भवति (= भविष्यति इति) ।

अनुवाद प्रियतम, मैंने तुम्हें बरजा (तो सही कि) ज्यादा मान मत कर (= मान को ज्यादा पकड़ कर मत रख); (क्योंकि) निद्रा में (ही अधिकतर) रात बीत जायेगी (और) अभी भगदड़ मचाती भोर आ पहुँचेंगी ।

वृत्ति स्त्रियाम् ।
स्त्रीलिंग में :—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (३) बिट्टीए, मइँ भणिअ तुहुँ 'मा करु वंकी दिट्ठि' ।
पुत्ति, सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पइट्ठि ॥

शब्दार्थ बिट्टीए (दे.)–पुत्रिके । मइँ–मया । भणिअ–भणिता । तुहुँ–त्वम् । मा–मा । करु–कुरु । वंकी–वक्राम् । दिट्ठि–दृष्टिम् । पुत्ति–पुत्रि । सकण्णी–सकर्णा । भल्लि–भल्ली । जिवँ–यथा, इव । मारइ–मारयति । हिअइ–हृदये । पइट्ठि–प्रविष्टा ॥

छाया पुत्रिके, मया त्वम् भणिता 'वक्राम् दृष्टिम् मा कुरु' (इति) । पुत्रि, हृदये प्रविष्टा (सा) सकर्णा भल्ली इव मारयति ॥

अनुवाद बेटी, मैंने तुझे कहा (तो सही कि तू) वक्र दृष्टि मत कर (= डाल) । पुत्री, टेढ़ी बर्छी की भाँति, (वह किसी के) हृदय में पैठ गयी (तो उसे) मार (ही) डालेगी ।

वृत्ति जसि ।
'जस्' (= प्रथमा बहुवचन का 'अस्' प्रत्यय) लगने पर :—

उदा० (४) एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ जो न–वि वालइ वग्ग ॥

शब्दार्थ एइ–एते । ति–ते । घोडा–घोटकाः, अश्वाः । एह–एषा । थलि–स्थली । एइ–एते । ति–ते । निसिआ–निशिताः । खग्ग–खड्गाः । एत्थु–अत्र । मुणीसिम–मनुष्यत्वम्, पौरुषम् । जाणिअइ–ज्ञायते । जो–यः । न–वि–न अपि । वालइ–वालयति । वग्ग–वल्गाम् ॥

छाया एते ते अश्वाः । एषा (रण–)स्थली । एते ते निशिताः खड्गाः ।
यः वल्गाम् न अपि वालयति (स वीरः इति) अत्र पौरुषम् ज्ञायते ॥

अनुवाद ये (रहें) घोड़े, यही (युद्ध)क्षेत्र, (और) यही (हैं) तीक्ष्ण खड्ग । यहीं पर मनुष्यत्व (= पौरुष) प्रकट होता है—जब (योद्धा) लगाम लौटने के लिए नहीं (= खिंचता) (वही सच्चा वीर) ।

वृत्ति एवं विभक्त्यन्तरेष्वप्युदाहार्यम् ॥
इसी प्रकार अन्य कारकों के उदाहरण भी दें (= समझे जायें) ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

331 स्यमोरस्योत् ॥

'सि' और 'अम्' लगने पर '-अ' का '-उ' ।

वृत्ति अपभ्रंश में 'सि'(= प्रथमा एकवचन का 'स्' प्रत्यय) और 'अम्' (= द्वितीया एकवचन का 'म्' प्रत्यय)लगने पर (नाम के अंत्य स्वर के रूप में रहे हुए) 'अ'कार का 'उ'कार होता है ।

उदा० दहमुहु भुवण-भयंकरु, तोसिअ-संकरु, निग्गउ रहवरि चडिअउ ।
चउमुहु छम्मुहु झाइवि, एक्कहिँ लाइवि, नावइ दइवें घडिअउ ॥

शब्दार्थ दहमुहु-दशमुखः । भुवण-भयकरु-भुवन-भयङ्करः । तोसिअ-संकरु-तोषित-शङ्करः । निग्गउ-निर्गतः । रहवरि-रथवरे । चडिअउ(दे.)-आरूढः । चउमुहु-चतुर्मुखम् । छम्मुहु-षण्मुखम् । झाइवि-ध्यात्वा । एक्कहिँ-एकस्मिन्, एकत्र । लाइवि-लगित्वा, कृत्वा । नावइ [ज्ञायते]-इव, यथा । दइवें-दैवेन । घडिअउ-घटितः, निर्मितः ॥

छाया भुवन-भयङ्करः दशमुखः तोषित-शङ्करः रथवरे आरूढः निर्गतः । (दृश्यते) यथा दैवेन चतुर्मुखम् षण्मुखम् ध्यात्वा एकत्र कृत्वा (सः) निर्मितः ।

अनुवाद (त्रि)भुवन के लिए भयप्रेरक दशमुख (= रावण) जिसने शंकर को तुष्ट किया है ऐसा (= तुष्ट करके), उत्तम रथ पर आरुढ हुआ और (= आरुढ हो कर) निकला—मानों चतुर्मुख (= ब्रह्मा और) षण्मुख (= कार्त्तिकेय) का ध्यान कर के, (उन्हें) एकत्र कर के (= एक साथ जोड़कर) (उसे) विधाताने गढ़ा हो (= मानों गढ़ा न हों !) ।

332 सौ पुंस्योद् वा ॥

'सि' लगने पर पुंल्लिंग में विकल्प में 'ओ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे पुंल्लिङ्गे वर्तमानस्य नाम्नोऽकारस्य सौ परे ओकारो वा भवति ।
अपभ्रंश में पुंल्लिंग में रही संज्ञा के अंत्य 'अ' कार का, 'सि' (प्रथमा एकवचन का 'स्' प्रत्यय) लगने पर विकल्प में 'ओ' कार होता है ।

उदा० (१) अगलिअ-नेह-निवट्टाहँ जोअण-लक्खु वि जाउ ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि, सोक्खहँ सो ठाउ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ अगलिअ–नेह–निवट्टाहँ—अगलित-स्नेह-निवृत्तानाम्। जोअण-लक्खु–योजन–लक्षम् । वि–अपि । जाउ–यातु । वरिस-सएण–वर्ष-शतेन । वि–अपि । जो–यः। मिलइ–मिलति । सहि–सखि । सोक्खहँ–सौख्यानाम् । सो—सः । ठाउ–स्थानम् ॥

छाया अगलित–स्नेह–निवृत्तानाम् (अन्यतरः जनः) योजन–लक्षम् अपि यातु । वर्ष–शतेन अपि यः मिलति, सखि, सः सौख्यानाम् स्थानम् ॥

अनुवाद अस्खलित स्नेहयुक्त (रहे हुए) जिन्हे अलग होना पड़ा हो, उनमें का (कोई एक) भले ही ('वि') लाख योजन (दूर) जायें, हे सखी, (उनमें का) जो सौ वर्ष के बाद भी (फिर) मिलें (फिर भी) वह सुखों का धाम (बनता ही है) ।

वृत्ति पुंसीति किम् ।
(सूत्र में) 'पुंसि' ('पुंल्लिंग में') ऐसा क्यों ? (जैसे कि) :–

उदा० (२) अंगहिँ अंगु न मिलिउ, हलि अहरें अहरु न पत्तु ।
पिअ जोअंतिहे मुह-कमलु एवँइ सुरउ समत्तु ॥

शब्दार्थ अंगहिँ–अङ्गैः । अंगु-अङ्गम् । न–न । मिलिउ–मिलितम् । हलि–हला । अहरें–अधरेण । अहरु–अधरः । न–न । पत्तु–प्राप्तः । पिअ–प्रियस्य । जोअंतिहे–पश्यन्त्याः । मुह-कमलु–मुख–कमलम् । एवँइ–एवम् एव । सुरउ–सुरतम् । समत्तु–समाप्तम् ।

छाया हला, अङ्गैः अङ्गम् न मिलितम्, न अधरेण अधरः प्राप्तः । प्रियस्य मुख–कमलम् पश्यन्त्याः एवम् एव सुरतम् समाप्तम् ।

अनुवाद सखी, न उसके अंगों से (मेरे) अंग मिले, न ही (उसके) अधर तक (मेरे) अधर पहुँचे । प्रियतम के मुखकमल को (एकटक) निहारते (निहारते) मेरा सुरत यों ही (= देखने की क्रिया में ही) समाप्त हो गया ।

333 एट्टि ॥

'टा' लगने पर '–ए' ।

वृत्ति अपभ्रंशेऽकारस्य टायामेकारो भवति ॥
अपभ्रंश में 'टा' (= तृतीया एकवचन का 'आ' प्रत्यय) लगने पर (संज्ञा के अंत्य) 'अ'कार का 'ए'कार होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० जे महु दिण्णा दिअहडा दइएं पवसंतेण ।
ताण गणंतिएँ अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण ॥

शब्दार्थ जे–ये । महु–मह्यम् । दिण्णा–दत्ताः । दिअहडा–दिवसाः । दइएं–दयितेन । पवसंतेण–प्रवसता । ताण–तेषाम्(= तान्) । गणंतिएँ–गणयन्त्याः । अंगुलिउ–अङ्गुल्यः । जज्जरिआउ–जर्जरिताः । नहेण–नखेन ॥

छाया दयितेन प्रवसता ये दिवसाः मह्यम् दत्ताः तेषाम् (=तान्) गणयन्त्याः (मम) अङ्गुल्यः नखेन जर्जरिताः ॥

अनुवाद प्रवास में जाते समय प्रियतमने मुझे (अवधि के) जो दिन दिये थे, वे गिनते (गिनते मेरी) ऊँगलियाँ नाखुन लगने पर जर्जरित हो गयी ।

334 ङिनेच्च ॥

'ङि' के साथ '–इ' भी ।

वृत्ति अपभ्रंशेऽकारस्य ङिना सह इकार एकारश्च भवतः ॥
अपभ्रंश में (संज्ञा के अंत्य) 'अ'कार का 'ङि' (सप्तमी एकवचन का 'इ' प्रत्यय) सहित 'इ'कार तथा 'ए'कार होता है ।

उदा० (१) सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइँ ।
सामि सु–भिच्चु वि परिहरइ सम्माणेइ खलाइँ ॥

शब्दार्थ सायरु–सागरः । उप्परि–उपरि । तणु–तृणम् । धरइ–धरति । तलि–तले । घल्लइ(दे.)–क्षिपति । रयणाइँ–रत्नानि । सामि–स्वामी । सु–भिच्चु–सु–भृत्यम् । वि–अपि । परिहरइ—परिहरति । सम्माणेइ–संमानयति । खलाइँ–खलान् ॥

छाया सागरः तृणम् उपरि धरति, रत्नानि (तु) तले क्षिपति । स्वामी अपि सु–भृत्यम् परिहरति, खलान् (तु) संमानयति ॥

अनुवाद समुद्र तिनके को (सतह) पर धारण करता है (= किये रहता है), (जबकि) रत्नों को तल में डाले रहता है, स्वामी भी अच्छे सेवक का त्याग करता है, (किंतु) खलों का सम्मान करता है ।

उदा० (२) तलें घल्लइ । 'तल में डालता है ।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

335 भिस्येद् वा ॥

'भिस्' लगने पर विकल्प में 'ए' ।

वृत्ति अपभ्रंशेऽकारस्य भिसि परे एकारो वा भवति ।

अपभ्रंश में (संज्ञा के अंत्य) 'अ' कार का, पिछे 'भिस्' (तृतीया बहुवचन का प्रत्यय) लगने पर, विकल्प में 'ए' कार होता है ।

उदा० गुणहिँ न संपय, कित्ति पर फल लिहिआ भुंजंति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेँहिँ घेप्पंति ॥

शब्दार्थ गुणहिँ–गुणैः । न–न । संपय–सम्पत् । कित्ति–कीर्तिः । पर–परम्, केवलम् । फल–फलानि । लिहिआ–लिखितानि । भुंजंति–भुञ्जन्ति । केसरि–केसरी । न–न । लहइ–लभते । बोड्डिअ(दे.)–काकिणीम् । वि–अपि । गय–गजाः । लक्खेँहिँ–लक्षैः । घेप्पंति(दे.)–गृह्यन्ते ।

छाया गुणैः सम्पत् न, केवलम् कीर्तिः (लभ्यते) । फलानि (तु) जनाः लिखितानि भुञ्जन्ति । केसरी काकिणीम् अपि न लभते, गजाः (तु) लक्षैः गृह्यन्ते ॥

अनुवाद गुणों के द्वारा संपत्ति नहीं, केवल कीर्ति (प्राप्त होती है) । (संपत्ति आदि जैसे) फल (तो लोग भाग्य में) लिखें (हों तो) पाते हैं । (जैसे कि) सिंह की 'कौड़ी' भी नहीं मिलती (= सिंह की कौड़ी भी नहीं उपजती), जबकि) हाथी लाखों से लिये जाते हैं ।

336 ङसेर्हे-हू ॥

'ङसि' का '-हे' और '-हु' ।

वृत्ति अस्येति पञ्चम्यन्तं विपरिणम्यते । अपभ्रंशेऽकारात् परस्य ङसेर्हे 'हु' इत्यादेशौ भवतः ॥

यानि कि 'अ'कार के बाद पंचमी के प्रत्यय के परिवर्तन का अब प्रतिपादन किया जायेगा । अपभ्रंश में (संज्ञा के अंत्य) 'अ'कार के बाद आते 'ङसि' (पंचमी एकवचन के 'अस्' प्रत्यय) का 'हे' और '-हु' ऐसे आदेश होते हैं ।

उदा० (१) वच्छहे गृण्हइ फलइँ जणु कडु पल्लव वज्जेइ ।
तो–वि महद्दुमु सुअणु जिवँ ते उच्छंगि धरेइ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ वच्छहे–वृक्षात् । गृण्हइ-गृण्हाति । फलइँ–फलानि । जणु–जनः । कडु–कटून् । पल्लव–पल्लवान् । वज्जेइ–वर्जयति । तो–वि–ततः अपि, तथा अपि । महद्दुमु–महाद्रुमः । सुअणु–सुजनः । जिवँ–यथा, इव । ते–तान् । उच्छंगि–उत्सङ्गे । धरेइ–धरति ।

छाया जनः वृक्षात् फलानि गृह्णाति, कटून् पल्लवान् (तु) वर्जयति । तथा अपि महाद्रुमः सुजन इव तान् उत्सङ्गे धरति ॥

अनुवाद मनुष्य वृक्षों से फल ग्रहण करता है, (जबकि) कड़वे पत्तों का त्याग करता है । फिर भी महान वृक्ष, सज्जन की भाँति, उन्हें (= मनुष्यों को) उत्संग में धारण करता है ।

उदा० वच्छहु गृण्हइ ।
वृक्ष से स्वीकार करता है ।

337 भ्यसो हुँ ॥

वृत्ति अपभ्रंशेऽकारात् परस्य भ्यसः पञ्चमी–बहुवचनस्य 'हुँ' इत्यादेशो भवति ॥
अपभ्रंश में (संज्ञा के अंत्य) 'अ'कार के बाद आते पंचमी बहुवचन के '–भ्यस्' (प्रत्यय) का '–हुँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि–सिंगहुँ पडिअ सिल अण्णु वि चूरु करेइ ॥

शब्दार्थ दूरुड्डाणें–दूरोड्डानेन । पडिउ–पतितः । खलु–खलः । अप्पणु–आत्मानम् । जणु–जनम् । मारेइ–मारयति । जिह–यथा । गिरि–सिंगहुँ–गिरि–शृङ्गेभ्यः । पडिअ–पतिता । सिल–शिला । अण्णु–अन्यद् । वि–अपि । चूरु करेइ–चूर्णीकरोति ॥

छाया दूरोड्डानेन पतितः खलः आत्मानम् जनम् (च अपि) मारयति । यथा गिरिशृङ्गेभ्यः पतिता शिला अन्यद् अपि चूर्णीकरोति ॥

अनुवाद दूर तक उड्डयन करने के (बहुत ऊँचे चढ़ने के) कारण गिरा हुआ दुर्जन खुद को (तथा अन्य) मनुष्य को (भी) मारता है– जैसे गिरिशृंग पर से गिरती शिला अन्य को भी चूरती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

338 ङसः सु-हो ँ-स्सवः ॥

'ङस्' का '०सु' '०हो ँ' और 'ऽस्सु'

वृत्ति अपभ्रंशेऽकारात् परस्य ङसः स्थाने 'सु' 'हो ँ' 'स्सु' इति त्रय आदेशा भवन्ति ॥

अपभ्रंश में (संज्ञाके अंत्य) 'अ'कार के बाद आते 'ङस्' (=षष्ठी एकवचन का '-अस्' प्रत्यय) के स्थान पर 'सु' 'हो ँ' 'स्सु' ऐसे तीन आदेश होते हैं ।

उदा० जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु ।
तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लहहो ँ बलि किज्जउँ सुअणस्सु ॥

शब्दार्थ जो-यः । गुण-गुणान् । गोवइ-गोपयति । अप्पणा-आत्मीयान् । पयडा-प्रकटान् । करइ-करोति । परस्सु-परस्य । तसु-तस्मै । हउँ-अहम् । कलि-जुगि-कलि-युगे । दुल्लहहो ँ-दुर्लभस्य । बलि किज्जउँ-बलीक्रिये । सुअणस्सु-सुजनाय ॥

छाया यः आत्मीयान् गुणान् गोपयति, परस्य (तु) प्रकटान् करोति तस्मै कलि-युगे दुर्लभाय सुजनाय अहम् बलीक्रिये ॥

अनुवाद जो अपने गुण छिपाते हैं, (किंतु) दूसरों के प्रकट करते हैं ऐसे कलियुग में दुर्लभ सज्जन पर मैं बलिदान के रूप में दिया जाता हूँ (=अपने आपका बलिदान देता हूँ, न्यौछावर होता हूँ) ।

339 आमो हँ ॥

'आम्' का '-हँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशेऽकारात् परस्यामो हमित्यादेशो भवति ॥

अपभ्रंश में (संज्ञा के अंत्य) 'अ'कार 'के' बाद आते 'आम्' (=षष्ठी बहुवचन का प्रत्यय) का 'हँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० तणहँ तइज्जी भंगि न-वि ते अवड-यडि वसंति ।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइँ मज्जंति ॥

शब्दार्थ तणहँ-तृणानाम् । तइज्जी-तृतीया । भंगि-भङ्गी । न-वि-नापि, नैव । ते-तानि । अवड-यडि-अवट-तटे । वसंति-वसन्ति । अह-अथ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जणु–जनः । लग्गिवि–लगित्वा । उत्तरइ–उत्तरति । अह–अथ । सह–सह । सइँ–स्वयम् । मज्जंति–मज्जन्ति ।।

छाया तृणानाम् तृतीया भङ्गी नैव । (यतः) तानि अवट–तटे वसन्ति । अथ जनः लगित्वा उत्तरति, अथ (तानि) स्वयं (तेन) सह मज्जन्ति ।।

अनुवाद तिनकों की तीसरी गति (भंगि) ही नहीं है. (क्योंकि) वे पानी के गड्ढे के कगार पर रहते हैं—या तो मनुष्य (उनसे) लटककर (उस) पार जाता है या फिर (वे) भी (मनुष्य के) साथ डूबते हैं ।

340 हुँ चेदुद्भ्याम् ।।

'इ' और 'उ' के बाद 'हुँ' भी ।

वृत्ति अपभ्रंशे इकारोकाराभ्यां परस्यामो 'हुँ' 'हँ' चादेशौ भवतः ।

अपभ्रंश में (संज्ञा के अंत्य) 'इ'कार और 'उ'कार के बाद आते 'आम्' (=षष्ठी बहुवचन का प्रत्यय) का '-हुँ' और '-हँ' ऐसे दो परिवर्तन होते हैं ।

उदा० (१) दइवु घडावइ वणि तरुहुँ सउणिहुँ पक्क-फलाइँ ।
सो वरि सुक्खु, पइट्ठ न-वि कण्णहिँ खल-वयणाइँ ।।

शब्दार्थ दइवु–दैवः । घडावइ–घटयति । वणि–वने । तरुहुँ–तरूणाम् (= तरुषु) । सउणिहँ–शकुनीनाम् । पक्क–फलाइँ–पक्व–फलानि । सो–सः (= तद्) । वरि–वरम् । सुक्खु–सौख्यम् । पइट्ठ–प्रविष्टानि । न–वि—नापि, नैव । कण्णहिँ—कर्णयोः । खल–वयणाइँ–खल–वचनानि ।।

छाया वने दैवः शकुनीनाम् (कृते) तरूणाम् (= तरुषु) पक्व–फलानि घटयति । तद् वरम् सौख्यम्, नैव कर्णयोः प्रविष्टानि खल–वचनानि ।।

अनुवाद वनमें विधाता पक्षिओं के लिये वृक्ष पर पक्व फलों की रचना करता (ही) है । उत्तम तो वह (वनवास में फलभक्षण का) सुख, नहिं कि कानों में घूसे हुए दुर्जनों के बोल ।

वृत्ति प्रायोऽधिकारात् क्वचित् सुपोऽपि 'हुँ' ।।
(आगे, सूत्र 329 में) अधिकृत किये हुए प्रायः शब्द से, क्वचित् 'सुप्' (= सप्तमी बहुवचन का 'सु' प्रत्यय) का भी 'हुँ' आदेश (होता है)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (२) घवलु विसूरइ सामिअहो॑ गरुआ भरु पेक्खेवि ।
'हउँ किँ न जुत्तउ दुहुँ दिसिहिँ खंडइँ दोण्णि करेवि' ॥

शब्दार्थ घवलु–धवलः । विसूरइ(दे.)–खिद्यति । सामिअहो॑–स्वामिनः । गरुआ–गुरुम् । भरु–भारम् । पेक्खेवि–प्रेक्ष्य । हउँ–अहम् । किँ–किम् । न–न । जुत्तउ–युक्तः । दुहुँ–द्वयोः । दिसिहिँ–दिशोः । खंडइँ–खण्डानि । दोण्णि–द्वे । करेवि–कृत्वा ।

छाया स्वामिनः गुरुम् भारम् प्रेक्ष्य धवलः खिद्यति—'द्वौ खण्डौ कृत्वा अहम् (एव) किम् द्वयोः (अपि) दिशोः न युक्तः ?' (इति) ॥

अनुवाद मालिक का भारी बोझ देखकर धवल (खानदानी बैल) अफसोस करता है, '(देह के) दो टुकड़े करके मैं (ही) दोनों दिशा में क्यों नहीं जुता ?'

341 ङसि-भ्यस्-ङीनां हे॑-हुँ-हयः ॥

'ङसि' 'भ्यस्' और 'ङि' का–'हे॑', '–हुँ' और 'हि' ।

वृत्ति अपभ्रंशे इदुद्भ्यां परेषां 'ङसि', 'भ्यस्', 'ङि' इत्येषां यथासङ्ख्यं 'हे॑' 'हुँ' 'हि' इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति । ङसेर् 'हे॑' ॥

अपभ्रंश में (संज्ञा के अंत्य) 'इ' और 'उ' के बाद आते 'ङसि'(= पंचमी एकवचन का 'अस्' प्रत्यय), 'भ्यस्' (चतुर्थी और पंचमी बहुवचन का प्रत्यय) और 'ङि'(=सप्तमी एकवचन का 'इ' प्रत्यय) का क्रमशः '–हे॑', '–हुँ' और '–हि' ऐसे तीन आदेश होते हैं । (जैसे कि) 'ङसि' का '–हे॑' :—

उदा० (१) गिरिहे॑ सिलायलु तरुहे॑ फलु घेप्पइ नीसावँण्णु ।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहँ तो वि न रुच्चइ रण्णु ॥

शब्दार्थ गिरिहे॑–गिरेः । सिलायलु–शिलातलम् । तरुहे॑–तरोः । फलु–फलम् । घेप्पइ–गृह्यते । नीसावँण्णु–निःसामान्यम्, सर्वसामान्येन । घरु–गृहम् । मेल्लेप्पिणु (दे.)–मुक्त्वा । माणुसहँ–मानुषाणाम् (= मानुषेभ्यः) । तो वि–ततः अपि, तथा अपि । न–न । रुच्चइ–रोचते । रण्णु–अरण्यम् ॥

छाया गिरेः शिलातलम् तरोः फलम् (च) सर्वसामान्यम् (अरण्ये) गृह्यते । तथा अपि गृहं मुक्त्वा मानुषेभ्यः अरण्यम् न रोचते ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद (सोने के लिए) पहाड से शिलातल, (और भोजन के लिए) वृक्ष से फल बिना (किसी) भेदभाव के (अरण्य में) लिए जा सकते हैं। फिर भी इन मनुष्यों को घर छोड़कर अरण्य (में रहना) भाता नहीं है।

वृत्ति भ्यसो 'हुँ'।

'भ्यस्' का 'हुँ' :—

उदा० (२) तरुहुँ वि वक्कलु फलु मुणि-वि परिहणु असणु लहंति।
सामिहुँ एत्तिउ अग्गलउँ आयरु भिच्च गृहंति॥

शब्दार्थ तरुहुँ–तरुभ्यः। वि–अपि। वक्कलु–वल्कलम्। फलु–फलम्। मुणि–मुनयः। वि–अपि। परिहणु–परिधानम्। असणु–अशनम्। लहंति–लभन्ते। सामिहुँ–स्वामिभ्यः। एत्तिउ–इयत्। अग्गलउँ–अधिकम्। आयरु–आदरम्। भिच्च–भृत्याः। गृहंति–गृह्णन्ति॥

छाया तरुभ्यः अपि मुनयः वल्कलम् परिधानम् फलम् अपि भोजनम् लभन्ते। स्वामिभ्यः (तु) भृत्याः आदरम् गृह्णन्ति इयत् अधिकम्॥

अनुवाद वृक्षों से भी मुनिओं को परिधान (के रूप में) वल्कल (और) भोजन (के रूप में) फल भी मिलते हैं। (परंतु) स्वामिओं से सेवक आदर पाते हैं इतना विशेष (= सेवकों को आदर भी मिलता है जो विशेष है)।

वृत्ति ङेर् 'हि'॥

'ङि का '–हि' :—

उदा० (३) अह विरल-पहाउ जि कलिहि धम्मु॥

शब्दार्थ अह–अथ। विरल–पहाउ—विरल–प्रभावः। जि–एव। कलिहि–कलौ। धम्मु–धर्मः।

छाया अथ कलौ धर्मः विरल–प्रभावः एव॥

अनुवाद अथ (अथवा, यदि) कलियुग में धर्म विरल प्रभाववाला ही है तो—

342 आट्टो णानुवारौ॥

'०अ' के बाद के 'टा' का 'ण' और अनुस्वार।

वृत्ति अपभ्रंशेऽकारात् परस्य टा–वचनस्य णानुस्वारावादेशौ भवतः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश में (संज्ञा के अंत्य) 'अ' कार के बाद आते 'टा' (= तृतीया एकवचन के 'आ' प्रत्यय) का 'ण' और अनुस्वार (इस प्रकार दो) आदेश होते हैं ।

उदा० दइएं पवसन्तेण (देखिये सू. 333)

343 एं चेदुतः ॥

'०इ' और '०उ' के बाद '–एं' भी।

वृत्ति अपभ्रंशे इकारोकाराभ्यां परस्य टावचनस्य 'एं', चकारात् णानुस्वारौ च भवन्ति । 'एं' ।

अपभ्रंश में (संज्ञा के अंत्य) 'इ'कार और 'उ'कार के बाद आते 'टा' (= तृतीया एकवचन का '०आ') प्रत्यय का '–एं' और (सूत्र में आते) 'च'कार से, 'ण' तथा अनुस्वार होता है । (जैसे कि) '–एं' :—

उदा० (१) अग्गिएँ उण्हउँ होइ जगु वाएं सीअलु तेवँ ।
जो पुणु अग्गि सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ ॥

शब्दार्थ अग्गिएँ–अग्निना । उण्हउँ–उष्णम् । होइ–भवति । जगु–जगत् । वाएं–वातेन । सीअलु–शीतलम् । तेवँ–तथा । जो–यः । पुणु–पुनः । अग्गि–अग्निना । सीअला–शीतलः । तसु–तस्य । उण्हत्तणु–उष्णत्वम् । केवँ–कथम् ॥

छाया जगत् अग्निना उष्णम् भवति, तथा वातेन शीतलम् । यः पुनः अग्निना शीतलः (भवति), तस्य उष्णत्वम् कथम् ॥

अनुवाद जगत (समस्त) अग्नि से उष्ण होता है, तथा पवन से शीतल । परंतु जो अग्नि से शीतल (होता हो), उसका उष्णत्व किस भाँति (सिद्ध किया जाये) ?

वृत्ति णानुस्वारौ ।

'–ण' और अनुस्वार :–

उदा० (२) विप्पिअयारउ जइ वि प्रिउ तो वि तँ आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढा जइ वि घरु तो तें अग्गिं कज्जु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ विप्पियअयारउ-विप्पिय-कारकः । जइ वि-यदि अपि । प्रिउ-प्रियः । तो वि-ततः अपि, तथा अपि । तँ-तम् । आणहि-आनय । अज्जु-अद्य । अग्गिण-अग्निना । दड्ढा-दग्धम् । जइ वि-यद्यपि । घरु-गृहम् । तो-ततः, ततोऽपि । तें-तेन । अग्गि-अग्निना । कज्जु-कार्यम् ।

छाया यदि अपि प्रियः विप्रिय-कारकः, तथा अपि तम् अद्य आनय । यद्यपि अग्निना गृहम् दग्धम्, ततः अपि तेन अग्निना कार्यम् ।।

अनुवाद प्रियतम यदि अपराधी (हो), फिर भी उसे आज ले आना । आग ने घर जलाया हो फिर भी आग से (ही) काम लेना है (= आग के बिना चलता नहीं है) ।

वृत्ति एवमुकारादप्युदाहार्याः ।।
इस प्रकार (संज्ञा के अंत्य) 'उ' कार के बाद (आते '-एं' आदि के) भी उदाहरण दिये जायें ।

344 स्यम्-जस्-शसां लुक् ।।

'सि', 'अम्', 'जस्, शस्' का लोप ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'सि, अम्, जस्, 'शस्' इत्येतेषां लोपो भवति ।
अपभ्रंश में 'सि' (= प्रथमा एकवचन का 'स्' प्रत्यय), 'अम्' (द्वितीया एकवचन का 'म्' प्रत्यय), 'जस्' (= प्रथमा बहुवचन का 'अस्' प्रत्यय) और 'शस्' (= द्वितीया बहुवचन का 'अस्' प्रत्यय) का लोप होता है ।

उदा० (१) 'एइ ति घोडा, एह थलि' इत्यादि । (देखिये 330/4) ।

वृत्ति अत्र स्यम्-जसां लोपः ।
यहाँ (उपर्युक्त उदाहरण में) 'सि', 'अम्' और 'जस्' का लोप हुआ है ।

उदा० (२) जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहँ निरु सावँलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअयसर खर-पत्थरि तिक्खेइ ।।

शब्दार्थ जिवँ जिवँ-यथा यथा । वंकिम-वक्रिमाणम् । लोअणहँ-लोचनयोः । निरु-नितराम् । सावँलि-श्यामला । सिक्खेइ-शिक्षते । तिवँ तिवँ-तथा तथा । वम्महु-मन्मथः । निअय-निजकान् । सर-शरान् । खर-पत्थरि-खर-प्रस्तरे । तिक्खेइ-तीक्ष्णयति ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया यथा यथा श्यामला लोचनयोः नितराम् वक्रिमाणम् शिक्षते, तथा तथा मन्मथः निजकान् शरान् खर-प्रस्तरे तीक्ष्णयति ।

अनुवाद जैसे जैसे (वह) श्यामा लोचन की अतिशय वक्रता (= कटाक्षपात) सीख रही है वैसे वैसे (मानों) मन्मथ अपने शर (सान के) कठोर पत्थर पर (घिसकर) तीक्ष्ण बनाता जा रहा है ।

वृत्ति अत्र स्यम्-शसाम् ॥

यहाँ (= उपर्युक्त उदाहरण में) 'सि', 'अम्' और 'शस्' (का लोप हुआ है)।

345 षष्ठ्याः ॥

षष्ठी का ।

वृत्ति अपभ्रंशे षष्ठ्या विभक्तेः प्रायो लुग् भवति ।

अपभ्रंश में षष्ठी (विभक्ति के प्रत्यय) का कई बार लोप होता है ।

उदा० संगर-सएँहिँ जु वण्णिअइ देक्खु अँम्हारा कंतु ।
अइ-मत्तहँ चत्तंकुसहँ गय कुंभइँ दारंतु ॥

शब्दार्थ संगर-सएँहिँ-सङ्गर-शतैः । जु-यः । वण्णिअइ-वर्ण्यते । देक्खु-पश्य । अँम्हारा-अस्मदीयम् । कंतु-कान्तम् । अइ-मत्तहँ-अति-मत्तानाम् । चत्तंकुसहँ-त्यक्ताङ्कुशानाम् । गय-गजानाम् । कुंभइँ-कुम्भान् । दारंतु-दारयन्तम् ॥

छाया यः सङ्गर-शतैः वर्ण्यते (तम्) अस्मदीयम् कान्तम् अतिमत्तानाम् त्यक्ताङ्कुशानाम् गजानाम् कुम्भान् दारयन्तम् पश्य ॥

अनुवाद सैंकडों संग्राम द्वारा जिसका वर्णन किया जाता है (ऐसे) हमारे नाथ को, अंकुश से भी वश में नहीं आते ऐसे अति मत्त गजों के गंड(स्थल) विदीर्ण करते हुए देखो ।

वृत्ति पृथग्योगो लक्ष्यानुसारार्थः ॥

अनुवाद (अन्वय में 'गज' और 'कुम्भइँ') भिन्न भिन्न (= असमस्त) लिए हैं, वह प्रतिपाद्य के अनुसरण के लिए ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

346 **आमन्त्र्ये जसो होँ: ॥**

संबोधन में 'जस्' का '-होँ'।

वृत्ति अपभ्रंशे आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानान्नाम्नः परस्य जसो '-होँ' इत्यादेशो भवति। लोपापवादः ॥

अपभ्रंश में संबोधन के अर्थ में स्थित संज्ञा के बाद आते 'जस्' (= संबोधन बहुवचन का प्रत्यय '-अस्') का '-होँ' ऐसा आदेश होता है। (यह) लोप का अपवाद है।

उदा० तरुणहो तरुणिहोँ मुणिउ मइँ 'करहु म अप्पहोँ घाउ' ॥

शब्दार्थ तरुणहोँ—(हे) तरुणाः। तरुणिहोँ-(हे) तरुण्यः। मुणिउ—ज्ञातम्। मइँ-मया। करहु-कुरुत। म-मा। अप्पहोँ-आत्मनः। घाउ-घातम् ॥

छाया (हे) तरुणाः, (हे) तरुण्यः, मया ज्ञातम्, (यूयम्) आत्मनः घातम् मा कुरुत (इति) ॥

अनुवाद हे तरुणों, हे तरुणिओं, मेरा (ऐसा) मानना है (कि) तुम स्वयम् का घात न करो।

347 **भिस्सुपोहिँ ॥**

'भिस्' और 'सुप्' का '-हिँ'।

वृत्ति अपभ्रंशे भिस्सुपोः स्थाने 'हिँ' इत्यादेशो भवति ॥

अनुवाद अपभ्रंश में 'भिस्' (= तृतीया बहुवचन का प्रत्यय) और 'सुप्' (सप्तमी बहुवचन का '-सु' प्रत्यय) के स्थान पर '-हिँ' ऐसा आदेश होता है।

उदा० (१) गुणहिँ न संपय, कित्ति पर ॥ (देखिये 335)
(२) भाईरहि जिवँ भारहि मग्गहिँ तिहिँ वि पयट्टइ ॥

शब्दार्थ भाईरहि-भागीरथी। जिवँ-यथा, इव। भारहि-भारती। मग्गहिँ-मार्गेषु। तिहिँ—त्रिषु। वि-अपि। पयट्टइ-प्रवर्तते ॥

छाया भागीरथी इव भारती त्रिषु मार्गेषु प्रवर्तते ॥

अनुवाद भागीरथी की भाँति भारती (= वाणी) तीनों मार्गों पर प्रवर्तती हैं।

348 **स्त्रियां जस्-शसोरुदोत् ॥**

स्त्रीलिंग में 'जस्' और 'शस्' का '-उ' और '-ओ'।

वृत्ति : अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य जसः शसश्च प्रत्येकमुदोतावादेशौ भवतः। लोपापवादौ। 'जसः'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में स्थित संज्ञा के बाद आते 'जस्' (= प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय) और 'शस्' (द्वितीया बहुवचन का प्रत्यय) इन प्रत्येक का '०उ' '०ओ' ऐसे दो आदेश होते हैं। (इन) लोप के अपवाद हैं। (जैसे कि) 'जस्' का :—

उदा० (१) अंगुलिउ जज्जरिआओं नहेण ॥ (तुल० 333),

शब्दार्थ अंगुलिउ-अङ्गुल्यः । जज्जरिआओ-जर्जरिताः । नहेण-नखेन ॥

छाया अङ्गुल्यः नखेन जर्जरिताः ॥

अनुवाद अंगुलियाँ नाखुनों से जर्जरित हो गयीं ।

वृत्ति शसः
'शस्' का

उदा. (२) सुंदर-सव्वंगाओं विलासिणीउ पेच्छंताण ॥

शब्दार्थ सुंदर-सव्वंगाओं-सुन्दर-सर्वाङ्गीः । विलासिणीउ-विलासिनीः । पेच्छंताण-प्रेक्षमाणानाम् ॥

छाया सुन्दर-सर्वाङ्गीः विलासिनीः प्रेक्षमाणानाम् ॥

अनुवाद सर्वाङ्गसुन्दर विलासिनीओं को देखते...

वृत्ति वचन-भेदान्न यथासङ्ख्यम् ॥
(सूत्र में आदेश का) वचन (मूल से) भिन्न होने के कारण (आदेश मूल के) अनुक्रम से (लेना) नहीं है ।

349 ट ए ॥

'टा' का 'ए' ।

वृत्ति अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्याष्टायाः स्थाने 'ए' इत्यादेशो भवति ।
अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में स्थित संज्ञा के बाद आते 'टा' (= तृतीया एकवचन के '०आ' प्रत्यय) के स्थान पर '०ए' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० (१) निअ-मुह-करहिँ वि मुद्ध किर अंधारइ पडिपेक्खइ ।
ससि-मंडल-चंदिमएँ पुणु काइँ न दूरे देक्खइ ।

शब्दार्थ निअ-मुह-करहिँ-निज-मुख-करैः । वि-अपि । मुद्ध-मुग्धा । किर-किल । अंधारइ-अन्धकारे । पडिपेक्खइ-प्रतिप्रेक्षते । ससि-मंडल-चंदिमएँ-शशि-मण्डल-चन्द्रिकया । पुणु-पुनः । काइँ-किम् । न-न । दूरे-दूरे । देक्खइ-पश्यति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया निज-मुख-करैः अपि मुग्धा किल अन्धकारे प्रतिप्रेक्षते । शशि-मण्डल-चन्द्रिकया पुनः किम् न दूरे पश्यति ॥

अनुवाद कहा जाता है कि (वह) मुग्धा अपने मुख (की कांति) के किरण द्वारा अंधकार में भी देख सकती है । तो फिर चंद्रबिंब की चंद्रिका में क्यों दूर तक नहीं देखती (= देख पाती) ?

उदा० (२) जहिँ मरगय-कंतिएँ-संवलिअं ॥

शब्दार्थ जहिँ-यत्र । मरगय-कंतिएँ-मरकत-कान्त्या । संवलिअं-संवलितम् ॥

छाया यत्र मरकत-कान्त्या संवलितम् ।

अनुवाद जहाँ मरकत(मणि) की कांति से लिपटा हुआ.....

350 ङस्-ङस्योर्हे ॥

'ङस्' और 'ङसि' का 'ेहे' ।

वृत्ति अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परयोर् 'ङस्', 'ङसि' इत्येतयोर् 'हे' इत्यादेशो भवति । ङसः ।

अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में स्थित संज्ञा के बाद आते 'ङस्' (= षष्ठी एकवचन के 'ेअस्' प्रत्यय) और 'ङसि' (= पंचमी एकवचन के 'ेअस्' प्रत्यय) का 'हे' ऐसा आदेश होता है । (जैसे कि) 'ङस्' का :

उदा० (१) तुच्छ-मज्झहे तुच्छ-जंपिरहे ।
तुच्छच्छ-रोमावलिहे तुच्छ-राय, तुच्छयर-हासहे ।
पिअ-वयणु अलहंतिअहे तुच्छ-काय-वम्महनिवासहे ॥
अण्णु जु तुच्छउँ तहे धणहे तं अक्खणहँ न जाइ ।
कटरि थणंतरु मुद्धडहे जं मणु विच्चि न माइ ॥

शब्दार्थ तुच्छ-मज्झहे-तुच्छ-मध्यायाः । तुच्छ-जंपिरहे-तुच्छ-जल्पनशीलायाः (= तुच्छम् वदन्त्याः) । तुच्छच्छ-रोमावलिहे-तुच्छाच्छ-रोमावल्याः । तुच्छ-राय-(हे) तुच्छ-राग । तुच्छयर-हासहे-तुच्छतर-हासायाः । पिअ-वयणु-प्रिय-वचनम् । अलहंतिअहे-अलभमानायाः । तुच्छ-काय-वम्महनिवासहे-तुच्छ-काय-मन्मथ-निवासायाः । अण्णु-अन्यद् । जु-यद् । तुच्छउँ-तुच्छकम् । तहे-तस्याः । धणहे (दे.)-प्रियायाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तं–तद् । अक्खणहँ–आख्यातुम् । न–न । जाइ–याति । कटरि–कटरि (=आश्चर्यम्) थणंतरु–स्तनान्तरम् । मुद्धहे–मुग्धायाः । जं–यद् । मणु–मनः । विच्चि–मध्ये । न–न । माइ–माति ।।

छाया (हे) तुच्छ–राग, तुच्छ–मध्यायाः तुच्छ–जल्पनशीलायाः (= तुच्छम् वदन्त्याः) तुच्छाच्छ–रोमावल्याः तुच्छतर–हासायाः प्रिय–वचनम् अलभमानायाः तुच्छ–काय–मन्मथ–निवासायाः तस्याः प्रियाः यद् अन्यद् तुच्छकम् तद् आख्यातुम् न याति (= न शक्यम्) । मुग्धायाः स्तनान्तरम् आश्चर्यम्, यद् मनः मध्ये न माति ।।

अनुवाद (हे) तुच्छ प्रेमवाले, जिसकी कटि सूक्ष्म है, जो सूक्ष्म बोलनेवाली है, जिसकी रोमावलि सूक्ष्म और सुंदर है, प्रिय वचन से वंचित होने के कारण जिसका हास्य सूक्ष्मतर है तथा जिसकी देह कामदेव के निवासरूप देह भी सूक्ष्म है, ऐसी उस प्रिया की दूसरी (एक ऐसी चीज) सूक्ष्म है (कि) वह कही नहीं जा सकती : (उस) मुग्धा के स्तनों के बीच की दूरी ! आश्चर्य ! (वह तो इतनी सूक्ष्म है) कि इसके बीच में मन (जैसा सूक्ष्मतम पदार्थ भी) समा नहीं सकता ।

वृत्ति ङसेः ।

'ङसि' का :—

उदा० (२) फोडेंति जे हियडउँ अप्पणउँ ताहँ पराई कवण घण ।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसम थण ।।

शब्दार्थ फोडेंति–स्फोटयतः । जे–यौ । हियडउँ–हृदयम् । अप्पणउँ–आत्मीयम् । ताहँ–तयोः । पराई–परकीया (= परकृते) । कवण–का । घण–घृणा । रक्खेज्जहु–रक्षत । लोअहो–(हे) लोकाः । अप्पणा–आत्मानम् । बालहे–बालायाः । जाया–जातौ । विसम–विषमौ । थण–स्तनौ ।

छाया यौ आत्मीयम् (एव) हृदयम् स्फोटयतः, तयोः परकृते का घृणा । (हे) लोकाः आत्मानम् बालायाः रक्षत, (यतः) (तस्याः) स्तनौ विषमौ जातौ ।।

अनुवाद जो अपना (ही) हृदय फोड़ते हैं, उन्हे परायों की क्या दया ? (हे) लोगों, (तुम) (इस) बाला से अपने आपको बचना, (क्योंकि) (उसके) स्तन विषम बने हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

351 भ्यसामोर्हुः ॥

'भ्यस्' और 'आम्' का '०हु'।

वृत्ति अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः 'भ्यस्' 'आमश्च' 'हु' इत्यादेशो भवति।
अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में स्थित संज्ञा के बाद आते 'भ्यस्' (= पंचमी बहुवचन के प्रत्यय) और 'आम्' (= षष्ठी बहुवचन के प्रत्यय) का 'हु' आदेश होता है।

उदा० भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥

शब्दार्थ भल्ला–साधु। हुआ–भूतम्। मारिआ–मारितः। बहिणि–(हे) भगिनि। महारा–मदीयः। कंतु–कान्तः। लज्जेज्जं–लज्जेय (= अल्लज्जिष्यम्)। तु–ततः। वयंसिअहु–वयस्याभ्यः, वयस्यानाम्। जइ–यदि। भग्गा–भग्नः। घरु–गृहम्। एंतु–ऐष्यत्।

छाया (हे) भगिनि, साधु भूतम् यद् मदीयः कान्तः मारितः। (यतः) यदि भग्नः गृहम् ऐष्यत्, ततः अहम् वयस्याभ्यः [वयस्यानाम्, वा] लज्जेय (= अलज्जिष्यम्) ॥

अनुवाद (हे) बहन, अच्छा हुआ जो मेरा पति मारा गया। (क्योंकि) यदि भागकर (वह) घर लौटता, (तो) मुझे तो (अपनी) सखियों से (या सखियों के बीच में) शर्म आती (= शर्म से मर जाती)।

वृत्ति वयस्याभ्यो वयस्यानां वेत्यर्थः ॥
(उदहरण के 'वयंसिअहु' का) अर्थ 'वयस्याभ्यः' ('सखियों से') अथवा वयस्यानाम् ('सखिओं के बीच में') है।

352 ङेर्हिः ॥

'ङि' का '०हि'।

वृत्ति अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य ङेः सप्तम्येकवचनस्य '०हि' इत्यादेशो भवति।
अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में स्थित संज्ञा के बाद आते 'ङि' (अर्थात्) सप्तमी एकवचन (के '०इ' प्रत्यय) का '०हि' ऐसा आदेश होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० वायसु उड्डावंतिअएँ पिउ दिट्ठउ सहस-त्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड-त्ति ॥

शब्दार्थ वायसु–वायसम् । उड्डावंतिअएँ–उड्डापयन्त्या । पिउ–प्रियः । दिट्ठउ–दृष्टः । सहस–त्ति–सहसा इति (= सहसा) । अद्धा–अर्धानि । वलया–वलयानि । महिहि–मह्याम् । गय–गतानि । अद्धा–अर्धानि । फुट्ट–स्फुटितानि । तड-त्ति–त्रट् इति ॥

छाया वायसं उड्डापयन्त्या (प्रेयस्या) प्रियः सहसा दृष्टः । (तस्मात् तस्याः) अर्धानि वलयानि मह्याम् गतानि अर्धानि (तु) त्रट् इति स्फुटितानि ।

अनुवाद कौओं को उड़ाती (प्रेयसी)ने सहसा प्रियतम को (आता) देखा । (इसलिये) आधे कंगन भूमि पर गये (= गिरे), आधे तड़ाक् से फूटे (= टूटे) ।

353 क्लीबे जस्-शसोरिं ॥

नपुंसकलिंग में 'जस्' और 'शस्' का 'ँइँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे क्लीबे वर्तमानान्नाम्नः परयोर्जस्-शसोः 'ँइँ' त्यादेशो भवति ॥

अपभ्रंश में नपुंसकलिंग में स्थित संज्ञा के बाद आते 'जस्' (= प्रथमा बहुवचन के प्रत्यय) और 'शस्' (= द्वितीया बहुवचन के प्रत्यय) का 'इँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० कमलइँ मेल्लवि अलि–उलइँ करि–गंडाइँ महंति ।
असुलहमेच्छण जाहँ भलि ते न–वि दूरु गणंति ॥

शब्दार्थ कमलइँ–कमलानि । मेल्लवि (दे.)–मुक्त्वा । अलि–उलइँ–अलि–कुलानि । करि–गंडाइँ–करि–गण्डान् । महंति–काङ्क्षन्ति । असुलहमेच्छण–असुलभम् एष्टुम् । जाहँ–येषाम् । भलि (दे.)–निर्बन्धः । ते–ते । न–वि–न अपि । दूरु–दूरम् । गणंति–गणयन्ति ॥

छाया अलि–कुलानि कमलानि मुक्त्वा करि–गण्डान् काङ्क्षन्ति । येषाम् असुलभम् एष्टुम् निर्बन्धः, ते दूरम् न अपि गणयन्ति ॥

अनुवाद भ्रमर–समूह कमलों को छोड़कर हाथीओं के गंडस्थलों की अभिलाषा रखते हैं । दुर्लभ को (ही) चाहना ऐसा जिनका आग्रह रहता है वे दूरी (अंतर) को मानते नहीं ।नहीं(।लयेकोनउकेऽle ई।)रीदूह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

354 कान्तस्यात उँ स्यमोः ।

अंत में '०क०' वाले के '०अ' का 'सि' और 'अम्' आने पर '०उँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे क्लीबे वर्तमानस्य ककारान्तस्य नाम्नो योऽकारस्तस्य स्यमो परयोः 'उँ' इत्यादेशो भवति ॥

अपभ्रंश में नपुंसकलिंग में स्थित (और) जिसके अंत में (मूल में स्वार्थिक) ककार है ऐसी संज्ञा का जो (अंत्य) अकार है, उस के बाद 'सि' (= प्रथमा एकवचन का 'स्' प्रत्यय) और 'अम्' (= द्वितीया एकवचन का प्रत्यय) आने पर (उसका) '०उँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० (१) अन्नु जु तुच्छउँ तहे धणहे ॥ (देखिये 350)

(२) भग्गउँ देक्खिवि निअय-बलु बलु पसरिअउँ परस्सु ।
उम्मिल्लइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पिअस्सु ॥

शब्दार्थ भग्गउँ-भग्नकम्, भग्नम् । देक्खिवि-दृष्ट्वा । निअय-बलु-निजक-बलम् । बलु-बलम् । पसरिअउँ-प्रसृतकम् । परस्सु-परस्य । उम्मिल्लइ-उन्मीलति । ससि-रेह-शशि-रेखा । जिवँ-यथा, इव । करि-करे । करवालु-करवालः । पिअस्सु-प्रियस्य ॥

छाया निजक-बलम् भग्नम्, परस्य-बलम् (च) प्रसृतम् दृष्ट्वा (मम) प्रियस्य करे करवालः शशि-रेखा इव उन्मीलति ॥

अनुवाद अपना सैन्य तितर-बितर होता (और) शत्रु के सैन्य का प्रसार (= आगे बढ़ना) देखकर (मेरे) प्रियतम के हाथ में तलवार शशिलेखा की भाँति उल्लसित हो रही है ।

355 सर्वादेर्ङसेर्हाँ ॥

सर्वादि के 'ङसि' का '-हाँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे सर्वादेरकारान्तात् परस्य ङसेर् 'हाँ' इत्यादेशो भवति ॥

अपभ्रंश में 'अ'कारान्त सर्वनाम के बाद आते 'ङसि' (= पंचमी एकवचन के प्रत्यय '०अस्') का '-हाँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० (१) जहाँ होंतउ आगदो ॥

शब्दार्थ जहाँ-यस्मात् । होंतउ-भवान् । आगदो-आगतः ॥

छाया यस्मात् भवान् (= यतः) आगतः ॥

अनुवाद जहाँ से (वह) आया ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (२) तहाँ होंतउ आगदो !!

छाया तस्मात् भवान् (= ततः) आगतः ॥

अनुवाद वहाँ से (वह) आया ।

उदा० (३) कहाँ होंतउ आगदो ॥

छाया कस्मात् भवान् (= कुतः) आगतः ॥

अनुवाद कहाँ से (वह) आया ?

356 किमो डिहे᷅ वा ॥

'किम्' के विकल्प में 'डिहे᷅' (= इहे᷅) ।

वृत्ति अपभ्रंशे किमोऽकारान्तात् परस्य ङसेर् 'डिहे᷅' इत्यादेशो वा भवति ॥ अपभ्रंश में अकारान्त (सर्वनाम) 'किम्' के अकार के बाद आते 'ङसि' (पंचमी एकवचन के प्रत्यय) का डित् '०इहे᷅' ऐसा आदेश विकल्प में होता है ।

उदा० जइ तहो᷅ तुट्टउ नेहडा मइँ सहुँ न–वि तिल–तार ।
तं किहे᷅ वंके᷅हिँ लोअणे᷅हिँ जोइज्जउँ सय–वार ॥

शब्दार्थ जइ–यदि । तहे᷅–तस्याः । तुट्टउ–त्रुटितः । नेहडा–स्नेहः । मइँ–मया । सहुँ–सह । न–वि–न अपि । तिल–तार–(?) । तं–तद् । किहे᷅–कस्मात् । वंके᷅हिँ–वक्राभ्याम् । लोअणे᷅हिँ–लोचनाभ्याम् । जोइज्जउँ–दृश्ये । सय–वार–शत–वारम् ॥

छाया यदि तस्याः स्नेहः त्रुटितः, यदि मया सह तिल–तारा (?) अपि न, (तर्हि) कस्मात् (अहम्) (तस्याः) वक्राभ्याम् लोचनाभ्याम् शत–वारम् दृश्ये ?

अनुवाद यदि उसका (मेरे प्रति) स्नेह (सचमुच) नष्ट हो गया हो (और यदि) मेरे साथ तिलतार (?) भी न हो, तो (फिर) क्यों सैंकडों बार (उसकी) तिरछी आँखों द्वारा (मैं) देखा जा रहा हुँ ? (= आँखों से वह मेरी ओर देखती है ?)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

357 ङेर्हिँ ॥

'ङि' का '०हिँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे सर्वादेरकारान्तस्य 'ङेः' सप्तम्यकवचनस्य 'हिँ' इत्यादेशो भवति ॥

अपभ्रंश में अकारान्त सर्वनाम के 'ङि' (अर्थात् सप्तमी एकवचन के प्रत्यय) का '-हिँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० (१) जहिँ कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु ।
तहिँ तेहइ भड-घड-निवहि कंतु पयासइ मग्गु ॥

शब्दार्थ जहिँ-यस्मिन्, यत्र । कप्पिज्जइ-कृत्यते । सरिण-शरेण । सरु-शरः । छिज्जइ-छिद्यते । खग्गिण-खड्गेन । खग्गु-खड्गः । तहिँ-तस्मिन्, तत्र । तेहइ-तादृशे । भड-घड-निवहि-भट-घटा-निवहे । कंतु-कान्तः । पयासइ-प्रकाशयति । मग्गु-मार्गः ॥

छाया यत्र शरेण शरः कृत्यते, खड्गेन खड्गः छिद्यते, तत्र तादृशे भट-घटा-निवहे (मम) कान्तः मार्गम् प्रकाशयति ॥

अनुवाद जहाँ शर से शर कटते हैं, खड्ग द्वारा खड्ग का छेदन होता है, वहाँ ऐसे (पराक्रमी) सुभटों के झुंड में (हो कर मेरा) पति मार्ग प्रकट करता है (= राह बनाता है) ।

उदा० (२) एक्कहिँ अक्खिहिँ सावणु अण्णहिँ भद्दवउ ।
माहउ महिअल-सत्थरि गंड-त्थलेँ सरउ ॥
अंगिहिँ गिम्हु सुहच्छी-तिलवणि मग्गसिरु ।
तहेँ मुद्धहेँ मुह-पंकइ आवासिउ सिसिरु ॥

शब्दार्थ एक्कहिँ-एकस्मिन् । अक्खिहिँ-अक्षिणि । सावणु-श्रावणः । अण्णहिँ-अन्यस्मिन् । भद्दवउ-भाद्रपदः । माहउ-माघकः, माघः । महिअल-सत्थरि-महीतल-स्तस्तरे । गंड-त्थलेँ-गण्ड-स्थले । सरउ-शरत् । अंगिहिँ-अङ्गेषु । गिम्हु-ग्रीष्मः । सुहच्छी-तिलवणि-सुखासिका-तिलवने । मग्गसिरु-मार्गशीर्षः । तहेँ-तस्याः । मुद्धहेँ-मुग्धायाः । मुह-पंकइ-मुख-पङ्कजे । आवासिउ-आवासितः । सिसिरु-शिशिरः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया तस्याः मुग्धायाः एकस्मिन् अक्षिणि श्रावणः अन्यस्मिन् भाद्रपदः, महीतल-स्तस्तरे माघः, गण्ड-स्थले शरत्, अङ्गेषु ग्रीष्मः, मुखासिका-तिलवने मार्गशीर्षः, मुख-पङ्कजे (च) शिशिरः आवासितः ॥

अनुवाद उस मुग्धा की एक आँख में सावन ने (और) दूसरी में भादों ने, जमीन पर लगे बिस्तर में माघ ने, कपोलप्रदेश पर शरदने, अंगों में ग्रीष्म ने, सुखशाता रूपी तिल के वन में अगहन ने (और) मुखपंकज पर शिशिरने (इन दिनों) निवास किया है ।

उदा० (३) हिअडा, फुट्टि तड-त्ति करि काल-क्खेवें काइँ ।
देक्खउँ हय-विहि कहिँ ठवइ पइँ विणु दुक्ख-सयाइँ ॥

शब्दार्थ हिअडा-(हे) हृदय । फुट्टि-स्फुट । तड-त्ति करि-त्रट् इति कृत्वा । काल-क्खेवें-काल-क्षेपेन । काइँ-किम् । देक्खउँ-पश्यामि । हय-विहि-हत-विधिः । कहिँ-कस्मिन्, कुत्र । ठवइ-स्थापयति । पइँ-त्वया । विणु-विना । दुक्ख-सयाइँ-दुःख-शतानि ॥

छाया (हे) हृदय, त्रट् इति कृत्वा स्फुट । काल-क्षेपेन किम् । पश्यामि, त्वया विना हत-विधिः दुःख-शतानि कुत्र स्थापयति इति ॥

अनुवाद (हे) हृदय, (तुं) तड़ाक् से फूट (=फूट जा) विलंब (करने) से क्या लाभ ? देखूँ तो सही कि मुँहझौंसा विधाता तेरे बिना सैंकडों दुःखों को कहाँ रखता है ?

358 यत्तत्किम्भ्यो ङसो डासुर्न वा ॥

'यद्' 'तद्' और 'किम्' के बाद के 'ङस्' का 'डासु' (=०आसु), अथवा नहीं ।

वृत्ति अपभ्रंशे यत्तत्किम् इत्येतेभ्योऽकारान्तेभ्यः परस्य ङसो 'डासु' इत्यादेशो वा भवति ॥

अपभ्रंश में 'यद्', 'तद्' और 'किम्' इन अकारान्त (सर्वनामों) के बाद आते 'ङस्' (षष्ठी एकवचन के प्रत्यय) का 'डासु' ('=आसु') ऐसा आदेश विकल्प में होता है ।

उदा० (१) कंतु महारउ, हलि सहिएँ, निच्छइँ रूसइ जासु ।
अत्थिहिँ सत्थिहिँ हत्थिहिँ वि ठाउ वि फेडइ तासु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ कंतु–कान्तः । महारउ–मदीयकः, मदीयः । हलि–हला । सहिएँ–सखिके । निच्छइँ–निश्चयेन । रूसइ–रुष्यति । जासु–यस्य (=यस्मै) । अत्थिहिँ–अस्त्रैः । सत्थिहिँ–शस्त्रैः । हत्थिहिँ–हस्ताभ्याम् । वि–अपि । ठाउ–स्थानम् । वि–अपि । फेडइ–स्फेटयति । तासु–तस्य ॥

छाया हला सखिके, मदीयः कान्तः निश्चयेन यस्मै रुष्यति तस्य स्थानम् अपि अस्त्रैः, शस्त्रैः, हस्ताभ्याम् अपि स्फेटयति ॥

अनुवाद अरी ओ सखी, मेरा पति जिससे वाकई रूठा ही हो, उसका नामोनिशान भी अस्त्रों से, शस्त्रों से, (अरे, और नहीं तो) हाथों से भी (वह) नष्ट करता है ।

उदा० (२) जीविउ कासु न वल्लहउँ धणु पुणु कासु न इट्ठु ।
दोण्णि वि अवसरि निवडिअइ तिण–सम गणइ विसिट्ठु ॥

शब्दार्थ जीविउ–जीवितम् । कासु–कस्य । न–न । वल्लहउँ–वल्लभकम्, वल्लभम् । धणु–धनम् । पुणु–पुनः । कासु–कस्य । न–न । इट्ठु–इष्टम् । दोण्णि–द्वे । वि–अपि । अवसरि–अवसरे । निवडिअइ–निपतितके, निपतिते । तिण–सम–तृण–समे । गणइ–गणयति विसिट्ठु–विशिष्टः ॥

छाया जीवितम् कस्य न वल्लभम् ? धनम् पुनः कस्य न इष्टम् ? अवसरे निपतिते (तु) विशिष्टः (ते) द्वे अपि तृण–समे गणयति ॥

अनुवाद जिंदगी किसे प्रिय नहीं है ? धन भी किसे इष्ट नहीं है ? (परंतु) समय आने पर, शिष्ट जन (उन) दोनों को तिनका बराबर मानता है ।

359 स्त्रियां डहे॑ ॥

स्त्रीलिंग में डहे॑ (= 'अहे॑') ।

वृत्ति अपभ्रंशे स्त्रीलिङ्गे वर्तमानेभ्यः यत्तत्किम्भ्यः परस्य ङसो 'डहे॑' इत्यादेशो वा भवति ॥

अपभ्रंश में स्त्रीलिंग में स्थित 'यद्', 'तद्' और 'किम्' के बाद आते 'ङस्' (= षष्ठी एकवचन के प्रत्यय) का 'डहे॑' (= ०'अहे॑') ऐसा आदेश विकल्प में होता है ।

उदा० (१) जहे॑ केरउ । (२) तहे॑ केरउ । (३) कहे॑ केरउ ।

छाया (१) यस्याः सम्बन्धी । (२) तस्याः, सम्बन्धी । (३) कस्याः सम्बन्धी ।

अनुवाद जिस (स्त्री) का, उस (स्त्री) का, किस (स्त्री) का ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

360 **यत्तदः स्यमोर्ध्रुं त्रं ॥**

'सि' और 'अम्' लगने पर 'यद्' और 'तद्' के 'ध्रु' और 'त्र' ।

वृत्ति अपभ्रंशे यत्तदोः स्थाने स्यमोः परयोर्यथाङ्कं 'ध्रु', 'त्र' इति आदेशौ वा भवतः ॥

अनुवाद अपभ्रंश में 'यद्' और 'तद्' के स्थान पर, 'सि' (= प्रथमा एकवचन के 'ोस्' प्रत्यय) और 'अम्' (= द्वितीया एकवचन के प्रत्यय) लगने पर क्रमशः 'ध्रु' और 'त्र' ऐसे आदेश विकल्प में होते हैं ।

उदा० (१) प्रंगणि चिट्ठदि नाहु ध्रुं त्रं रणि करदि न भ्रंत्रि ॥

शब्दार्थ प्रंगणि–प्राङ्गणे । चिट्ठदि–तिष्ठति । नाहु–नाथः । ध्रुं–यद् । त्रं–तद् । रणि–रणे । करदि–करोति । न–न । भ्रंत्रि–भ्रान्तिम्, भ्रमणम् ॥

छाया यद् नाथः प्राङ्गणे तिष्ठति, तद् रणे भ्रमणम् न करोति ।

अनुवाद [क्योंकि] (मेरा) पति प्रांगण में खड़ा है, इसलिये समझना कि वह रण (भूमि) में भ्रमण नहीं करता है ।

वृत्ति पक्षे ॥

अन्य पक्ष में (इसके प्रतिपक्ष में ।)

उदा० (२) तं वोल्लिअइ जु निव्वहइ ॥

शब्दार्थ तं–तद् । वोल्लिअइ–ब्रूयते । जु–यद् । निव्वहइ–निर्वहति ॥

छाया तद् ब्रूयते, यद् निवहति ॥

अनुवाद वही बोलें, जो घटित हो ।/निभें ।

361 **इदम इमुः क्लीबे ॥**

'इदम्' का नपुंसकलिंग में 'इमु' ।

वृत्ति अपभ्रंशे नपुंसकलिङ्गे वर्तमानस्येदमः स्यमोः परयोः 'इमु' इत्यादेशो भवति ॥

अपभ्रंश में नपुंसकलिंग में स्थित इदम् का 'सि' (= प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) और 'अम्' (= द्वितीया एकवचन का प्रत्यय) लगने पर 'इमु' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० (१) इमु कुलु तुह तणउँ ॥ (२) इमु कुलु देक्खु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ इमु–इदम् । कुलु–कुलम् । तुह तणउँ–तव सम्बन्धि ॥ इमु–इदम् । कुलु–कुलम् । देक्खु–पश्य ॥

छाया (१) इदम् कुलम् तव सम्बन्धि ॥ (२) इदम् कुलम् पश्य ॥

अनुवाद (1) यह कुल तेरे सम्बन्धि (= तेरा) (2) यह कुल देख ।

362 एतदः स्त्री-पुं-क्लीबे 'एह' 'एहो˘' 'एहु' ॥

'एतद्' के स्त्रीलिंग, पुंल्लिग और नपुंसकलिंग में 'एह', 'एहो', 'एहु' ।

वृत्ति अपभ्रंशे स्त्रियां, पुंसि, नपुंसके वर्तमानस्यैतदः स्थाने स्यमोः परयोर्यथा-सङ्ख्यम् 'एह' 'एहो˘' 'एहु' इत्यादेशा भवन्ति ॥

अनुवाद अपभ्रंश में स्त्रीलिंग, पुंल्लिग और नपुंसकलिंग में स्थित 'एतद्' के स्थान पर, 'सि' (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) और 'अम्' (द्वितीया एकवचन का प्रत्यय) लगने पर क्रमशः 'एह', 'एहो', 'एहु' ऐसे आदेश होते हैं ।

उदा० 'एह कुमारी, एहो नरु, एहु मणोरह–ठाणु' ।
एहउँ वढ चिंतंताहँ पच्छइ होइ विहाणु ॥

शब्दार्थ एह–एषा । कुमारी–कुमारी । एहो–एषः । नरु–नरः । एहु–एतद् । मणोरह–ठाणु–मनोरथ–स्थानम् । एहउ–एतद् । वढ (दे.)–(हे) मूर्ख । चिंतंताहँ–चिन्तमानानाम् । पच्छइ–पश्चात् । होइ–भवति । विहाणु= प्रभातम् ॥

छाया (हे) मूर्ख, 'एषा कुमारी, एषः (अहम्) नरः, एतद् मनोरथ–स्थानम्' एतद् चिन्तमानानाम् पश्चात् प्रभातम् भवति ॥

अनुवाद (हे) मूर्ख, 'वह कुमारी और यह (मैं) पुरुष, यह (मेरे) मनोरथ का स्थान (= भाजन) है–' यह (= ऐसा) सोचते सोचते तो फिर सुबह होती है (हो जायेगी) ।

363 एइजस्-शसोः ॥

'जस्' और 'शस्' लगने पर 'एइ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे एतदो जस–शसोः परयोः 'एइ' इत्यादेशो भवति ॥
अपभ्रंश में एतद् का 'जस्' (= प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय) और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'शस्' (= द्वितीया बहुवचन का प्रत्यय) लगने पर 'एइ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० (१) एइ ति घोडा, एह थलि ॥ (देखिये 330/4)

(२) एइ पेच्छ ॥

छाया एतान् पश्य ।

अनुवाद इन (सब) को देख ।

364 **अदस ओइ ॥**

'अदस्' का 'ओइ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'अदसः' स्थाने जस्-शसोः परयोः 'ओइ' इत्यादेशो भवति । अपभ्रंश में 'अदस्' के स्थान पर, 'जस्' (प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय) और 'शस्' (= द्वितीया बहुवचन का प्रत्यय) लगने पर, 'ओइ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० जइ पुच्छह घर वड्डाइँ तो वड्डा घर ओइ ।
विहलिअ-जण-अब्भुद्धरणु कंतु कुडीरइ जोइ ॥

शब्दार्थ जइ-यदि । पुच्छह-पृच्छथ । घर-गृहाणि । वड्डाइँ (दे.)-महन्ति । तो-ततः । वड्डा-महन्ति । घर-गृहाणि । ओइ-अमूनि । विहलिअ-जण-अब्भुद्धरण-विफलित-जनाभ्युद्धरणम् । कंतु-कान्तम् । कुडीरइ-कुटीरके । जोइ-पश्य ॥

छाया यदि महन्ति गृहाणि पृच्छथ, ततः महन्ति गृहाणि अमूनि । विफलित-जनाभ्युद्धरणम् कान्तम कुटीरके पश्य ।

अनुवाद यदि बड़े घर को पूछते हो, तो वे (रहे) बड़े घर । निराश जनों के उद्धारक (मेरे) पति को (वहाँ) झोपड़ी में देख ।

वृत्ति अमूनि वर्तन्ते पृच्छ वा ॥

अनुवाद (उदाहरण में 'ओइ' को प्रथमा बहुवचन के रूप में लेने पर) 'वे रहें', (और द्वितीया बहुवचन के रूप में लेने पर) 'उनको पूछ' (ऐसा अर्थ लिया जा सकता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

365 इदम आयः ।

'इदम्' का 'आय–' ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'इदम्'–शब्दस्य स्यादौ 'आय–' इत्यादेशो भवति ॥

अपभ्रंश में इदम् शब्द का 'सि'(= प्रथमा एकवचन का) आदि (कारक-प्रत्यय) लगने पर 'आय–' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० (१) आयइँ लोअहो लोअणइँ जाई–सरइँ, न भंति ।
अ–प्पिएँ दिट्ठइ मउलिअहिं पिएँ दिट्ठइ विहसंति ॥

शब्दार्थ आयइँ–इमानि । लोअहो–लोकस्य । लोअणइँ–लोचनानि । जाई-सरइँ–जाति–स्मराणि । न–न । भंति–भ्रान्तिः । अ-प्पिएँ–अप्रिये । दिट्ठइ–दृष्टके, दृष्टे । मउलिअहिं–मुकुलन्ति । पिएँ–प्रिये । दिट्ठइ–दृष्टके, दृष्टे । विहसंति–विकसन्ति ॥

छाया लोकस्य इमानि लोचनानि जाति–स्मराणि, न भ्रान्तिः । (यतः तानि) अप्रिये दृष्टे मुकुलन्ति, प्रिये दृष्टे (तु) विकसन्ति ॥

अनुवाद लोगों के इन लोचनों को पूर्वजन्म की स्मृति होती है (इसमें) संदेह नहीं । (क्योंकि वे) अप्रिय जन को देखने पर मूँद जाते हैं, (जबकि) प्रिय को देखने पर विकसित होते हैं (= खिल उठते हैं) ।

उदा० (२) सोसउ म सोसउ च्चिअ, उअही वडवानलस्स किं तेण ।
जं जलइ जले जलणो, आएण वि किं न पज्जत्तं ॥

शब्दार्थ सोसउ–शुष्यतु । म–मा । सोसउ–शुष्यतु । च्चिअ–एव । उअही–उदधिः । वडवानलस्स–वडवानलस्य । किं–किम् । तेण–तेन । जं–यद् । जलइ–ज्वलति । जणे–जले । जलणो–ज्वलनः । आएण–अनेन । वि–अपि । किं–किं । न–न । पज्जत्तं–पर्याप्तम् ॥

छाया उदधिः शुष्यतु, मा (वा) शुष्यतु एव । वडवानलस्स तेन किं ? यद् जले ज्वलनः ज्वलति, अनेन अपि किम् न पर्याप्तम् ॥

अनुवाद समुद्र सोख लिए जाओ या न भी जाओ–इसमें बड़वानल का क्या जाता है ? क्या जल में अग्नि जलता हैं इससे (= इतना) भी पर्याप्त नहीं है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (३) आयहों दड्ढ-कलेवरहों जं वाहिउ तं सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥

शब्दार्थ आयहों-अस्य । दड्ढ-कलेवरहों-दग्ध-कलेवरस्य । जं-यद् । वाहिउ-वाहितम् (= लब्धम्) । तं-तत् । सारु-सारम् । जइ-यदि । उट्ठब्भइ-उत्तम्भाति । तो-ततः । कुहइ-कुथ्यति । अह-अथ । डज्झइ-दह्यते । तो-ततः । छारु-क्षारः ।

छाया अस्य दग्ध-कलेवरस्य यद् लब्धम् तत् सारम् । (यतः) यदि (तद्) उत्तम्भाति, ततः कुथ्यति, अथ दह्यते, ततः क्षारः ॥

अनुवाद इस मूए कलेवर का जो (कुछ) लाभ लिया जा सके, वही उत्तम । (क्योंकि प्राण चले जाने के बाद तो) यदि (उसे) रहने दिया जाये तो सड़ जायेगा, और (उसे) जला डाले तो राख (हो जायेगा) ।

366 सर्वस्य साहो वा ॥

'सर्व' का विकल्प में 'साह' ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'सर्व' शब्द का 'साह' ऐसा आदेश विकल्प में होता है ।

उदा० (१) साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डत्तणहों तणेण ।
वड्डप्पणु पर पाविअइ हत्थें मोक्कलडेण ॥

शब्दार्थ साहु-सर्वः । वि-अपि । लोउ-लोकः । तडप्फडइ (दे.)-प्रस्पन्दते । वड्डत्तणहों (दे.)-महत्त्वस्य । तणेन-सम्बन्धिना । वड्डप्पणु-महत्त्वम् । पर-परम् । पाविअइ-प्राप्यते । हत्थें-हस्तेन । मोक्कलडेण-मुक्तेन ।

छाया सर्वः अपि लोकः महत्त्वस्य सम्बन्धिना (कारणेन) प्रस्पन्दते । परम् महत्त्वम् मुक्तेन हस्तेन प्राप्यते ।

अनुवाद सब लोग बड़प्पन (पाने) के लिए हाथ-पैर मारते हैं/तड़पते हैं—परन्तु बड़प्पन (तो) खुले हाथों द्वारा ही पाया जा सकता है ।

वृत्ति पक्षे ॥

इसके प्रतिपक्ष में ('सर्व'-का 'सव्व' होता है । उसी प्रकार ऊपर का ही)

उदा० (२) सव्वु वि (यों पढ़े) ।

छाया सर्वः अपि ॥

अनुवाद सभी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

367 **किमः काइँ-कवणौ वा ॥**

'किम्' का विकल्प में 'काइँ' और 'कवण' ।

वृत्ति अपभ्रंशे किमः स्थाने 'काइँ', 'कवण' इत्यादेशौ वा भवतः ॥
अपभ्रंश में 'किम्' के स्थान पर 'काइँ', 'कवण' ऐसा विकल्प में आदेश होता है ।

उदा० (१) जइ न सु आवइ, दूइ, घरु काइँ अहो मुहु तुज्झु ।
वयणु जु खंडइ तउ, सहिएँ सो पिउ होइ न मज्झु ॥

शब्दार्थ जइ-यदि । न-न । सु-सः । आवइ-आयाति । दूइ-दूति । घरु-गृहम् । काइँ-किम् । अहो-अधः । मुहु-मुखम् । तुज्झु-तव । वयणु-(१) वचनम्, (२) वदनम् । जु-यः । खंडइ-खण्डयति । तउ-तव । सहिएँ-सखिके । सो-सः । पिउ-प्रियः । होइ-भवति । न-न । मज्झु-मम ॥

छाया दूति, यदि सः गृहम् न आयाति, तव मुखम् अधः किम् ? (हे) सखिके, यः तव वचनम् (पक्षे, वदनम्) खण्डयति, सो मम प्रियः न भवति ॥

अनुवाद दूती यदि वह घर नहीं आता तो (इसमें) तुम्हारा मुख क्यों झुका हुआ है ? हे सखी, जो तुम्हारा वचन (या, वदन) खंडित करे, वह मेरा प्रिय नहीं (ही) है ।

उदा० (२) काइँ न दूरे देक्खइ ॥ (देखिये 349/1)

उदा० (३) फोडेंति जे हिअडउँ अप्पणउँ ताहँ पराइ कवण घण ।
(देखिये 350/2)

उदा० (४) 'सुपुरिस कंगुहे अणुहरहिँ भण, कज्जे कवणेण' ।
'जिवँ जिवँ वङ्कत्तणु लहहिँ तिवँ तिवँ नवहिँ सिरेण' ॥

शब्दार्थ सुपुरिस-सुपुरुषाः । कंगुहे-कङ्गोः । अणुहरहिँ-अनुहरन्ति । भण-भण । कज्जे-कार्येण । कवणेण-केन । जिवँ जिवँ-यथा यथा । वङ्कत्तणु (दे.)-महत्त्वम् । लहहिँ-लभन्ते । तिवँ तिवँ-तथा तथा । नवहिँ-नमन्ति । सिरेण-शिरसा ।

छाया 'भण, सुपुरुषाः केन कार्येण कङ्गोः अनुहरन्ति ?' यथा यथा (ते) महत्त्वम् लभन्ते, तथा तथा (ते) शिरसा नमन्ति' ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद (प्रश्नः) 'बताओ, सत्पुरुष किंन कारणों (=किस प्रकार) (के पौधे) से मिलते-जुड़ते हैं ?'

(उत्तरः) '(दे) जैसे जैसे महत्त्व प्राप्त करते हैं, वैसे वैसे सिर से झुकते हैं ।

वृत्ति पक्षे ॥ इसके प्रति पक्ष में :

उदा० (५) जइ ससणेही, तो मुइअ अह जीवइ, निण्णेह ।
बिहिँ वि पयारेँहिँ धण गइअ किं गज्जहि, खल मेह ? ॥

शब्दार्थ जइ–यदि । ससणेही–सस्नेहा । तो–ततः । मुइअ–मृता । अह–अथ । जीवइ–जीवति । निण्णेह–निःस्नेहा । विहिँ वि–द्वाभ्याम् अपि । पयारेँहिँ–प्रकाराभ्याम् । धण (दे.)–प्रिया । गइअ–गता । किं–किम् । गज्जहि–गर्जसि । खल मेह–खल मेघ ॥

छाया यदि सस्नेहा, ततः मृता । अथ जीवति, तदा निःस्नेहा । द्वाभ्याम् अपि प्रकाराभ्याम् (मम) प्रिया गता । (ततः) खल मेघ, किं (वृथा) गर्जसि ? ॥

अनुवाद यदि (मेरे प्रति) सस्नेह (रही होगी) तो (इस समय तो) मर गयी (होगी); और यदि (वह) जिंदा होगी, (तो मेरे प्रति) निःस्नेह (होगी); (इस प्रकार) दोनों दृष्टि से प्रियतमा गयी (ही है तो) हे दुष्ट मेघ, (अब व्यर्थ) क्यों गरजता है ?

368. युष्मदः सौ तुहुँ ॥

'युष्मद्' का 'सि' लगने पर, 'तुहुँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे युष्मदः सौ परे 'तुहुँ' इत्यादेशो भवति ॥

अनुवाद अपभ्रंश में 'युष्मद्' का, 'सि' (= प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) लगने पर, 'तुहुँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० भमर, म रुणझुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ ।
सा मालइ देसंतरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ भमर—(हे) भ्रमर । म–मा । रुणझुणि–रुणझुणु-शब्दं कुरु । रण्णडइ–अरण्ये । सा–ताम् । दिसि–दिशम् । जोइ–दृष्ट्वा । म–मा । रोइ–रुदिहि । सा–सा । मालइ–मालती । देसंतरिअ–देशान्तरिता । जसु–यस्याः । तुहुँ–त्वम् । मरहि–म्रियसे । विओइ–वियोगे ॥

छाया (हे) भ्रमर, अरण्ये रुणझुणु-शब्दम् मा कुरु । ताम् दिशम् दृष्ट्वा (च) मा रुदिहि । यस्याः वियोगे त्वम् म्रियसे, सा मालती (तु) देशान्तरिता ॥

अनुवाद हे भ्रमर, अरण्य में मत गुनगुना; (और) उस ओर देखकर मत रो। जिसके वियोग में तु मर रहा है वह मालती (तो) दूसरे देश में (चली गयी) है ।

369. जस्-शसोस्तुम्हे तुम्हइँ ॥

'जस्' और 'शस्' लगने पर 'तुम्हे', 'तुम्हइँ'।

वृत्ति अपभ्रंशे युष्मदो जसि शसि च प्रत्येकं 'तुम्हे' 'तुम्हइँ' इत्यादेशौ भवतः। अपभ्रंश में 'युष्मद' के 'जस्' (= प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय) और 'शस्' (= द्वितीया बहुवचन का प्रत्यय) लगने पर प्रत्येक में 'तुम्हें' (और) 'तुम्हइँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० (१) तुम्हे (या) तुम्हइँ जाणह ॥

छाया यूयम् जानीथ ॥

अनुवाद तुम जानते हो ।

उदा० (२) तुम्हे (या) तुम्हइँ पेच्छइ ॥

छाया युष्मान् प्रेक्षते ।

अनुवाद तुम्हें देखता है ।

वृत्ति वचनभेदो यथासङ्ख्य-निवृत्त्यर्थः ॥

अनुवाद (सूत्र में आदेश का) वचन भिन्न है वह (आदेश) क्रमशः है (ऐसी समझ) दूर करने के लिए ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

370 टाङ्यमा पइँ तइँ ॥

'टा', 'ङि', 'अम्' के साथ 'पइँ', 'तइँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'टा', 'ङि', 'अम्' इत्येतैः सह 'पइँ', 'तइँ' इत्यादेशौ भवतः । टाट । अपभ्रंश में 'टा' (= तृतीया एकवचन का प्रत्यय), 'ङि' (= सप्तमी एकवचन का प्रत्यय) और 'अम्' (= द्वितीया एकवचन का प्रत्यय) इनके सहित ('युष्मद्' के) 'पइँ, 'तइँ' ऐसे आदेश होते हैं (जैसे कि) 'टा' के साथ :-

उदा० (१) पइँ मुक्काहँ वि वर-तरु फिट्टइ पत्तत्तणं न पत्ताणं ।
तुह पुणु छाया जइ होज्ज कह-वि ता तेहिँ पत्तेहिं ॥

शब्दार्थ पइँ-त्वया । मुक्काहँ-मुक्तानाम् । वि-अपि । वर-तरु-वर-तरु । फिट्टइ (दे.)—विनश्यति । पत्तत्तणं-पत्रत्वम् । न-न । पत्ताणं-पत्राणाम् । तुह-तव । पुणु-पुनः । छाया-छाया । जइ-यदि । होज्ज-भवेत् । कह-वि-कथम् अपि । ता-तावत्, तहिँ । तेहिँ-तैः । पत्तेहिं-पत्रैः ॥

छाया (हे) वर-तरु त्वया मुक्तानाम् अपि पत्राणाम् पत्रत्वम् न विनस्यति । तव पुनः यदि छाया भवेत्, तर्हि (सा) कथम् अपि तैः पत्रैः (एव) ॥

अनुवाद हे तरुवर, तुम्हारे द्वारा त्याग किये गये (हों) फिर भी इन पत्तों का पर्णत्व नष्ट नहीं होता है, जब कि यदि तुम्हारी छाया है तो (चाहे) कैसे भी पर इन पत्तों के कारण (ही) ।

उदा० (२) मह्नु हिअउँ तइँ, ताएँ तुहुँ स वि अण्णें विणडिज्जइ ।
पिअ, काइँ करउँ हउँ, काइँ तुहुँ मच्छें मच्छु गिलिज्जइ ॥

शब्दार्थ मह्नु-मम । हिअउँ-हृदयम् । तइँ-त्वया । ताएँ-तया । तुहुँ-त्वम् । स-सा । वि-अपि । अण्णें-अन्येन । विणडिज्जइ (दे.)-व्याकुलीक्रियते । पिअ-प्रिय । काइँ-किम् । करउँ-करोमि । हउँ-अहम् । काइँ-किम् । तुहुँ-त्वम् । मच्छें-मत्स्येन । मच्छु-मत्स्यः । गिलिज्जइ-गिल्यते ॥

छाया मम हृदयम् त्वया, त्वम् तया, सा अपि अन्येन व्याकुलीक्रियते । प्रिय, किम् अहम् करोमि, किम् त्वम्, (यत्र) मत्स्येन मत्स्यः गिल्यते ॥

अनुवाद मेरा हृदय तुम्हारे द्वारा, तुम्हारा उसके द्वारा, और उसका भी किसी और के द्वारा विकल किया जाता है । (इस प्रकार जहाँ) मछली मछली द्वारा निगली जाती है, (वहाँ), हे प्रिय, क्या मैं करूं (या) क्या तुम ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्ति — ङिना ।
'ङि' के साथ :

उदा० (३) — पइँ मइँ बेहिँ वि रण-गयहिँ को जय-सिरि तक्केइ ।
केसहिँ लेप्पिणु जम-घरिणि भण, सुहु को थक्केइ ॥

शब्दार्थ — पइँ-त्वयि । मइँ-मयि । बेहिँ-द्वयोः । वि-अपि । रण-गयहिँ-रण-गतयोः । को-कः । जय-सिरि-जय-श्रियम् । तक्केइ-तर्कयति । केसहिँ-केशैः । लेप्पिणु-गृहीत्वा । जम-घरिणि-यम-गृहिणीम् । भण-भण । सुहु-सुखम् । को-कः । थक्केइ (दे.)-तिष्ठति ।

छाया — त्वयि मयि (च) द्वयोः अपि रण-गतयोः कः जय-श्रियम् तर्कयति ? भण, यम-गृहिणीम् केशैः गृहीत्वा कः सुखम् तिष्ठति ?

अनुवाद — तुम और मैं दोनों ही रणभूमि में उतरे अब फिर विजयश्री को (और) कौन लक्ष्य बनाये (= बना सके) ? कहो, यमगृहिणी को चोटी से पकड़ (ने के बाद) कौन सुख से रह सके ?

वृत्ति — एवं तइँ ॥अमा ॥
इसी प्रकार 'तइँ' (का उदाहरण दिया जा सकता हैं) । 'अम्' के साथ :—

उदा० (४) — पइँ मेल्लंतिहे महु मरणु मइँ मेल्लंतहों तुज्झु ।
सारस, जसु जो वेग्गला सो-वि कृदंतहों सज्झु ॥

शब्दार्थ — पइँ-त्वाम् । मेल्लंतिहे (दे.)-मुञ्चन्त्याः । महु-मम । मरणु-मरणम् । मइँ-माम् । मेल्लंतहों (दे.)-मुञ्चतः । तुज्झु-तव । सारस-(हे) सारस । जसु-यस्य । जो-यः । वेग्गला (दे.)-दूरस्थः । सो-वि-सः अपि । कृदंतहों-कृतान्तस्य । सज्झु-साध्यः ॥

छाया — त्वाम् मुञ्चन्त्याः मम मरणम्, माम् मुञ्चतः तव । (हे) सारस, यस्य यो दूरस्थः, सः अपि कृतान्तस्य साध्यः ॥

अनुवाद — तुम्हें छोड़कर जाते मेरा मरण (हो), (वैसे) मुझे छोड़कर जाते तुम्हारा । हे सारस, जो जिसके दूर रहे, वह कृतांत का साध्य होता है (= कृतांत का भोग बनता है) ।

वृत्ति — एवं 'तइँ' ॥
(इसी) प्रकार 'तइँ' (का उदाहरण दिया जा सकता है) ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

371 भिसा तुम्हेहिँ ॥

'भिस्' के साथ 'तुम्हेहिँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे युष्मदो भिसा सह 'तुम्हेहिँ' इत्यादेशो भवति ॥
अपभ्रंश में 'युष्मद्' का 'भिस्' (= तृतीया बहुवचन का प्रत्यय) सहित 'तुम्हेहिँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० तुम्हेँहिँ अम्हेँहिँ जं किअउँ दिट्ठउँ बहुअ-जणेण ।
तं तेवडुउँ समर-भरु निज्जिउ एक्क-खणेण ॥

शब्दार्थ तुम्हेँहिँ-युष्माभिः । अम्हेँहिँ-अस्माभिः । जं-यत् । किअउँ-कृतम् । दिट्ठउँ-दृष्टम् । बहुअ-जणेण-बहु-जनेन । तं-तत्, तदा । तेवडुउँ-तावन्मात्रः । समर-भरु-समर-भरः । निज्जिउ-निर्जितः । एक्क-खणेण-एक-क्षणेन ॥

छाया युष्माभिः अस्माभिः यत् कृतम्, (तत्) बहु-जनेन दृष्टम् । तदा तावन्-मात्रः समर-भरः एक-क्षणेन निर्जितः ।

अनुवाद तुमने (और) हमने जो किया, (वह) कई लोगों ने देखा । उस समय उतना बड़ा संग्राम हमने एक क्षण में जीत लिया ।

372 ङसि-ङस्भ्यां तउ तुज्झ तुध्र ॥

'ङसि' और 'ङस्' सहित 'तउ,' 'तुज्झ', 'तुध्र' ।

वृत्ति अपभ्रंशे युष्मदो ङसि-ङस्भ्यां सह 'तउ', 'तुज्झ', 'तुध्र' इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति ॥
अपभ्रंश में 'युष्मद्' के 'ङसि' (= पंचमी एकवचन का प्रत्यय और 'ङस्' (षष्ठी एकवचन का प्रत्यय) सहित 'तउ', 'तुज्झ', 'तुध्र' इस प्रकार ये तीन आदेश होते हैं ।
('ङसि' सहित-)

उदा० (१) तउ होंतउ आगदो । तुज्झ होंतउ आगदो । तुध्र होंतउ आगदो ॥

छाया त्वत् भवान् (= त्वत्तः) आगतः ॥

अनुवाद तुम्हारे पास से आया ।

वृत्ति ङस ॥
'ङस्' सहित—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (२) तउ गुण–संपइ, तुज्झ मदि तुध्र अणुत्तर खंति ।
जइ उप्पत्ति अण्ण जण महि–मंडलि सिक्खंति ॥

शब्दार्थ तउ–तव । गुण–सम्पइ–गुण–सम्पदम् । तुज्झ–तव । मदि–मतिम् । तुध्र–तव । अणुत्तर–अनुत्तराम् । खंति–क्षान्तिम् । जइ–यदि । उप्पत्ति–उत्पद्य (?) । अण्ण–अन्ये । जण–जनाः । महि–मंउलि–मही–मण्डले । सिक्खंति–शिक्षन्ते ।

छाया मही–मण्डले उत्पद्य (?) अन्ये जनाः तव गुण–सम्पदम्, तव मतिम्, तव अनुत्तराम् क्षान्तिम् (च) शिक्षन्ते (तर्हि वरम्) ॥

अनुवाद महीमंडल में उत्पन्न होकर (?) अन्य जन तुम्हारी गुणसंपत्ति, तुम्हारी बुद्धि (और) तुम्हारी असाधारण क्षमा सिखे (यदि !–) ।

373 भ्यसाम्भ्यां तुम्हहँ ॥

'भ्यस्' और 'आम्' सहित 'तुम्हहँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे युष्मदो 'भ्यस्' 'आम्' इत्येताभ्याम् सह 'तुम्हहँ' इत्यादेशो भवति ॥

अपभ्रंश में युष्मद् का, 'भ्यस्' (= पंचमी बहुवचन का प्रत्यय) और 'आम्' (= षष्ठी बहुवचन का प्रत्यय) ऐसे इन दो प्रत्ययों सहित, 'तुम्हहँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० (१) तुम्हहँ होंतउ आगदो ॥

छाया युष्मत् भवान् (= युष्मत्तः) आगतः ॥

अनुवाद तुम्हारे पास से आया ।

उदा० तुम्हहँ केरउँ धणु ॥

छाया युष्माकम् सम्बन्धि धनम् (वा धनुः) ।

अनुवाद तुम्हारा धन (या, धनुष्य) ।

374 तुम्हासु सुपा ॥

'सुप्' सहित 'तुम्हासु' ।

वृत्ति अपभ्रंशे युष्मदः सुपा सह 'तुम्हासु' इत्यादेशो भवति ।

अपभ्रंश में 'युष्मद' का, 'सुप्' (= सप्तमी बहुवचन का प्रत्यय) सहित 'तुम्हासु' ऐसा आदेश होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० तुम्हासु ठिअं ॥
युष्मासु स्थितम् ॥
तुम में स्थित ।

375 सावस्मदो हउँ ॥

अस्मद् का, 'सि' लगने पर, 'हउँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे अस्मदः सौ परे 'हउँ' इत्यादेशो भवति ॥
अपभ्रंश में 'अस्मद्' का 'सि' (प्रथमा एकवचन का प्रत्यय) लगने पर, 'हउँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० तसु हउँ कालि-जुगि दुल्लहहो ॥ (देखिए 338),

376 जस्-शसोरम्हे अम्हइँ ॥

जस् और शस् लगने पर 'अम्हे', 'अम्हइँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे अस्मदो जसि शसि च परे प्रत्येकम् 'अम्हे' 'अम्हइँ' इत्यादेशौ भवतः ।
अपभ्रंश में 'अस्मद्' के, 'जस्' (= प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय) और 'शस्' (= द्वितीया बहुवचन का प्रत्यय) लगने पर, प्रत्येक में 'अम्हे', 'अम्हइँ' ऐसे दो आदेश होते हैं ।

उदा० (१) 'अम्हे थोवा रिउ बहुअ' कायर एवँ भणंति ।
मुद्धि निहालहि गयण-यलु कइ जण जोण्ह करंति ॥

शब्दार्थ अम्हे-वयम् । थोवा-स्तोकाः । रिउ-रिपवः । बहुअ-बहवः । कायर-कातराः । एवँ-एवम् । भणंति-भणन्ति । मुद्धि-मुग्धे । निहालहि-निभालय, विलोकय । गयण-यलु-गगन-तलम् । कइ-कति । जण-जनाः । जोण्ह-ज्योत्स्नाम् । करंति-कुर्वन्ति ॥

छाया 'वयम् स्तोकाः, रिपवः बहवः' एवम् कातराः भणन्ति । मुग्धे, गगन-तलम् विलोकय । कति जनाः ज्योत्स्नाम् कुर्वन्ति ?

अनुवाद 'हम कम (हैं जबकि) शत्रु (तो) बहुत (है)' ऐसा कायर कहते हैं । मुग्धा, नभमंडल को देख-कितने लोग ज्योत्स्ना (उत्पन्न) करते हैं ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (२) अंवणु लाइवि जे गया पहिअ पराया के-वि ।
अवसु न सुअहिँ सुइच्छिअहिँ जिवँ अम्हइँ तिवँ ते-वि ॥

शब्दार्थ अंवणु–अम्लनम् । लाइवि–लागयित्वा । जे–ये । गया–गताः । पहिअ–पथिकाः । पराया–परकीयाः । के–वि–के अपि । अवसु–अवश्यम् । न–न । सुअहिँ–स्वपन्ति । सुहच्छिअहिँ–सुखासिकायाम् । जिवँ–यथा । अम्हइँ–वयम् । तिवँ–तथा । ते-वि–ते अपि ॥

छाया ये केऽपि परकीयाः पथिकाः अम्लनम् लागयित्वा गताः (ते) अवश्यम् सुखासिकायाम् न स्वपन्ति । यथा वयम्, तथा ते अपि ॥

अनुवाद जो कुछ पराये पथिक स्नेह का चटोरा स्वाद लगाकर गये हैं, (वे) निश्चय ही चैन से सोते नहीं होंगे । जैसे हम (= जैसी हमारी दशा), वैसे वे भी (= वैसी उनकी भी दशा) ।

उदा० (३) अम्हे देक्खइ । अम्हइँ देक्खइ ॥

छाया अस्मान् पश्यति ।

अनुवाद हमें देखते हैं ।

वृत्ति वचन–भेदो यथासङ्ख्य–निवृत्त्यर्थः ।
(सूत्र में आदेशका) वचन भिन्न है वह, (आदेश) क्रमशः है (ऐसी समझ) दूर करने के लिए ।

377 टा-ङ-ष्यमा मइँ ॥

टा, ङि, अम् सहित मइँ ।

वृत्ति अपभ्रंशे अस्मदः टा, ङि, अम् इत्येतैः सह 'मइँ' इत्यादेशो भवति । टा ।
अपभ्रंश में 'अस्मद्' का 'टा' (= तृतीया एकवचनका प्रत्यय), 'ङि' (= सप्तमी एकवचन का प्रत्यय) और 'अम्' (= द्वितीया एकवचन का प्रत्यय) इनके सहित 'मइँ' ऐसा आदेश होता है । (जैसे कि)
टा सहित—

उदा० (१) मइँ जाणिउँ, पिअ-विरहिअहँ क-वि घर होइ विआलि ।
नवर निअंकु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खय-गालि ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ मइँ-मया । जाणिउँ-ज्ञातम् । प्रिअ-विरहिअहँ-प्रिय-विरहितानाम् । क-वि-का अपि । धर-धृतिः, अवलम्बनम् । होइ-भवति । विआलि-विकाले, सन्ध्या-काले । नवर-परन्तु । मिअंकु-मृगाङ्कः । वि-अपि । तिह-तथा । तवइ-तपति । जिह-यथा । दिणयरु-दिनकरः । खय-गालि-क्षय-काले ।

छाया मया ज्ञातम् (यद्) प्रिय-विरहितानाम् सन्ध्याकाले का-अपि धृतिः भवति । परन्तु मृगाङ्कः अपि तथा तपति, यथा क्षय-काले दिनकरः ।

अनुवाद मैंने सोचा कि प्रिय का विरह सहते लोगों को शाम को (= शाम होने पर) तो कुछ चैन (मिलता) होगा । परंतु इससे विपरित चंद्र ऐसा तपता है जैसे प्रलयकाल का सूर्य !

वृत्ति ङिना ।
'ङि' सहित :—

उदा० (२) पइँ मइँ बेहिँ वि रण-गयहिँ ॥ (देखिये 370/3).

वृत्ति अमा ॥
'अम्' सहित —

उदा० (३) मइँ मेल्लंतहो तुज्झु । (देखिये 370/4)

378 अम्हेहिँ भिसा ॥

'भिस्' सहित 'अम्हेहिँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे अस्मदो भिसा सह 'अम्हेहिँ' इत्यादेशो भवति ॥
अपभ्रंश में 'अस्मद्' का 'भिस्' (= तृतीया बहुवचन का प्रत्यय) सहित 'अम्हेहिँ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० तुम्हेहिँ अम्हेहिँ जं किअउँ ॥ (देखिये 371).

379 महु मज्झु ङसि-ङस्भ्याम् ॥

'ङसि' और 'ङस्' सहित 'महु', 'मज्झु' ।

वृत्ति अपभ्रंशे अस्मदो ङसिना ङसा च सह प्रत्येकं 'महु', 'मज्झु' इत्यादेशौ भवतः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश में 'अस्मद्' के 'ङसि' (= पंचमी एकवचन का प्रत्यय) और 'ङस्' (= षष्ठी एकवचन का प्रत्यय) सहित प्रत्येक में 'महु', 'मज्झु' ऐसे दो आदेश होते हैं । ('ङसि' सहित :—)

उदा० (१) महु होंतउ गदो । मज्झु होंतउ गदो ।।

छाया मत् भवान् (= मत्तः) गतः ।।
मेरे पाससे गया ।

वृत्ति ङसा ।।

ङस् सहित :—

उदा० (२) महु कंतहों बे दोसडा, हेल्लि, म झंखहि आलु ।
देंतहों हउँ पर उव्वरिअ जुज्झंतहों करवालु ।।

शब्दार्थ महु-मम । कंतहों-कान्तस्य । बे-द्वौ । दोसडा-दोषौ । हेल्लि-हे सखि । म-मा । झंखहि (दे.)-वद । आलु (दे)-अनर्थकम । देंतहों-ददतः । हउँ-अहम् । पर-परम्, केवलम् । उव्वरिअ (दे.)-अवशिष्टा । जुज्झंतहों-युध्यमानस्य । करवालु-करवालः ।

छाया हे सखि, (त्वम्) अनर्थकम् मा वद । मम कान्तस्स (तु) द्वौ दोषौ । ददतः (तस्य) अहम् केवलम् अवशिष्टा, युध्यमानस्य (तस्य) करवालः (अवशिष्टः) ।

अनुवाद (मेरे पतिकी प्रशंसा करके) हे सखी, (तु) निरर्थक मत बोल । (क्योंकि) मेरे पति में (तो) दो दोष हैं । (जैसे कि) दान देने में केवल मैं (अभी) बाकी रह गयी (हुं), (और) युद्ध करते (अभी एक) तलवार (बाकी रह गयी है) ।

उदा० (३) जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि, मज्झु प्रिएण ।
अह भग्गा अम्हहँ तणा तो तें मारिअडेण ।।

शब्दार्थ जइ-यदि । भग्गा-भग्नाः । पारक्कडा-परकीयाः । तो-ततः । सहि—(हे) सखि । मज्झु-मम । प्रिएण-प्रियेण । अह-अथ । भग्गा-भग्नाः । अम्हहँ तणा-अस्माकम् सम्बन्धिनः । तो-ततः । तें-तेन । मारिअडेण-मारितेन ।

छाया (हे) सखि, यदि परकीयाः (सुभटाः) भग्नाः, ततः (ते) मम प्रियेण (भग्नाः) । अथ अस्माकम् सम्बन्धिनः भग्नाः, ततः तेन मारितेन ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद हे सखी, तितर–बितर यदि शत्रु के (सैनिक) हुए हों तो पर मेरे पति के कारण (ही); परंतु यदि हमारा (सैन्य) तितर–बितर हुआ है तो उसके (= मेरे पति) मरने के कारण ।

380 **अम्हहँ भ्यसाम्भ्याम् ॥**

'भ्यस्' और 'आम्' सहित 'अम्हहँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे अस्मदो भ्यसा आमा च सह **'अम्हहँ'** इत्यादेशो भवति ।
अपभ्रंश में 'अस्मद्' का, 'भ्यस्' (=पंचमी बहुवचन का प्रत्यय) और 'आम्' (= षष्ठी बहुवचन का प्रत्यय) सहित 'अम्हहँ' ऐसा आदेश होता है । (जैसे कि 'भ्यस्' सहित —)

उदा० (१) अम्हहँ होंतउ आगदो ॥

छाया अस्मत् भवान् (=अस्मत्तः) आगतः ॥
हमारे पास से आया ।

उदा० (२) अह भग्गा **अम्हहँ** तणा ॥ (देखिये 379/3)

381 **सुपा अम्हासु ॥**

'सुप्' सहित 'अम्हासु' ।

वृत्ति अपभ्रंशे अस्मदः सुपा सह 'अम्हासु' इत्यादेशो भवति ॥
अपभ्रंश में 'अस्मद्' का 'सुप्' सहित 'अम्हासु' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० अम्हासु ठिअं ॥

छाया अस्मासु स्थितम् ॥
हममें स्थित ।

382 **त्यादेराद्य–त्रयस्य बहुत्वे हिँ न वा ॥**

'त्यादि' के आद्य तीन में से बहुवचन में विकल्प में '०हिँ' ।

वृत्ति त्यादीनामाद्यत्रयस्य सम्बन्धिनो बहुष्वर्थेषु वर्तमानस्य वचनस्यापभ्रंशे 'हिँ' इत्यादेशो वा भवति ॥
(वर्तमानकाल, आदि के) 'ति' आदि (प्रत्यय में) के आरंभ के तीन में से बहुवचनार्थ प्रत्यय का अपभ्रंश में –'हिँ' ऐसा आदेश विकल्प में होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० मुह-कवरिबंध तहें सोह धरहिँ नं मल्ल-जुज्झु ससि-राहु करहिँ ।
तहें सहहिँ कुरल भमर-उल-तुलिअ नं तिमिर-डिंभ खेल्लंति मिलिअ ।

शब्दार्थ मुह-कबरिबंध-मुख-कबरीबन्धौ । तहें-तस्याः । सोह-शोभाम् । धरहिँ-धरतः । नं-ननु, यथा । मल्ल-जुज्झु-मल्लयुद्धम् । ससि-राहु-शशि-राहू । करहिँ-कुरुतः । तहें-तस्याः । सहहिँ (दे.)-शोभन्ते । कुरल-कुरलाः । भमर-उल-तुलिअ—भ्रमर-कुल-तुलिताः । नं-ननु, यथा । तिमिर-डिंभ-तिमिर-डिम्भाः । खेल्लंति(दे.)-क्रीडन्ति । मिलिअ-मिलिताः ॥

छाया तस्याः मुख-कबरीबन्धौ शोभां धरतः, यथा शशि-राहू मल्ल-युद्धम् कुरुतः । तस्याः भ्रमर-कुल-तुलिताः कुरलाः शोभन्ते, यथा तिमिर-डिम्भाः मिलिताः क्रीडन्ति ॥

अनुवाद उसका मुख और कबरी (ऐसी) शोभा धारण करते हैं, मानों चन्द्र और राहु मल्लयुद्ध कर रहे हो । भ्रमर समूह के साथ तुलना की जा सके ऐसी उसकी घूंघराली लटें (ऐसी) शोभा दे रही है, मानों तिमिर के बच्चे मिलकर खेल रहे हों !

383 मध्य-यत्रस्याद्यस्य हिः ॥

बीच के तीन के आद्य का 'हि' ।

वृत्ति त्यादीनां मध्य-त्रयस्य यदाद्यं वचनं तस्यापभ्रंशे 'हि' इत्यादेशो भवति । 'ति' आदि (प्रत्ययों में) के बीच के तीन का जो आद्य वचन उसके (प्रत्यय का) अपभ्रंश में-'हि' ऐसा आदेश विकल्प में होता है ।

उदा० (१) बप्पीहा, 'पिउ पिउ' भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जलि, महु पुणु वल्लहइ बिहुँ वि न पूरिअ आस ॥

शब्दार्थ बप्पीहा-(हे) चातक । 'पिउ' 'पिउ'-पिबामि, पिबामि (पक्षे, प्रियः प्रियः) । भणवि-भणित्वा । कित्तिउ-कियद् । रुअहि-रोदिषि । हयास-हताश । तुह-तव । जलि-जले । महु-मम । पुणु-पुनः । वल्लहइ-वल्लभ के, वल्लभे । बिहुँ-द्वयोः । वि-अपि । न-न । पूरिअ-पूरिता । आस-आशा ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया (हे) चातक, 'पिबामि पिबामि' (पक्षे, 'प्रियः प्रियः') (इति) भणित्वा, हताश, कियद् रोदिषि । तव जले, मम पुनः वल्लभे, द्वयोः अपि आशा न पूरिता ॥

अनुवाद (हे) पपीहे, 'पीउ पीउ' (ऐसा) बोलकर (तु) कितना रोता है ! हताश, तुम्हारी जल विषयक तथा मेरी प्रियतम विषयक (यों) दोनों की आशा पूरी नहीं हुई ।

वृत्ति आत्मनेपदे ।
आत्मनेपद में :—

उदा० (२) बप्पीहा, काइँ वोल्लिएँण निग्घिण वार-इ-वार ।
सायरि भरिअइ विमल-जलि लहहि न एक्क-इ धार ॥

शब्दार्थ बप्पीहा—(हे) चातक । काइँ—किम् । बोल्लिएँण (दे.)—ब्रूतेन । निग्घिण—निर्घृण । वार—इ—वार—वारंवारम् । सायरि—सागरे । भरिअइ—भरिते । विमल—जलि—विमल—जलेन । लहहि—लभसे । न—न । एक्क—इ—एकाम् अपि । धार—धाराम् ॥

छाया (हे) चातक, (हे) निर्घृण, वारंवारम् ब्रूतेन किम् । विमल-जलेन भृते (अपि) सागरे, (त्वम्) एकाम् अपि धाराम् न लभसे ॥

अनुवाद (हे) पपीहे, निर्लज्ज, बार-बार बोलने से क्या लाभ ? समुद्र निर्मल जल से भरा होने के बावजुद तुम्हें एक भी धार मिलनेवाली नहीं है ।

वृत्ति सप्तम्याम् ।
विध्यर्थ में :-

उदा० (३) आएँहिँ जम्महिँ, अण्णहिँ वि गोरि सु दिज्जहि कंतु ।
गय-मत्तहँ चत्तंकुसहँ जो अब्भिडइ हसंतु ॥

शब्दार्थ आएँहिँ—अस्मिन् । जम्महिँ—जन्मनि । अण्णहिँ—अन्यस्मिन् । वि—अपि । गोरि—(हे) गौरि । सु—तम् । दिज्जहि—दद्याः । कन्तु—कान्तम् । गय—मत्तहँ—मत्त—गजानाम् । चत्तंकुसहँ—त्यक्ताङ्कुशानाम् । जो—यः । अब्भिडइ (दे.)—संगच्छते । हसंतु—हसन् ॥

छाया (हे) गौरि, अस्मिन् जन्मनि अन्यस्मिन् अपि, तम् कान्तम् दद्याः, यः त्यक्ताङ्कुशानाम् मत्त-गजानाम् हसन् संगच्छते ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद हे गौरी, इस जन्म में तथा अन्य जन्म में (मुझे) ऐसा पति देना, जो अंकुश से भी वस में न आ सके ऐसे मत्त गजों से हँसते (हँसते) भीड़ जाये ।

वृत्ति० पक्षे 'रुअसि' इत्यादि ।
अन्य पक्ष में ('रुअहि' इत्यादि के स्थान पर) 'रुअसि' इत्यादि (होते हैं) ।

384 बहुत्वे हु ॥

बहुवचन में 'हु' ।

वृत्ति त्यादीनां मध्यत्रयस्य सम्बन्धि बहुष्वर्थेषु वर्तमानं यद्वचनं तस्यापभ्रंशे 'हु' इत्यादेशो वा भवति ।

'ति' आदि (प्रत्यय) के बीच के तीन (प्रत्यय) को लगते बहुत्व के अर्थ में रहा हुआ जो वचन है (उसके प्रत्यय) का अपभ्रंश में 'हु' ऐसा आदेश विकल्प में होता है ।

उदा० बलि-अब्भत्थणि महुमहणु लहुईहूआ सो-इ ।
जइ इच्छहु वड्डत्तणउँ देहु, म मग्गहु को-इ ॥

शब्दार्थ बलि-अब्भत्थणि-बल्यभ्यर्थने । महुमहणु-मधुमथनः । लहुईहूआ-लघुकीभूतः । सो-इ-सः अपि । जइ-यदि । इच्छहु-इच्छथ । वड्डत्तणउँ (दे.)-महत्त्वम् । देहु-दत्त । म-मा । मग्गहु--मार्गयत (याचध्वम्) । को-इ-कम् अपि ॥

छाया सः अपि मधुमथनः, बल्यभ्यर्थने लघुकीभूतः । यदि महत्त्वम् इच्छथ, (तर्हि) दत्त, मा मू क अपि याचध्वम् ॥

अनुवाद ऐसे (महान) विष्णु को भी बलि के (पास) अभ्यर्थना करने के लिये वामन होना पड़ा । (अर्थात्) यदि महत्त्व चाहते हो, (तो) (दान) दो, किसी से माँगो मत ।

वृत्ति पक्षे 'इच्छह' इत्यादि ।
अन्य पक्ष में (इच्छहु' इत्यादि के स्थान पर 'इच्छह' इत्यादि होते (हैं)।

385 अन्त्य-त्रयस्याद्यस्य उँ ।

अन्त्य त्रय के आद्य का 'उँ' ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्ति — स्यादीनामन्त्य-त्रयस्य यदाद्यं वचनं तस्यापभ्रंशे 'उँ' इत्यादेशो वा भवति।
'ति' आदि (प्रत्यय) में को अंत्य तीन का जो आद्य वचन (उसके प्रत्यय) का अपभ्रंश में 'उँ' ऐसा आदेश विकल्प में होता है।

उदा० (१) विहि विणडउ, पीडंतु गह मं घणि करहि विसाउ।
संपइ कड्ढउँ वेस जिवँ छुडु अग्घइ ववसाउ॥

शब्दार्थ — विहि–विधिः। विणडउ (दे.)–व्याकुलीकरोतु। पीडंतु–पीडयन्तु। गह–ग्रहाः। मं–मा। घणि (दे.)–प्रिये। करहि–कुरु। विसाउ–विषादम्। संपइ–सम्पदम्। कड्ढउँ–कर्षयामि। वेस–वेश्याम्। जिवँ–यथा, इव। छुडु–यदि। अग्घइ—अर्घते। ववसाउ–व्यवसायः।

छाया — विधिः व्याकुलीकरोतु। ग्रहाः पीडयन्तु। हे प्रिये, (त्वम्) विषादम् मा कुरु। यदि व्यवसायः अर्घते (? स्यात् ?), (अहम्) सम्पदम् वेश्याम् इव कर्षयामि !!

अनुवाद — विधाता भले ही व्याकुल करे। ग्रह भले ही त्रास दे। हे प्रिये, विषाद मत कर। यदि (केवल कोई) अनुकुल व्यवसाय हो, (तो) संपत्ति को (तो) वेश्या की भाँति खिंच लाऊँ।

उदा० (२) बलि किज्जउँ सुअणस्सु॥ (देखिये 338)।

वृत्ति — पक्षे॥ अन्य पक्ष में—

उदा० (३) 'कड्ढामि' इत्यादि॥
('कड्ढउँ' आदि के बदले) 'कड्ढामि आदि (होता है)।

386 बहुत्वे हुँ॥

बहुवचन में 'हुँ'।

वृत्ति — स्यादीनामन्त्य-त्रयस्य सम्बन्धि बहुत्वर्थेषु वर्तमानं यद्वचनं तस्य 'हुँ' इत्यादेशो वा भवति।
'ति' आदि (प्रत्यय में) के अन्त्य तीन में जो वचन बहुत्व के अर्थ में स्थित है, (उसका) 'हुँ' ऐसा आदेश विकल्प में होता है।

उदा० (१) खग्ग–विसाहिउ जहिँ लहहुँ पिअ, तहिँ देसहिँ जाहुँ।
रण–दुब्भिक्खें भग्गाइँ विणु जुज्झें न वलाहुँ॥

शब्दार्थ — खग्ग–विसाहिउ–खड्ग–विसाधितम्। जहिँ–यत्र। लहहुँ–लभामहे। पिअ–प्रिय। तहिँ–तस्मिन्। देसहिँ–देशे। जाहुँ–यामः। रण–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुब्भिक्खें–रण–दुर्भिक्षेण । भग्गाइँ–भग्नाः । विणु–विना । जुज्झें–युद्धेन । न–न । वलाहुँ–वलामहे ।

छाया — प्रिय, यत्र खड्ग–विसाधितम् लभामहे, तस्मिन् देशे यामः । रण–दुर्भिक्षेण भग्नाः (वयम्) युद्धेन विना न वलामहे ।।

अनुवाद — (हे) प्रिय, खड्ग से अर्जित (खड्ग के प्रयोग द्वारा प्राप्त वस्तु) जहाँ हमें मिले, वैसे देश में चलें । युद्ध के अकाल से हम (तो) टूट चूके, युद्ध बिना हम स्वस्थ नहीं होंगे ।

वृत्ति — पक्षे ।। प्रतिपक्ष में—

तदा० — 'लहिमु' इत्यादि ॥

('लहहुँ' आदि के बदले) 'लहिमु' आदि (होता है) ।

387 हि–स्वयोरिदुदेत् ।।

'हि', 'स्व' का 'इ', 'उ', 'ऍ' ।

वृत्ति — पञ्चम्या हिस्वयोरपभ्रंशे 'इ', 'उ' 'ऍ' इत्येते त्रय आदेशा वा भवन्ति ।। इत् ।

आज्ञार्थ के '०हि', '०स्व' के, अपभ्रंश में 'इ', 'उ', 'ऍ' ऐसे तीन आदेश विकल्प में होते हैं । (जैसे कि) 'इ' :–

उदा० (१) कुंजर सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि ।
कवल जि पाविय विहि–वसिण ते चरि माणु म मेल्लि ।।

शब्दार्थ — कुंजर–(हे) कुञ्जर । सुमरि–स्मर । म–मा । सल्लइउ–सल्लकीः । सरला–सरलान् । सास–श्वासान् । म–मा । मेल्लि (दे.)–मुञ्च । कवल–कवलाः । जि–ये । पाविय–प्राप्ताः । विहि–वसिण–विधि–वशेन । ते–तान् । चरि–चर । माणु–मानम् । म–मा । मेल्लि (दे.)–मुञ्च ।।

छाया — (हे) कुञ्जर, सल्लकीः मा स्मर । सरलान् श्वासान् मा मुञ्च । कवलाः विधि–वशेन प्राप्ताः, तान् चर । मानम् मा मुञ्च ।।

अनुवाद — हे कुंजर, सल्लकिओं को याद मत कर । ठंडी आहें मत भर । विधिवश जो कौर मिले हैं, वह चर । मान मत छोड़ ।

वृत्ति — उत् ।

'उ' —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (२) भमरा, एत्थु वि लिंबडइ केँ–वि दिअहडा विलंबु ।
घण–पत्तलु छाया–बहुलु फुल्लइ जाम कयंबु ।

शब्दार्थ भमरा–भ्रमर । एत्थु–अत्र । वि–अपि । लिंबडइ–निम्बे । के–वि–कानपि । दिअहडा–दिवसान् । बिलंबु–बिलम्बस्व । घण–पत्तलु–घन–पत्रवान् । छाया–बहुलु–छाया–बहुलः । फुल्लइ–फुल्लति । जाम–यावत् । कयंबु–कदम्बः ।

छाया भ्रमर, अत्र निम्बे अपि (तावत्) कानपि दिवसान विलम्बस्व । यावत् घनपत्रवान् छाया–बहुलः कदम्बः फुल्लति ॥

अनुवाद (हे) भ्रमर, घने पत्तोंवाला (= सघन), घनी छाँहवाला कदंब खिले, तबतक कुछ दिन तो यहाँ नीम पर ठहर (= निवास कर) ।

वृत्ति एत् ।
'एँ' :-

उदा० (३) प्रिय एवँहिँ करेँ सेल्लु करि छड्डु हे तुहुँ करवालु ।
जं कावालिय बप्पुडा लेहिँ अभग्गु कवालु ॥

शब्दार्थ प्रिय–(हे) प्रिय । एवँहिँ–इदानीम् । करेँ–कुरु । सेल्लु (दे.)–भल्लम् । करि–करे । छड्डुहि (दे.)–त्यज । तुहुँ–त्वम् । करवालु–करवालम् । जं–यद् । कावालिय–कापालिकाः । बप्पुडा (दे.)–वराकाः । लेहिँ–गृह्णन्ति । अभग्गु–अभग्नम् । कवालु–कपालम् ॥

छाया प्रिय, इदानीम् करे भल्लम् कुरु । त्वम् करवालम् त्यज । यद् वराकाः कापालिकाः अभग्नम् कपालम् गृह्णन्ति ॥

अनुवाद (हे) प्रिय, अब तुम तलवार छोड़ दो (और) हाथ में भाला लो, जिससे बेचारे कापालिकों (को) साबूत खोपड़ी (तो) ले (मिले) ।

वृत्ति पक्षे (४)–'सुमरहि' इत्यादि ।
इसके अन्य पक्ष में, ('सुमरि' के बदले) 'सुमरहि' आदि (होता है) ।

388 वर्त्स्यति–स्यस्य सः ॥

भविष्यकाल के 'स्य' का 'स०' ।

वृत्ति अपभ्रंशे भविष्यदर्थविषयस्य त्यादेः स्यस्य 'सो' वा भवति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'ति' आदि (प्रत्यय लगने पर,) भविष्य अर्थ विषयक काल के 'स्य' का विकल्प में 'स' होता है ।

उदा० दिअहा जंति झडप्पडहिँ पडहिँ मणोरह पच्छि ।
जं अच्छइ तं माणिअइ 'होसइ' करँतु म अच्छि ॥

शब्दार्थ दिअहा–दिवसाः । जंति–यान्ति । झडप्पडहिँ (दे.)–वेगैः । पडहिँ–पतन्ति । मणोरह–मनोरथाः । पच्छि–पश्चात् । जं–यद् । अच्छइ-अस्ति । तं–तद् । माणिअइ–मान्यते (= भुज्यते) । होसइ-भविष्यति । करँतु–कुर्वन् । म–मा । अच्छि–आस्स्व ।

छाया दिवसाः वेगैः यान्ति, मनोरथाः (तु) पश्चात् पतन्ति । (अतः) यद् अस्ति तद् भुज्यते (= भुञ्जीत) । 'भविष्यति' (इति) कुर्वन् मा आस्स्व ॥

अनुवाद दिन कटाकट भाग रहे हैं, (और) मनोरथ पीछे रह जाते हैं) । (तो) जो है उसका मजा ले लें, (= ले, और) 'देखेंगे, (होगा)' कहता बैठा मत रह ।

वृत्ति पक्षे 'होहिइ' ।
इसके अन्यपक्ष में, (होसइ के बदले) 'होहिइ' (होता है)।

389 क्रियेः कीसु ॥

'क्रिये' का 'कीसु' ।

वृत्ति 'क्रिये' इत्येतस्य क्रियापदस्यापभ्रंशे 'कीसु' इत्यादेशो वा भवति ।
'क्रिये' इस क्रिया (= आख्यातिक रूप) का अपभ्रंश में 'कीसु' ऐसा आदेश विकल्प में होता है ।

उदा० (१) संता भोग जु परिहरइ तसु कंतहों बलिकीसु ।
तसु दइवेण वि (?) मुंडियउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु ॥

शब्दार्थ संता–सतः । भोग–भोगान् । जु–यः । परिहरइ–परिहरति । तसु–तस्मै । कंतहों–कान्ताय । बलिकीसु–बलीक्रिये । तसु–तस्य । दइवेण–दैवेन । वि–अपि । मुंडियउँ–मुण्डितम्, मुण्डितम् । जसु–यस्य । खल्लि–हडउँ (दे.)–खल्वाटम् । सीसु–शीर्षम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया यः सतः भोगान् परिहरति, तस्मै कान्ताय (अहम्) बलीक्रिये । यस्य (तु) खल्वाटम् शीर्षम्, तस्य दैवेन अपि (?) मुण्डितम् ।

अनुवाद उपलब्ध होने पर भी जो भोगों का त्याग करता है ऐसे पति पर (मैं) बलिदान के रूप में दी जाऊँ (=उस पर बलि बलि जाऊँ) । वैसे तो जिसका सिर मूँड़ा हुआ है, वह (तो) भाग्य द्वारा भी (? भाग्य ने ही मूँड़ा गया है ।

वृत्ति पक्षे, साध्यमानावस्थात् 'क्रिये' इति संस्कृतशब्दादेव प्रयोगः ।
इसके अन्य पक्ष में, 'क्रिये'–यह साध्यमान अवस्थावाले संस्कृत शब्द में से ऐसा प्रयोग (होता है) :-

उदा० (२) बलिकिज्जउँ सुअणस्सु । (देखिये 338) ।

390 भुवः पर्याप्तौ 'हुच्चः' ॥

'भू' का 'पर्याप्ति' अर्थ में 'हुच्च' ।

वृत्ति अपभ्रंशे भुवो धातोः, पर्याप्तावर्थे वर्तमानस्य 'हुच्च' इत्यादेशो भवति ।
अपभ्रंश में पर्याप्ति के अर्थ में स्थित 'भू' धातु का 'हुच्च' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० अइ-तुंगत्तणु जं थणहँ सो छेअउ न-हु लाहु ।
सहि जइ केवँ-इ तुडि-वसें ण अहरि पहुच्चइ नाहु ॥

शब्दार्थ अइ–तुंगत्तणु–अति–तुङ्गत्वम् । जं–यद् । थणहँ–स्तनयोः । सो–सः । छेअउ–छेदः । न–हु–न खलु । लाहु–लाभः । सहि–सखि । जइ–यदि ? केवँइ–कथमपि । तुडि–वसें ण–त्रुटि–वशेन, कालविलम्बेन । अहरि–अधरे । पहुच्चइ–प्रभवति । नाहु–नाथः ॥

छाया स्तनयोः यद् अति-तुङ्गत्वद्, सः छेदः, न खलु लाभः । सखि, यदि नाथः अधरे प्रभवति, कथमपि कालविलम्बेन (एव प्रभवति) ॥

अनुवाद स्तन का जो अति तुंगत्व (है), वह हानि (रूप है), नहिं की लाभ (रूप), (क्योंकि) सखी, (उसके कारण) पिया यदि होठों तक पहुँचते हैं तो (वह) भी, विलंब से (ही) पहुँचते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

391 **ब्रूगो ब्रुवो वा ॥**

'ब्रूग्' (= 'ब्रू') के विकल्प में 'ब्रुव' ।

वृत्ति अपभ्रंशे ब्रूगो धातोर्ब्रुव इत्यादेशो वा भवति ।
अपभ्रंश में 'ब्रूग्' (= 'ब्रू') धातु का 'ब्रुव' ऐसा आदेश विकल्प में होता है ।

उदा० (१) ब्रुवह सुहासिउ किं-पि ॥
शब्दार्थ ब्रुवह-ब्रूत । सुहासिउ-सुभाषितम् । किं-पि-किमपि ॥
छाया किमपि सुभाषितम् ब्रूत ॥
अनुवाद कोई एक सुभाषित बोलो ।
वृत्ति पक्षे ॥
अन्य पक्ष में,

उदा० (२) इत्तउँ ब्रोप्पिणु सउणि ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि ।
'तो हउँ जाणउँ एहों हरि जइ मह्नु अग्गइ ब्रोप्पि ॥'
शब्दार्थ इत्तउँ-इयत् । ब्रोप्पिणु-उक्त्वा । सउणि-शकुनिः । ठिउ-स्थितः । पुणु-पुनः । दूसासणु-दुःशासनः । ब्रोप्पि-उक्त्वा । तो-ततः । हउँ-अहम् । जाणउँ-जानामि । एहों-एषः । हरि-हरिः । जइ-यदि । मह्नु-मम । अग्गइ-अग्रे । ब्रोप्पि-उक्त्वा ।
छाया इयत् उक्त्वा शकुनिः स्थितः । पुनः दुःशासनः (एवं) उक्त्वा (स्थितः) । 'यदि मम अग्रे उक्त्वा (तिष्ठति), ततः अहम् जानामि एषः हरिः' इति ॥
अनुवाद इतना कहकर शकुनि रुक गया । फिर दुःशासन इस प्रकार बोलकर (रुक गया)-'मेरे सामने बोलकर यदि वह (खड़ा रहे), तो मैं जानूँ कि वह (सच्चा) हरि ।'

392 **व्रजेर्वुञः ॥**

'व्रजि' (व्रज्) का 'वुञ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे व्रजतेर्धातो 'वुञ' इत्यादेशो भवति ॥
अपभ्रंश में 'व्रजति' (= 'व्रज्') धातु का 'वुञ' ऐसा आदेश होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० वुज्जइ । बुज्जेप्पि । वुज्जेप्पिणु ॥
छाया व्रजति । व्रजित्वा । व्रजित्वा ।
अनुवाद जाता है । जा कर । जा कर ।

393 **दृशेः प्रस्सः ॥**

'दृशि' (= 'दृश्') का 'प्रस्स' ।
वृत्ति अपभ्रंशे दृशेर्धातोः 'प्रस्स' इत्यादेशो भवति ।
अपभ्रंश में 'दृशि' (= 'दृश्') धातु का 'प्रस्स' ऐसा आदेश होता है ।
उदा० प्रस्सदि ।
छाया पश्यति ।
अनुवाद देखता है ।

394 **ग्रहेर्गृण्हः ॥**

'ग्रहि' (= 'ग्रह्') का 'गृण्ह' ।
वृत्ति अपभ्रंशे ग्रहेर्धातो 'गृण्ह' इत्यादेशो भवति ।
अपभ्रंश में 'ग्रहि' (= 'ग्रह') धातु का 'गृण्ह' ऐसा आदेश होता है ।
उदा० पढ गृण्हेप्पिणु व्रतु ॥
शब्दार्थ पढ–पठ । गृण्हेप्पिणु–गृहीत्वा । व्रतु = व्रतम् ।
छाया व्रतम् गृहीत्वा पठ ।
अनुवाद व्रत लेकर पढ़ ।

395 **तक्ष्यादीनां छोल्लादयः ॥**

वृत्ति अपभ्रंश में 'तक्षि' ('तक्ष्') आदि धातुओं के 'छोल्ल' आदि आदेश होते हैं ।
उदा० (१) जिवँ तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जंतु ।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम का-वि लहंतु ॥
शब्दार्थ जिवँ तिवँ–यथा तथा । तिक्खा–तीक्ष्णान् । लेवि–गृहीत्वा । कर–करान् । जइ–यदि । ससि–शशी । छोल्लिज्जंतु (दे.)–अतक्षिष्यत । तो–ततः । जइ–जगति । गोरिहे–गौर्याः । मुह–कमलि–मुख–कमलेन । सरिसिम–सदृशताम् । का–वि–कामपि । लहंतु–अलप्स्यत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया यथा तथा तीक्ष्णान् करान् गृहीत्वा यदि शशी अतक्षिष्यत, ततः (सः) जगति गौर्याः मुख-कमलेन कामपि सदृशताम् अलप्स्यत ।

अनुवाद कैसे भी कर के तीक्ष्ण किरण ले (ले कर, फिर) यदि शशी को तराशा गया होता, तो (वह) जगत में गौरी के मुखकमल से किंचित् समानता प्राप्त करता ।

वृत्ति आदिग्रहणाद् देशीषु ये क्रियावचना उपलभ्यन्ते ते उदाहार्याः ।
(सूत्र में) आदि (शब्द) के (किये गये) समावेश से, देशी (भाषा)ओं में जो क्रियावाचक शब्द प्राप्त होते हैं, उसके उदाहरण दें :

उदा० (२) चूडुल्लउ चुण्णीहोइसइ मुद्धि, कवोलि निहित्तउ ।
सासानल-जाल-झलक्किअउ बाह-सलिल-संसित्तउ ॥

शब्दार्थ चूडुल्लउ-कङ्कणम् । चुण्णीहोइसइ-चूर्णीभविष्यति । मुद्धि-मुग्धे । कवोलि-कपोले । निहित्तउ-निहितम् । सासानल-जाल-झलक्किअउ (दे.)-श्वासानल-ज्वाला-संतप्तम् । बाह-सलिल-संसित्तउ-बाष्प-सलिल-संसिक्तम् ।

छाया मुग्धे, कपोले निहितम् कङ्कणम् श्वासानल-ज्वाला-संतप्तम् बाष्प-सलिल-संसिक्तम् चूर्णीभविष्यति ।

अनुवाद मुग्धा, गाल के नीचे रखा हुआ (और इस लिये) निःश्वासाग्नि की लपट से झुलसा हुआ (और) अश्रुजल से सिंचित (तुम्हारा) चूड़ा चूरा बन जायेगा ।

उदा० (३) अब्भडवंचिउ बे पयइँ पेम्मु निअत्तइँ जावँ ।
सव्वासण-रिउ-संभवहों कर परिअत्ता तावँ ॥

शब्दार्थ अब्भडवंचिउ-अनुव्रज्य । बे-द्वे । पयइँ-पदे । पेम्मु-प्रेम (= प्रिया) । निअत्तइ-निवर्तते । जावँ-यावत् । सव्वासण-रिउ-संभवहों-सर्वाशनरिपु-सम्भवस्य (= चन्द्रस्य) । कर-कराः । परिअत्ता-परिवृत्ताः । तावँ-तावत् ।

छाया (प्रियम्) अनुव्रज्य यावत् द्वे पदे प्रेम (= प्रिया) निवर्तते तावत् चन्द्रस्य किरणाः परिवृत्ताः ।

अनुवाद (प्रिय को) विदा करके प्रिया जहाँ दो कदम लौटी वहाँ (इतने में तो) चन्द्र के किरण लिपट गये ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (४) हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु ।
वासारत्ति पवासुअहँ विसमा संकडु एहु ॥

शब्दार्थ हिअइ–हृदये । खुडुक्कइ–शल्यायते । गोरडी–गौरी । गयणि–गगने । घुडुक्कइ–गर्जति । मेहु–मेघः । वासारत्ति–वर्षारात्रे, वर्षासु । पवासुअहं–प्रवासिनाम् । विसमा–विषमम् । संकडु–सङ्कटम् । एहु–एतत् ।

छाया हृदये शल्यायते गौरी । गगने गर्जति मेघः । वर्षासु प्रवासिनाम् एतत् सङ्कटम् विषमम् ।

अनुवाद हृदय में गोरी (प्रिया का विरह) खटक रही है, गगन में मेघ गरज रहा है । वर्षाऋतु में (चले) प्रवासिओं के लिए यह संकट बड़ा विकट होता है ।

उदा० (५) अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जें संमुह थंति ।
महु कंतहों समरंगणइ गय-घड भज्जिउ जंति ॥

शब्दार्थ अम्मि–अम्ब (= सखि) । पओहर–पयोधरौ । वज्जमा–वज्रमयौ । निच्चु–नित्यम् । जें–एव । संमुह–संमुखौ । थंति–तिष्ठतः । महु–मम । कंतहों–कान्तस्य (= कान्तेन) । समरंगणइ–समराङ्गणे । गय–घड–गज–घटाः । भज्जिउ–भग्नाः । जंति–यान्ति ।

छाया अम्ब (= सखि) (मम) पयोधरौ वज्रमयौ । (यतः तौ) नित्यम् एव (मम कान्तस्य) संमुखौ तिष्ठतः । समराङ्गणे गज–घटाः (अपि) मम कान्तस्य भग्नाः यान्ति ।

अनुवाद माँ, (मेरे) स्तन वज्र के हैं, (क्योंकि वे) सदैव (मेरे पति के) सम्मुख रहते हैं (= पति का सामना करते हैं)–जब कि रणभूमि में गजघटायें (भी) मेरे पति से हार कर भागती हैं ।

उदा० (६) पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीकी भुंहडी चंपिज्जइ अवरेण ॥

शब्दार्थ पुत्तें–पुत्रेण । जाएं–जातेन । कवणु–कः । गुणु–गुणः । अवगुणु–अवगुणः । कवणु–कः । मुएण–मृतेन । जा–यावत् । बप्पीकी (दे.)–पैतृकी । भुंहडी–भूमिः । चंपिज्जइ (दे.)–भाराक्रान्ता क्रियते (=आक्रम्यते) । अवरेण–अपरेण ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया (तेन) पुत्रेण जातेन को गुणः, मृतेन (वा) कः अवगुणः, यावत् पैतृकी भूमिः अपरेण आक्रम्यते ।

अनुवाद जब तक पुश्तैनी भूमि किसी दूसरे के द्वारा दबी (हड़प की हुई) रहे तब तक पुत्र के जन्म से क्या लाभ, (वैसे ही) उसके मरण से क्या हानि?

उदा० (७) तं तेत्तिउ जलु सायरहों सो तेवडु वित्थारु ।
तिसहें निवारणु पलु वि न-वि पर धुड्डुअइ असारु ।।

शब्दार्थ तं–तद् । तेत्तिउ-तावत् । जलु–जलम् । सायरहों–सागरस्य । सो–सः । तेवडु–तावन्मात्रः । वित्थारु–विस्तारः । तिसहों–तृषायाः निवारणु–निवारणम् । पलु–पलम् । वि–अपि । न–वि–नापि (= नैव) । पर–परम् । धुड्डुअइ (दे.)–शब्दायते । असारु–असारः ।

छाया सागरस्य तद् तावत् जलम् । सः तावन्मात्रः विस्तारः । तृषायाः निवारणम् (तु) पलम् अपि नैव । परम् असारः शब्दायते ।

अनुवाद समुद्र का इतना सारा यह जल, और इतना बड़ा विस्तार । परंतु पल भर के लिये भी प्यास का निवारण (उस से होता) नहीं है । बेकार ही (वह) गरजता रहता है ।

396 अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां ग-घ-द-ध-ब-भाः ।।
अनाद्य स्वर के बाद आते और असंयुक्त ऐसे 'क', 'ख', 'त', 'थ', 'प', 'फ' का 'ग', 'घ', 'द', 'ध', 'ब', 'भ' ।

वृत्ति अपभ्रंशेऽपदादौ वर्तमानानां स्वरात् परेषामसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फा-नां स्थाने यथासंख्यं ग-घ-द-ध-ब-भाः प्रायो भवन्ति ।।
अपभ्रंश में पद के आरंभ में न हों ऐसे, स्वर के बाद आते और असंयुक्त ऐसे 'क', 'ख', 'त', 'थ', 'प', 'फ' के स्थान पर क्रमशः 'ग', 'घ', 'द', 'ध', 'ब', 'भ', कई बार होता है ।

वृत्ति कस्य गः ।
'क' का 'ग' ।

उदा० (१) जं दिट्ठउँ सोम-ग्गहणु असइहिँ हसिउ निसंकु ।
पिअ-माणुस-विच्छोह-गरु गिलि गिलि राहु मियंकु ।।

शब्दार्थ जं–यद् । दिट्ठउँ–दृष्टकम्, दृष्टम् । सोम–ग्गहणु–सोमग्रहणम् । असइहिँ-असतीभिः । हसिउ-हसितम् । निसंकु-निःशङ्कम् । पिअमाणुस–विच्छोह–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गरु-प्रिय-मनुष्य-विक्षोभ-(= वियोग-) करम् । गिलि गिलि-गिल गिल । राहु-राहो । मियंकु-मृगाङ्कम् ।

छाया यद् सोम-ग्रहणम् दृष्टम्, (ततः) असतीभिः निःशङ्कम् हसितम् । (उक्तम् च) 'राहो, प्रिय-मनुष्य-वियोग-करम् मृगाङ्कम् गिल, गिल' ।

अनुवाद चंद्र का ग्रहण (होते) देखा तो असतियाँ निःशंक रूप से हँस उठी (और बोलो) 'राहु, प्रियजन से वियोग करनेवाले चंद्र को निगल जा, निगल जा ।'

वृत्ति ख-स्य घः ।
'ख' का 'घ' ।

उदा० (२) अम्मिएँ सत्थावत्थेहिँ सुघेँ चिंतिज्जइ माणु ।
पिएँ दिट्ठे हल्लोहलेँण को चेअइ अप्पाणु ॥

शब्दार्थ अम्मिएँ-अम्ब (= सखि) । सत्थावत्थेँहिँ-स्वस्थावस्थैः । सुघेँ-सुखेन । चिंतिज्जइ-चिन्त्यते । माणु-मानः । पिएँ-प्रिये । दिट्ठे-दृष्टे । हल्लोहलेँण (दे.)-व्याकुलत्वेन । को-कः । चेअइ-चेतयति । अप्पाणु-आत्मानम् ।

छाया अम्ब (= सखि) स्वस्थावस्थैः मानः सुखेन चिन्त्यते । प्रिये दृष्टे (तु) व्याकुलत्वेन को आत्मानम् चेतयति ।

अनुवाद माँ, स्वस्थ (मनो)दशावाले (हों वे) मान (करने) का सुख से सोचे (सोच सके) । (परंतु यहाँ तो) प्रिय को देखते ही विकलता में अपना होश (ही) किसे रहता है (कि मान करने का विचार करे) ?

वृत्ति त-थ-प-फानां द-ध-ब-भाः ।
'त', 'थ', 'प', 'फ' का 'द', 'ध', 'ब', 'भ' ।

उदा० (३) सबधु करेप्पिणु कधिदु मइँ तसु पर सभलउँ जम्मु ।
जासु न चाउ न चारहडि न-य पम्हुट्ठउ धम्मु ॥

शब्दार्थ सबधु-शपथम् । करेप्पिणु-कृत्वा । कधिदु-कथितम् । मइँ-मया । तसु-तस्य । पर-परम्, केवलम् । सभलउँ-सफलकम्, सफलम् । जम्मु-जन्म । जासु-यस्य । न-न । चाउ-त्यागः । न-न । चारहडि-चारभटी, शौर्यवृत्तिः । न-य-न च । पम्हुट्ठउ (दे.)-विलुप्तः । धम्मु-धर्मः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया मया शपथम् कृत्वा कथितम् (यद्) केवलम् तस्य जन्म सफलम् यस्य त्यागः शौर्यवृत्तिः धर्मः च न विलुप्तः ॥

अनुवाद मैंने शपथ लेकर कहा (कि) जिसकी दान(वृत्ति), शौर्यवृत्ति और धर्म लुप्त नहीं हुए हैं, मात्र उसीका जन्मा सफल है ।

वृत्ति अनादौ इति किम् । 'सबधु करेप्पिणु' अत्र कस्य गत्वं न भवति । स्वरादिति किम् । 'गिलि गिलि राहु **मियंकु**' । असंयुक्तानामिति किम् । **'एक्कहिँ अक्खिहिँ** सावणु' ।

(सूत्र में) अनादि ऐसा (है तो वह) क्यों ? (जैसे कि) 'सबधु करेप्पिणु' में ('करेप्पिणु' का) 'क' (आद्य होने के कारण) का 'ग' नहीं होता; (सूत्र में) 'स्वरात्' ऐसा (है तो वह) क्यों ? (जैसे कि) 'गिलि गिलि राहु मयंकु' (देखिये 396/1) । (सूत्र में) 'असंयुक्तानाम् ऐसा (है तो वह) क्यों ? (जैसे कि) 'एक्कहिँ अक्खिहिँ सावणु' (देखिये 357/2) ।

वृत्ति प्रायोऽधिकारात् क्वचिन्न भवति ।

(सूत्र 329 में) अधिकृत किये गये प्रायः (= कई बार) शब्द से कहीं नहीं भी होता । (जैसा कि :)

उदा० (४) जइ केवँ-इ **पावीसु** पिउ अकिआ कुड्डु करीसु ।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगे **पइसीसु** ॥

शब्दार्थ जइ-यदि । केवँ-इ-कथम् अपि । पावीसु-प्राप्स्ये । पिउ-प्रियम् । अकिआ-अकृतम् । कुड्डु-कौतुकम् । करीसु-करिष्यामि । पाणिउ-पानीयम् । नवइ-नवे । सरावि-शरावे । जिवँ-यथा । सव्वंगे-सर्वाङ्गेन । पइसीसु-प्रवेक्ष्यामि ।

छाया यदि कथम् अपि प्रियम् प्राप्स्ये, अकृतम् कौतुकम् करिष्यामि । यथा नवे शरावे पानीयम्, (तथा) सर्वाङ्गेन प्रवेक्ष्यामि ।

अनुवाद यदि किसी प्रकार (से) प्रिय को प्राप्त करूँगी, (तो) (किसी ने) न किया (हो ऐसा) कौतुक करूँगी: नये पुरवे में पानी की तरह (मैं अपने) सर्वाङ्ग से (ही) (प्रिय में) प्रवेश करूँगी ।

उदा० (५) उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कंचण-कंति-पयासु ।
गोरी-वयण-विणिज्जिअउ नं सेवइ वण-वासु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ उअ (दे.)–पश्य । कणिआरु–कर्णिकारः । पफुल्लिअउ–प्रफुल्लः । कंचण–कंति–पयासु–काञ्चन–कान्ति–प्रकाशः । गोरी–वयण–विणिज्जिअउ–गौरी–वदन–विनिर्जितः । नं–ननु । सेवइ–सेवते । वण–वासु–वन–वासम् ।

छाया कर्णिकारः प्रफुल्लितः काञ्चन–कान्ति–प्रकाशः । गौरी–वदन–विनिर्जितः ननु (अयम्) वन–वासम् सेवते ।

अनुवाद देखो, कनेर खिली (है वह कैसो) सोनेरी कांति से प्रकाशित हो रही है । मानों गोरी के चेहरे से पराजित हो कर (वह) वनवास का सेवन कर रही है ।

397 मोऽनुनासिको वो वा ॥

'म' का अनुनासिक 'व', विकल्प में ।

वृत्ति अपभ्रंशेऽनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य मकारस्य अनुनासिको वकारो वा वा भवति ।

अपभ्रंश में अनाद्य, असंयुक्त मकार का अनुनासिक वकार विकल्प में होता है ।

उदा० कवँलु । कमलु ॥ भवँरु । भमरु ॥

छाया कमलम् ॥ भ्रमरः ॥

कमल । भ्रमर ।

वृत्ति लाक्षणिकस्यापि ।

(यहाँ दिये गये) नियमानुसार जो सिद्ध हुआ हो उसका भी ।

उदा० जिवँ । तिवँ । जेवँ । तेवँ ।

छाया यथा । तथा । यथा । तथा ।

जैसे । वैसे । जैसे । वैसे ।

वृत्ति अनादावित्येव । 'मयणु' । असंयुक्तस्येत्येव । 'तसु पर सभलउँ जम्मु' ।

अनाद्य का ही : 'मयणु' (= 'मदनः' या 'मदनम्') ।

असंयुक्त का ही : 'तसु पर सभलउँ जम्मु' (देखिये 396/3)

398 वाऽधो रो लुक् ॥

पिछे का 'र' विकल्प में लुप्त ।

वृत्ति अपभ्रंशे संयोगादधो वर्तमानो रेफो लुग् वा भवति ।

अपभ्रंश में संयुक्त व्यंजनों में परवर्ती रेफ विकल्प में लुप्त होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (१) जइ केवँ–इ पावीसु पिउ । (देखिये 396/4)

वृत्ति पक्षे ।

अन्य पक्ष में :

उदा० (२) जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु प्रिएण (देखिये 379/2) ।

399 अभूतोऽपि क्वचित् ॥

न था ऐसा भी कहीं ।

वृत्ति अपभ्रंशे क्वचिदविद्यमानोऽपि रेफो भवति ।

अपभ्रंश में कहीं, (मूल में) न हो ऐसा रेफ भी होता है ।

उदा० (१) व्रासु महा–रिसि एउ भणइ 'जइ सुइ–सत्थु पमाणु ।
मायहँ चलण नवंताहँ दिवे ँ दिवे ँ गंगा–ण्हाणु' ॥

शब्दार्थ व्रासु–व्यासः । महा–रिसि–महर्षिः । एउ–एतद् । भणइ–भणति, कथयति । जइ–यदि । सुइ–सत्थु–श्रुति–शास्त्रम् । पमाणु–प्रमाणम् । मायहँ–मातृणाम् । चलण–चरणौ । नवंताहँ–नमताम् । दिवे ँ दिवे ँ–दिवा दिवा (= दिवसे दिवसे) । गंगा–ण्हाणु–गङ्गा–स्नानम् ।

छाया महर्षिः व्यासः एतद् कथयति–यदि श्रुति–शास्त्रम प्रमाणम् (ततः) मातृणाम् चरणौ नमताम् दिवसे दिवसे गङ्गा–स्नानम् (इति) ।

अनुवाद महर्षि व्यास इस प्रकार कहते हैं : यदि श्रुतिशास्त्र प्रमाणरूप हों, (तो) माताओं के चरणों में झुकनेवालों को दिन–ब–दिन गंगास्नान (समान पुण्य प्राप्त होता होगा यह जान लिजिये) ।

वृत्ति क्वचिदिति किम् ।

(सूत्र में) 'क्वचित्' (= कहीं) ऐसा (है वह) क्यों ? (देखिये यह उदाहरण) :

उदा० (२) वासेण वि भारह–खंभि बद्ध ।

शब्दार्थ वासेण–व्यासेन । वि–अपि । भारह–खंभि–भारत–स्तम्भे । बद्ध–बद्धाः ।

छाया व्यासेन अपि भारत–स्तम्भे बद्धाः ।

अनुवाद व्यासने भी भारतरूपी स्तंभ से बाँधा...

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

400 **आपद्विपत्सम्पदां द इः ॥**

'आपद्,' 'विपद्,' 'सम्पद्' के 'द' का 'इ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'आपद्', 'विपद्', 'सम्पद्' इत्येतेषां दकारस्य इकारो भवति । अपभ्रंश में 'आपद्', 'विपद्', 'सम्पद्' इनके दकार का इकार होता है ।

उदा० (१) अनउ करंतहों, पुरिसहों आवइ आवइ ।

शब्दार्थ अनउ–अनयम् । करंतहों–कुर्वतः । पुरिसहों–पुरुषस्य । आवइ–आपद् । आगच्छति ।

छाया अनयम् कुर्वतः पुरुषस्य आपद् आगच्छति ।

अनुवाद अविनेक करनेवाले पुरुष पर आपत्ति आती है ।

उदा० (२) विवइ । संपइ ।

छाया विपद् । सम्पद् ।

अनुवाद विपत्ति । सम्पत्ति ।

वृत्ति प्रायोऽधिकारात् ।

(सूत्र 329 में) अधिकृत 'प्रायः' (= लगभग) इस शब्द के अनुसार इ

उदा० (३) गुणहिँ न संपय कित्ति पर ॥ (देखिये 335) ।

401 **कथं-यथा तथां थादेरेमेमेहेधा डितः ॥**

'कथम्', 'यथा', 'तथा' के 'थ' से आरंभ होते (अंश) का 'एम', 'इम', 'इह', 'इध' (वह) डित् ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'कथं', 'यथा' 'तथा' इत्येतेषां थादेरवयवस्य प्रत्येकम् 'एम' 'इम' 'इह', 'इध' इत्येते डितश्चत्वार आदेशा भवन्ति ।

अपभ्रंश में, 'कथं', 'यथा', 'तथा' इन प्रत्येक के 'थ' से आरंभ होते अंशका 'एम', 'इह', 'इम', 'इध' ऐसे चार डित् आदेश होते हैं ।

उदा० (१) 'केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ' ।
नववहु-दंसण-लालसउ वहइ मणोरह सो-इ ॥

शब्दार्थ केम–कथम् । समप्पउ–समाप्यताम् । दुट्ठु–दुष्टः । दिणु–दिनः । किध–कथम् । रयणी–रजनी । छुडु–शीघ्रम् । होइ–भवति । नववहु-दंसण-लालसउ–नववधू-दर्शन-लालसः । वहइ–वहति । मणोरह–मनोरथान् । सो–इ–सः अपि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया नववधू-दर्शन-लालसः सः अपि 'दुष्टः दिनः कथम् समाप्यताम्, रजनी कथम् शीघ्रम् भवति' (इति) मनोरथान् वहति ।

अनुवाद नववधू को देखने के लिये लालायित वह भी '(यह) दुष्ट दिन कैसे पूरा हो ? रात कैसे जल्दी हो ?' (ऐसे) मनोरथ पालता है ।

उदा० (२) ओ गोरी-मुह-निज्जिअउ वद्दलि लुक्कु मियंकु ।
अन्नु-वि जो परिहविय-तणु सो किवँ भवँइ निसंकु ॥

शब्दार्थ ओ-ओ । गोरी-मुह-निज्जिअउ-गौरी-मुख-निर्जितः । वद्दलि- अभ्रे । लुक्कु-निलीनः । मियंकु-मृगाङ्कः । अन्नु-वि-अन्यद् अपि । जो-यः । परिहविय-तणु-परिभूत-तनुः । सो-सः । किवँ-कथम् । भवँइ-भ्रमति । निसंकु-निःशङ्कम् ।

छाया ओ गोरी-मुख-निर्जितः मृगाङ्कः अभ्रे निलीनः । अन्यद् अपि यः परिभूत-तनुः सः कथम् निःशङ्कम् भ्रमति ।

अनुवाद देखो ! गोरी के मुख से हारा हुआ चन्द्र बादलों में छुप गया ! और जो खुद ही हारा हो वह निःसंदेह घूमें (भी) कैसे ?

उदा० (३) 'बिंबाहरि तणु रयण-वणु किह ठिउ सिरि-आणंद' ।
'निरुवम-रसु पिएँ पिअवि जणु सेसहों दिण्णी मुद्द' ॥

शब्दार्थ बिंबाहरि-बिम्बाधरे । तणु-तनुः । रयण-वणु-रदन-व्रणः । किह-कथम् । ठिउ-स्थितः । सिरि-आणंद-श्री-आनन्द । निरुवम-रसु-निरुपम-रसम् । पिएँ-प्रियेण । पिअवि-पीत्वा । जणु-इव । सेसहों-शेषस्य । दिण्णी-दत्ता । मुद्द-मुद्रा ।

छाया 'श्री-आनन्द, बिम्बाधरे तनुः रदन-व्रणः कथम् स्थितः' । 'प्रियेण निरुपम-रसम् पीत्वा शेषस्य मुद्रा इव दत्ता' ।

अनुवाद 'श्री आनन्द, बिंबाधर पर स्थित नाजुक दंतक्षत कैसा है ?' 'अनुपम (अधर)रस पी कर प्रिय ने बचे हुए पर मानों मुद्रा लगा (दी) !'

उदा० (४) भण सहि निहुअउँ तेवँ मइँ जइ पिउ दिट्ठु स-दोसु ।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥

शब्दार्थ भण-भण, कथय । सहि-सखि । निहुअउँ-निभृतम् । तेवँ-तथा । मइँ-माम् । जइ-यदि । पिउ-प्रियः । दिट्ठु-दृष्टः । स-दोसु-स-दोषः । जेवँ-यथा । न-न । जाणइ-जानाति । मज्झु-मम । मणु-मनः । पक्खावडिअं-पक्षापतितम् । तासु-तस्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया सखि, यदि प्रियः स-दोषः दृष्टः (तर्हि) माम् (प्रति) तथा निभृतम् कथय, यथा तस्य पक्षापतितं मम मनः न जानाति ।

अनुवाद सखी, यदि (मेरा) प्रियतम अपराधी (है ऐसा तुमने) देखा हो, (तो) मुझे (वह बात) ऐसे चुपके से बता ताकि उसका हिमायती (ऐसा) मेरा मन (वह) जान न ले ।

उदा० (५) जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहँ.....
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर.. ...(देखिये 344/2)

उदा० (६) मइँ जाणिउँ पिअ विरहिअहँ क-वि घर होइ विआलि ।
नवर मिअंकु-वि तिह तवइ जिह दिणयरु खय-गालि ॥
(देखिये 377/1)

वृत्ति एवं जिध-तिधावुदाहार्यौ ।
इसी प्रकार 'जिध', 'तिध' के उदाहरण दें ।

402 यादृक्तादृक्कीदृगीदृशां दादेर्डेहः ॥

'यादृश्', 'तादृश्', 'कीदृश्' के 'द्' से आरंभ होनेवाले का डित् ऐसा 'एह' ।

वृत्ति अपभ्रंशे यादृगादीनां दादेरवयवस्य डित् 'एह' इत्यादेशो भवति ।
अपभ्रंश में, 'यादृश्' आदि के 'द्' से आरंभ होते अंश का डित् ऐसा 'एह' आदेश होता है ।

उदा० मइँ भणिअउ बलि-राय तुहुँ केहउ मग्गणु एहु ।
जेहु तेहु न-वि होइ वढ सइँ नारायणु एहु ॥

शब्दार्थ मइँ-मया । भणिअउ-भणितः । बलि-राय-बलि-राज । तुहुँ-त्वम् । केहउ-कीदृक् । मग्गणु-मार्गणः । एहु-एषः । जेहु-यादृक् । तेहु-तादृक् । न-वि-न अपि । होइ-भवति । वढ-मूर्ख । सइँ-स्वयम् । नारायणु-नारायणः । एहु-एषः ।

छाया बलि-राज, मया त्वम् भणितः एषः कीदृक् मार्गणः (इति) । मूर्ख, न अपि यादृक् तादृक् भवति । स्वयम् नारायणः एषः ।

अनुवाद बलिराज, मैंने तुम्हें कहा कि नहीं कि यह कैसा मांगनेवाला है । मूर्ख ऐसा वैसा (ऐरा-गैरा) नहीं है (यह) । यह (तो) है स्वयं नारायण ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

403 अतां डइसः ॥

'अ' का डित् ऐसा 'अइस' ।

वृत्ति अपभ्रंशे यादृगादीनामदन्तानां यादृश–तादृश–कीदृशेदृशानां दादेरवयवस्य डित् 'अइस' इत्यादेशो भवति ।
अपभ्रंश में, अकारांत 'यादृश' आदि के–(अर्थात्) 'यादृश', 'तादृश', 'कीदृश', 'ईदृश के 'द्' से आरंभ होते अंश का डित् ऐसा 'अइस' आदेश होता है ।

उदा० **जइसो । तइसो । कइसो । अइसो ।**

छाया यादृशः । तादृशः । कीदृशः । ईदृशः ।

जैसा । तैसा । कैसा । ऐसा ।

404 यत्र-तत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थत्थु ॥

'यत्र', 'तत्र' के 'त्र' का डित् ऐसा 'एत्थु', 'अत्थु' ।

वृत्ति अपभ्रंशे यत्र–तत्र–शब्दयोस्त्रस्य 'एत्थु' 'अत्थु' इत्येतौ डितौ भवतः ।
अपभ्रंश में 'यत्र', 'तत्र' इन शब्दों के 'त्र' का 'एत्थु', 'अत्थु' ऐसा डित् (आदेश) होता है ।

उदा० (१) जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु ।
जेत्थु–वि तेत्थु–वि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥

शब्दार्थ जइ–यदि । सो–सः । घडदि–घटयति । प्रयावदी–प्रजापतिः । केत्थु–वि–कुत्र अपि । लेप्पिणु–गृहीत्वा । सिक्खु–शिक्षाम् । जेत्थु–वि–यत्र अपि । तेत्थु–वि–तत्र अपि । एत्थु–अत्र । जगि–जगति । भण–कथय । तो–ततः । तहि–तस्याः । सारिक्खु–सादृश्यम् ।

छाया यदि सः प्रजापतिः अत्र जगति यत्र अपि तत्र अपि कुत्र अपि शिक्षाम् गृहीत्वा घटयति, ततः अपि किं (सिध्यते) तस्याः सादृश्यम् ? भण ।

अनुवाद बता, यदि वह प्रजापति इस जगत में–यहाँ–वहाँ से–(अरे) कहीं से भी शिक्षा प्राप्त करके (कोई रूप) गढ़े, तो (भी) उस (स्त्री) से साम्य (सिद्ध हो सकता है क्या) ?

उदा० (२) **जत्तु ठिदो । तत्तु ठिदो ।**

छाया यत्र स्थितः । तत्र स्थितः ।

अनुवाद जहाँ रहा हुआ । वहाँ रहा हुआ/जहाँ स्थित । वहाँ स्थित ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

405 एत्थु कुत्रात्रे ॥

'कुत्र', 'अत्र' में 'एत्थु' ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'कुत्र' 'अत्र' इत्येतयोस्त्रशब्दस्य डित् 'एत्थु' इत्यादेशो भवति । अपभ्रंश में 'कुत्र', 'अत्र' इनके 'त्र' शब्द का डित् एसा 'एत्थु' आदेश होता है ।

उदा० .....केत्थु-वि लेप्पिणु सिक्खु ।
जेत्थु-वि तेत्थु-वि एत्थु जगि ॥ (देखिये 404/1)

406 यावत्तावतोर्वादेर्म उँ महिँ ॥

'यावत्', 'तावत्' के 'व' से आरंभ होते का 'म', 'उँ', 'महिँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे यावत्तावदित्यव्यययोर्वकारादेरवयवस्य 'म', 'उँ', 'महिँ' इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति ।

अपभ्रंश में 'यावत्', 'तावत्' इन अव्ययों का 'व' से आरंभ होते अंश का 'म', 'उँ', 'महिँ' ऐसे तीन आदेश होते हैं ।

उदा० (१) जाम न निवडइ कुंभ-यडि सीह-चवेड-चडक्क ।
ताम समत्तहँ मयगलहँ पइ पइ वज्जइ ढक्क ।

शब्दार्थ जाम-यावत् । न-न । निवडइ-निपतति । कुंभ-यडि-कुम्भ-तटे । सीह-चवेड-चडक्क (दे.)-सिंह-चपेटा-प्रहारः । ताम-तावत् । समत्तहँ-समस्तानाम् । मयगलहँ-गजानाम् । पइ पइ-पदे पदे । वज्जइ-वाद्यते । ढक्क-ढक्का ।

छाया यावत् कुम्भ-तटे सिंह-चपेटा-प्रहारः न निपतति तावत् समस्तानाम् गजानाम् पदे पदे ढक्का वाद्यते ।

अनुवाद जब तक कुंभतट पर सिंह की थप्पड का फटका नहीं लगता, तब तक (ही) समस्त हाथिओं के कदमों पर ढोल बजते हैं ।

उदा० (२) तिलहँ तिलत्तणु ताउँ पर जाउँ न नेह गलंति ।
नेहि पणट्ठइ ते ज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होंति ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ तिलहँ–तिलानाम् । तिलत्तणु–तिलत्वम् । ताउँ–तावत् । पर–मात्रम्, एव । जाउँ–यावत् । न–न । नेह–स्नेहाः । गलंति–गलन्ति । नेहि–स्नेहे । पणट्ठइ–प्रणष्टे । ते–ते । ज्जि–एव । तिल–तिलाः । तिल–तिलाः । फिट्टवि–नष्ट्वा । खल–खलाः । होंति–भवन्ति ।

छाया तिलानाम् तिलत्वम् तावत् एव, यावत् स्नेहाः न गलन्ति । स्नेहे प्रणष्टे ते एव तिलाः, तिलाः नष्ट्वा खलाः भवन्ति ।

अनुवाद तिल का तिलत्व तब तक ही होता है, जब तक (उनका) स्नेह (= प्रेम, तेल) गल नहीं जाता । स्नेह नष्ट होने पर वही तिल तिल न रह कर 'खल' (= खली, शठ) बन जाते हैं ।

उदा० (३) जामहिँ विसमी कज्ज-गइ जीवहँ मज्झे एइ ।
तामहिँ अच्छउ इयरु जणु सुअणु-वि अंतरु देइ ॥

शब्दार्थ जामहिँ–यावत् । विसमी–विषमा । कज्ज–गइ–कार्य–गतिः । जीवहँ–जीवानाम् । मज्झे–मध्ये । एइ–ऐति । तामहिँ–तावत । अच्छउ–आस्ताम् । इयरु–इतरः । जणु–जनः । सुअणु–वि–सुजनः अपि । अंतरु–अन्तरम् । देइ–ददाति ।

छाया यावत् जीवानाम् मध्ये विषमा कार्य–गतिः एति, तावत् आस्ताम् इतरः जनः, सुजनः अपि अन्तरम् ददाति ।

अनुवाद जैसे प्राणिओं के बीच विषम दशा आती है (= आ घिरती है) वैसे (ही), औरों की क्या बात करें–सज्जन भी दूरी रखते हैं (= रखने लगते हैं) ।

407 वा यत्तदोऽतोर्डवडः ॥

विकल्प में 'यद्', 'तद्' के 'अतु' का डित् ऐसा 'एवड' ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'यद्' 'तद्' इत्येतयोरन्तयोर्वित्तात्तोर्वकारादेरवयवस्य डित् 'एवड' इत्यादेशो वा भवति ।

अपभ्रंश में अंत में 'अतु' हो ऐसे 'यद्', 'तद्' के–(अर्थात्), 'यावत्', 'तावत्' के वकार से आरंभ होते अंश का डित् ऐसा 'एवड' आदेश विकल्प में होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (१) जेवडु अंतरु रावण–रामहँ, तेवडु अंतरु पट्टण–गामहँ ॥

शब्दार्थ जेवडु–यावत् । अंतरु–अन्तरम् । रावण–रामहँ–रावण–रामयोः । तेवडु–तावत् । अंतरु–अन्तरम् । पट्टण–गामहँ–पट्टण–ग्रामयोः ।

छाया यावत् अन्तरम् रावण–रामयोः, तावत् अन्तरम् पट्टण–ग्रामयोः ।

अनुवाद जितनी राम और रावण के बीच दूरी, उतनी (ही) नगर और गाँव के बीच दूरी ।

वृत्ति पक्षे ॥
अन्य पक्ष में :

उदा० (२) जेत्तुलो । तेत्तुलो ।
यावान् । तावान् ।
जितना । इतना ।

408 वेदं–किमोर्यादेः ॥

विकल्प में 'इदम्, 'किदम्' के 'य' से आरंभ होते का ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'इदम्' 'किम्' इत्येतयोरत्वन्तयोरियत्–कियतोर्यकारादेरवयवस्य डित्–'एवड' इत्यादेशो वा भवति ।

अपभ्रंश में अंत में 'अतु' हों ऐसे 'इदम्' और 'किम्' के–(अर्थात् 'इयत्' और 'कियत्' के यकार से आरंभ होते अंश का डित् ऐसा 'एवड' आदेश विकल्प में होता है ।

उदा० (१) एवडु अंतरु । केवडु अंतरु ।

छाया इयत् अन्तरम् । कियत् अन्तरम् ।
इतना अन्तर । कितना अंतर ?

वृत्ति पक्षे । अन्य पक्ष में ।

उदा० (२) एत्तुलो । केत्तुलो ।

छाया इयान् । कियान् । इतना । कितना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

409 **परस्परस्यादिरः ॥**

'परस्पर' के आदि में 'अ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे परस्परस्यादिरकारो भवति ।
अपभ्रंश में, 'परस्पर' के आदि में अकार आता है ।

उदा० ते मुग्गडा हराविअ जे परिविट्ठा ताहँ ।
अवरोप्परु जोअंताहँ सामिउ गंजिउ जाहँ ।

शब्दार्थ ते–ते । मुग्गडा–मुद्गाः । हराविअ–हारिताः । जे–ये । परिविट्ठा–परिविष्टाः । तहँ–तेभ्यः । अवरोप्परु–परस्परम् । जोअंताहँ–पश्यताम् । सामिउ–स्वामी । गंजिउ (दे.)–पराजितः । जाहँ–येषाम् ।

छाया ये मुद्गाः तेभ्यो परिविष्टाः, ते (तैः) हारिताः, येषाम् परस्परम् पश्यताम् स्वामी पराजितः ।

अनुवाद जिन्होंने एक–दूसरे को देखा (= देखते रहे और) स्वामी का पराजय हुआ, उन्हें जो मूँग परोसे थे वे निष्फल (ही) गये ।

410 **कादिस्थैदोतोरुच्चार–लाघवम् ॥**

'क' आदि में स्थित 'ए' और 'ओ' का उच्चारलाघव ।

वृत्ति अपभ्रंशे कादिषु व्यञ्जनेषु स्थितयोरे ओरि इत्येतयोरुच्चारणस्य लाघवं प्रायो भवति ।

अपभ्रंश में, 'क' आदि व्यंजनों में स्थित 'ए', 'ओ' का उच्चार प्रायः लघु होता है ।

उदा० (१) सुघेँ चिंतिज्जइ माणु (देखिये 396/2)

उदा० (२) तसु हउँ कलि–जुगि दुल्लहहो । (देखिये 338)

411 **पदान्ते उं–हुं–हिं–हंकाराणाम् ॥**

वृत्ति अपभ्रंशे पदान्ते वर्तमानानां 'उं', 'हुं', 'हिं', 'हं' इत्येतेषां उच्चारणस्य लाघवं प्रायः भवति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश में पद के अंत में स्थित 'उं,' 'हुं', 'हिं' और 'हं' इनका उच्चारण प्रायः लघु होता है ।

उदा० (१) अन्नु जु तुच्छउँ तहे धणहे । (देखिये 350/1)

उदा० (२) बलिकिज्जउँ सुअणस्सु । (देखिये 338)

उदा० (३) तरुहुँ-वि वक्कलु । (देखिये 341/2)

उदा० (४) खग्ग-विसाहिउ जहिँ लहहुँ । (देखिये 386/1)

उदा० (५) तणहँ तइज्जी भंगि न-वि (देखिये 339)

412 म्हो म्भो वा ॥

वृत्ति अपभ्रंशे 'म्ह' इत्यस्य स्थाने 'म्भ' इति मकाराक्रान्तो भकारो वा भवति । 'म्ह' इति 'पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः' (८।२।७४) इति प्राकृत-लक्षण-विहितोऽत्र गृह्यते । संस्कृते तदसंभवात् ।

अपभ्रंश में 'म्ह' के स्थान पर 'म्भ' इस प्रकार पूर्व मकारयुक्त भकार विकल्प में होता है । संस्कृत में वह असंभवित होने के कारण 'म्ह' 'पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः ।' (= पक्ष्म, श्म, ष्म, स्म और ह्म का म्ह-४/२/७४) ऐसे प्राकृत व्याकरण के अनुसार समजना है ।

उदा० (१) गिम्भो । सिम्भो ।

छाया ग्रीष्मः । श्लेष्मा । ग्रीष्म । श्लेष्म ।

उदा० (२) बम्भ तें विरला के-वि नर जे सव्वंग-छइल्ल ।
जे वंका ते वंचयर जे उज्जुअ तें बइल्ल ॥

शब्दार्थ बम्भ-ब्रह्मन् । तें-ते । विरला-विरलाः । के-वि-के अपि । नर-नराः । जे-ये । सव्वंग-छइल्ल (दे.)-सर्वाङ्ग-विदग्धाः । जे-ये । वंका-वक्राः । ते-ते । वंचयर-वञ्चकाः । जे-ये । उज्जुअ-ऋजवः । तें-ते । बइल्ल (दे).-बलीवर्दाः ।

छाया ब्रह्मन्, ये सर्वाङ्ग-विदग्धाः, ते के अपि नराः विरलाः । ये वक्राः, ते वञ्चकाः । ये ऋजवः ते बलीवर्दाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद (हे) ब्रह्मन्, जो सर्व प्रकार से विदग्ध हो ऐसे पुरुष कोई विरल (ही) होते हैं। (अन्यथा) जो वक्र होते हैं वे ठग होते हैं (और) जो सीधे होते हैं वे बैल।

413 अन्यादृशोऽन्नाइसावराइसौ

'अन्यादृश' वह 'अन्नाइस', 'अवराइस'।

वृत्ति अपभ्रंशे अन्यादृशशब्दस्य 'अन्नाइस', 'अवराइस' इत्यादेशौ भवतः। अपभ्रंश में 'अन्यादेश' शब्द के 'अन्नाइस' और 'अवराइस' ऐसे दो आदेश होते हैं।

उदा० अन्नाइसो। अवराइसो।

छाया अन्यादृशः। अन्यादृशः।
दूसरे के जैसा। दूसरे के जैसा।

414 प्रायसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्व-पग्गिम्वाः॥

'प्रायस्' का 'प्राउ', 'प्राइव', 'प्राइम्व', 'पग्गिम्व'।

वृत्ति अपभ्रंशे 'प्रायस्' इत्येतस्य 'प्राउ', 'प्राइव', 'प्राइम्व' 'पग्गिम्व' इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति।

अपभ्रंश में 'प्रायस्' के 'प्राउ', प्राइव, 'प्राइम्व' और 'पग्गिम्व' ऐसे चार आदेश होते हैं।

उदा० (१) अन्नें ते दीहर लोअण, अन्नु तँ मुअ-जुअलु।
अन्नु सु घण-थण-हारु, तँ अन्नु-जि मुह-कमलु॥
अन्नु-जि केस-कलावु, सु अन्नु जि प्राउ विहि।
जेण निअम्बिणि घडिअ, स गुण-लायण्ण-णिहि॥

शब्दार्थ अन्नें-अन्ये। ते-ते। दीहर-दीर्घे। लोअण-लोचने। अन्नु-अन्यद्। तँ-तद्। मुअ-जुअलु-भुजयुगलम्। अन्नु-अन्यः। सु-सः। घण-थण-हारु-घन-स्तन-भारः। तँ-तद्। अन्नु-जि-अन्यद् एव। मुह-कमलु-मुख-कमलम्। अन्नु-जि-अन्यः एव। केस-कलावु-केश-कलापः। सु-सः। अन्नु-जि-अन्यः एव। प्राउ-प्रायः। विहि-विधिः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जेण–येन । निअम्बिणि–निम्बिनी । घडिअ–घटिता । स–सा । गुण–लायण्ण–णिहि–गुण–लावण्य–निधि ।

छाया ते दीर्घे लोचने अन्ये । तद् भुज–युगलम् अन्यद् । सः घन–स्तन–भारः अन्यः । तद् मुख–कमलम् अन्यद् एव । सः केश–कलापः अन्यः एव । येन सा गुण–लावण्य–निधिः नितम्बिनी घटिता (सः) विधिः (अपि) प्रायः अन्यः एव ।

अनुवाद अद्वितीय है वे दीर्घ लोचन; अद्वितीय है वह भुजयुगल; अद्वितीय है उन घन स्तनों का भार; अद्वितीय ही है वह मुखकमल; अद्वितीय ही है वह केशकलाप; (और) जिसने उस गुण और लावण्य की निधि रूप नितंबिनी को गढ़ा (वह) विधाता (भी) लगता है कि, अद्वितीय ही है।

उदा० (२) प्राइव मुणिहँ–वि भ्रंतडी तें मणिअडा गणंति ।
अखइ निरामइ परम–पइ अज्जु–वि लउ न लहंति ॥

शब्दार्थ प्राइव–प्रायः । मुणिहँ–वि–मुनीनाम् अपि । भ्रंतडी–भ्रान्तिः । तें–तेन । मणिअडा–मणीन् । गणंति–गणयन्ति । अखइ–अक्षये । निरामइ–निरामये । परम–पइ–परम–पदे । अज्जु–वि–अद्य अपि । लउ–लयम् । न–न । लहंति–लभन्ते ।

छाया प्रायः मुनीनाम् अपि भ्रान्तिः । तेन (ते) मणीन् गणयन्ति । अक्षये निरामये परम–पदे (च ते) अद्य अपि लयम् न लभन्ते ।

अनुवाद लगता है कि मुनियों को भी भ्रांति (ही) होती है (= मुनि भी भ्रम में ही हैं) । इसीलिये तो (वे) गुरिया फेरते हैं, और अभी भी अक्षय और निरामय (ऐसे) परमपद में लय प्राप्त करते नहीं हैं ।

उदा० (३) अंसु–जलेँ प्राइँम्ब गोरिअहेँ सहि उव्वत्ता नयण–सर ।
तें संमुह संपेसिआ देंति तिरिच्छी घत्त पर ॥

शब्दार्थ अँसु–जलेँ–अश्रु–जलेन । प्राइँम्ब–प्रायः । गोरिअहेँ–गौर्याः । सहि–सखि । उव्वत्ता–उद्वृत्तौ । नयण–सर–नयन–शरौ । तें–तेन । संमुह–सम्मुखौ । संपेसिअ–संप्रेषितौ । देंति–दत्तः । तिरिच्छी–तिर्यग् । घत्त–घातम् । पर–केवलम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया — सखि, गौर्याः नयन-शरौ अश्रु-जलेन प्रायः उद्वृत्तौ । तेन संमुखौ संप्रेषितौ (अपि) केवलम् तिर्यग् घातम् दत्तः ।

अनुवाद — सखि, लगता है कि गोरी के नयन-शर अश्रुजल से सने हुए हैं । इसलिये (तो सीधे) सामने भेजे (फिर भी वे) मात्र तिरछी चोट करते हैं । (= उनकी केवल तिरछी चोट लगती है ।)

उदा० (४) 'एसी पिउ रूसेसु हउ रुट्ठी मइँ अणुणेइ' ।
पग्गिँम्व एइ मणोरहइँ दुक्करु दइउ करेइ ॥

शब्दार्थ — एसी-एष्यति । पिउ-प्रियः । रूसेसु-रोषिष्यामि । हउँ-अहम् । रुट्ठी-रुष्टाम् । मइँ-माम् । अणुणेइ-अनुनयति (= अनुनेष्यति) । पग्गिँम्व-प्रायः । एइ-एतान् । मणोरहइँ-मनोरथान् । दुक्करु-दुष्करः । दइउ-दयितः । करेइ-करोति ।

छाया — 'प्रियः एष्यति । अहम् रोषिष्यामि । माम् रुष्टाम् (सः) अनुनेष्यति ।' प्रायः एतान् मनोरथान् दुष्करः दुष्करः दयितः करोति ।

अनुवाद — 'प्रियतम आयेंगे । मैं रुठी हुई मुझे (वे) मनायेंगे'-लगभग ऐसी (ऐसी) चाह दुष्ट प्रियतम (प्रिया के मन में) करते (उत्पन्न करते) हैं ।

415 वाऽन्यथोऽनुः ॥

विकल्प में 'अन्यथा' का 'अनु' ।

वृत्ति — अपभ्रंशे 'अन्यथा'-शब्दस्य 'अनु' इत्यादेशो वा भवति ।
अपभ्रंश में 'अन्यथा' इस शब्द के विकल्प में 'अनु' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० (१) विरहाणल-जाल-करालियउ पहिउ को-वि बुड्डिवि ठिअउ ।
अनु सिसिर-कालि सीअल-जलहु धूमु कहंतहु उट्ठिअउ ।

शब्दार्थ — विरहाणल-जाल-करालियउ-विरहानल-ज्वाला-पीडितः । पहिउ-पथिकः । को-वि-कः अपि । बुड्डिवि-मज्जित्वा । ठिअउ-स्थितः । अनु-अन्यथा । सिसिर-काले-शिशिर-काले । सीअल-जलहु-शीतल-जलात् । धूमु-धूमः । कहंतहु-कुतः । उट्ठिअउ-उत्थितः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया — विरहानल-ज्वाला-पीडितः कः अपि पथिकः (अत्र) मङ्क्त्वा स्थितः । अन्यथा शिशिर-काले शीतल-जलात् कुतः धूमः उत्थितः ।

अनुवाद — विरहाग्नि की ज्वाला से पीड़ित कोई पथिक (यहाँ) डूब (= डुबकी लगाकर) रहा (लगता है) । अन्यथा शिशिरऋतु में (और क्या) शीतल जल से धुआं कैसे उठेगा ?

वृत्ति — पक्षे ॥ अन्य पक्ष में

उदा० — (२) अन्नह (= अन्यथा) । वरना ।

416 — कुतसः कउ कहंतिहु ॥

'कुतस्' का 'कउ', 'कहंतिहु' ।

वृत्ति — अपभ्रंशे 'कुतस्'-शब्दस्य 'कउ', 'कहतिहु' इत्यादेशौ भवतः ।

अपभ्रंश में 'कुतस्' इस शब्द के 'कउ' और 'कहंतिहु' ऐसे दो आदेश होते हैं ।

उदा० (१) महु कंतहों गुट्ठ-ट्ठिअहों — कउ झुंपडा बलंति ।
अह रिउ-रुहिरें उल्हवइ — अह अप्पणें, न भंति ॥

शब्दार्थ — महु-मम । कंतहों-कान्तस्य । गुट्ठ-ट्ठिअहों-गोष्ठ-स्थितस्य । कउ-कुतः । झुंपडा-कुटीरकाणि । ज्वलंति-ज्वलन्ति । अह-अथ । रिउ-रुहिरें-रिपु-रुधिरेण । उल्हवइ (दे.) निर्वापयति । अह-अथ । अप्पणें-स्वकीयेन । न-न । भंति-भ्रान्तिः ।

छाया — मम कान्तस्य गोष्ठ-स्थितस्य (सतः), कुतः कुटीरकाणि ज्वलन्ति । अथ रिपु-रुधिरेण निर्वापयति, अथ स्वकीयेनः न भ्रान्तिः ।

अनुवाद — मेरा प्रियतम बस्ती में हो और झोंपड़े कैसे (= क्योंकर) जले ? या तो वह (उसे) शत्रु के रक्त से बुझा दे, या तो अपने (रक्त से)-(इसमें कोई) संदेह है ही नहीं ।

उदा० (२) धूमु कहंतिहु उट्ठिअउ । (देखिये 415/1) ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

417 **ततस्तदोस्तोः ॥**

'ततस्', 'तदा' का तो ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'ततस्', 'तदा' इत्येतयोस् 'तो' इत्यादेशो भवति ।
अपभ्रंश में, 'ततस्' और 'तदा' इन दो का 'तो' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु प्रिएण । (देखिये 379/3)

418 **एवं–परं–समं–ध्रुवं–मा–मनाक एम्व पर समाणु ध्रुवु मं मणाउँ ॥**

'एवम्', 'परम्', 'समम्', 'ध्रुवम्', 'मा', 'मनाक्' के 'एम्व', 'पर', 'समाणु', 'ध्रुवु', 'मं', 'मणाउँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे एवमादीनां एम्वादय आदेशा भवंति । एवमः **एम्व** ।

अपभ्रंशे में, 'एवम्' आदि के 'एम्व' आदि आदेश होते हैं । 'एवम्' का 'एम्व' :—

उदा० (१) प्रिय–संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व ।
मइँ बिन्नि–वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥

शब्दार्थ प्रिअ–संगमि–प्रिय–सङ्गमे । कउ–कुतः । निद्दडी–निद्रा । पिअहो–प्रियस्य । परोक्खहो–परोक्षस्य । केम्व–कथम् । मइँ–मया । बिन्नि–वि–द्वे अपि । विन्नासिआ–विनाशिते । निद्द–निद्रा । न–न । एम्व–एवम् । न–न । तेम्व–तथा ।

छाया प्रिय–सङ्गमे कुतः निद्रा । प्रियस्य परोक्षस्य (सतः) कथम् । मया द्वे अपि विनाशिते । निद्रा न एवम्, न तथा ॥

अनुवाद प्रिय के संग में नींद कहाँ से (= कैसी) ? प्रिय आँखों से दूर हो तब (भी) कैसी ? मैंने तो (वह) दोनों ओर से गँवायी–नींद न ऐसे (और) न वैसे !

वृत्ति परमः परः ॥ 'परम्' का 'पर' ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (२) गुणहिँ न संपय कित्ति पर (देखिये 335) ।

वृत्ति सममः समाणुः ।। 'समम्' का 'समाणु'

उदा० (३) कंतु जु सीहहों उवमिअइ तं महु खंडिउ माणु ।
सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पय-रक्ख-समाणु ।।

शब्दार्थ कंतु-कान्तः । जु-यद् । सीहहों-सिंहस्य (=सिंहेन) । उवमिअइ-उपमीयते । तं-तद् । महु-मम । खंडिउ-खण्डितः । माणु-मानः । सीहु-सिंहः । निरक्खय-नीरक्षकान् । गय-गजान् । हणइ-हन्ति । पिउ-प्रियः । पय-रक्ख-समाणु—पदाति-रक्षक-समम् ।

छाया यद् कान्तः सिंहेन उपमीयते तद् मम मानः खण्डितः । (यतः) सिंहः नीरक्षकान् गजान् हन्ति, प्रियः (तु) पदाति-रक्षक-समम् ।

अनुवाद (मेरे) प्रियतम को जो सिंह की उपमा दी जाती है, उससे मेरा अभिमान आहत (होता है । क्योंकि) सिंह रक्षक रहित गजों का वध करता है, (जबकि) प्रियतम पदाति रक्षक सहित (गजों का वध करता है) ।

वृत्ति ध्रुवमो ध्रुवुः ।। 'ध्रुवम्' का 'ध्रुव' ।

उदा० (४) चंचलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइँ ।
होसहिँ दिअहा रूसणा दिव्वइँ वरिस-सयाइँ ।।

शब्दार्थ चंचलु-चञ्चलम् । जीविउ-जीवितम् । ध्रुवु-ध्रुवम् । मरणु-मरणम् । पिअ-प्रिय । रूसिज्जइ-रूष्यते । काइँ-किम् । होसहिँ-भविष्यन्ति । दिअह-दिवसाः । रूसणा-रोषयुक्ताः । दिव्वइँ-दिव्यानि । वरिस-सयाइँ-वर्ष-शतानि ।

छाया जीवितम् चञ्चलम्, मरणम् (च) ध्रुवम् । प्रिय किं रूष्यते । रोषयुक्ताः दिवसाः दिव्यानि वर्ष-शतानि भविष्यन्ति ।

अनुवाद जीवित चंचल है (और) मरण निश्चित है, (तो फिर) हे प्रियतम क्यों मान करते हो ? मान के दिन सैंकड़ों दिव्य सालों (जितने लम्बे) हो जायेंगे ।

वृत्ति मो मं । 'मा' का 'म' ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (५) मं धणि करहि विसाउ । (देखिये 385/1)

वृत्ति प्रायोग्रहणात् । प्रायः लेते हुए :

उदा० (६) माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जण-कर-पल्लवेँहिँ दंसिज्जंतु भमिज्ज ॥

शब्दार्थ माणि-माने । पणट्ठइ-प्रणष्टे । जइ । जइ-यदि । न-न । तणु-तनुम् । तो-ततः । देसडा-देशम् । चइज्ज-त्यजेत् । मा-मा (= न) । दुज्जण-कर-पल्लवेँहिँ-दुर्जन-कर-पल्लवैः । दंसिज्जंतु-दर्श्यमानः । भमिज्ज-भ्राम्येत् ।

छाया माने प्रणष्टे यदि तनुम् न (त्यजेत्), ततः देशम् त्यजेत् । न (तु) दुर्जन-कर-पल्लवैः दर्श्यमानः भ्राम्येत् ।

अनुवाद मानभंग होने पर यदि शरीर का त्याग न करो तो देश (तो) त्याग (ही) देना । (परंतु) दुर्जनों की तर्जनी का निशाना बनकर भटकना मत ।

उदा० (७) लोणु विलिज्जइ पाणिएँण अरि खल मेह म गज्जु ।
बालिउ गलइ सु झुंपडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥

शब्दार्थ लोणु-लवणम्, लावण्यम् । विलिज्जइ-विलीयते । पाणिएँण-पानीयेन । अरि-अरे । खल-खल । मेह-मेघ । म-मा । गज्जु-गर्ज । बालिउ-ज्वालितम् (= दग्धम्) । गलइ-गलति । सु-तद् । झुंपडा-कुटीरकम् । गोरी-गौरी । तिम्मइ-तिम्यति । अज्जु-अद्य ।

छाया लवणम् (लावण्यम्) पानीयेन विलीयते । अरे खल मेघ, मा गर्ज । तद् दग्धम् कुटीरकम् गलति, गौरी (च) अद्य तिम्यति ।

अनुवाद लोन (लावण्य, सलोनापन) तो पानी से पिघल जाता है, हे दुष्ट मेघ, गरज मत (= गर्जना न कर) । वह जली झोंपड़ी गल रही है (और) गोरी आज भीग रही है ।

वृत्ति मनाको मणाउँ । 'मनाक्' का 'मणाउँ' ।

उदा० (८) विहवि पणट्ठइ वंकुडउ रिद्धिहिँ जण-सामन्नु ।
किं-पि मणाउं महु पिअहों ससि अणुहरइ न अन्नु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ विहवि–विभवे । पणट्ठइ–प्रनष्टे । वंकुडउ–वक्रः । रिद्धेहिँ–ऋद्धौ । जण–सामन्नु—जन–सामान्यः । किं–पि–किम् अपि । मणाउं–मनाक् । महु–मम । पिअहोँ–प्रियस्य । ससि–शशी । अणुहरइ–अनुहरति । न–न । अन्नु–अन्यः ।

छाया विभवे प्रनष्टे वक्रः । ऋद्धौ (च) जन–सामान्यः । मम प्रियस्य शशी किम् अपि मनाक् अनुहरति । न अन्यः ।

अनुवाद वैभव नष्ट होने पर बाँका (और) समृद्धि में सब लोगों के जैसा–यों (एक मात्र) चंद्र कुछ कुछ मेरे प्रियतम के जैसा है, और दूसरा कोई नहीं ।

419 **किलाथवा–दिवा–सह–नहेः किराहवइ दिवेँ सहुँ नाहिँ ॥**

'किल', 'अथवा', 'दिवा', 'सह', 'नहि' का 'किर', 'अहवइ', 'दिवेँ', 'सहुँ', 'नहिँ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे किलादीनां किरादय आदेशा भवन्ति । किलस्य किरः ।

अपभ्रंश में, 'किल' आदि के 'किर' आदि आदेश होते हैं । 'किल' का 'किर – '

उदा० (१) **किर** खाइ न पिअइ न विद्दवइ घम्मि न वेच्चइ रूअडउ ।
इह किवणु न जाणइ जइ जमहोँ खणेँण पहुच्चइ दूअडउ ॥

शब्दार्थ किर–किल । खाइ–खादति । न–न । पिअइ–पिबति । न–न । विद्दवइ–विद्रवति (= ददाति) । घम्मि–घर्मे । न–न । वेच्चइ–व्ययति । रूअडउ–रूपकम् । इह–इह । किवणु–कृपणः । न–न । जाणइ–जानाति । जइ–यदि । जमहोँ–यमस्य । खणेँण–क्षणेन । पहुच्चइ–प्रभवति । दूअडउ–दूतः ।

छाया कृपणः किल न खादति, न पिबति, (न) ददाति, न घर्मे रूपकम् व्ययति । इह (सः) न जानाति यदि यमस्य दूतः क्षणेन प्रभवति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद कहते हैं कि कृपण न खाता है, न पीता है, न रुपया (धेला) धर्मार्थ में खर्च करता है। इसमें (इतना वह) नहीं जानता है कि कहीं से यम का दूत एक क्षण में ही आ धमकेगा (= पहुँच जायेगा)।

वृत्ति अथवोऽहवइ। 'अथवा' का 'अहवइ'।

उदा० (२) अहवइ न सु-वसह एह खोडि।

शब्दार्थ अहवइ-अथवा। न-न। सु-वंसहँ-सु-वंशानाम्। एह-एषा (एषः)। खोडि (दे.)-दोषः।

छाया अथवा न एषः सु-वंशानाम् दोषः।

अनुवाद अथवा तो कुलीनों के लिये वह दोष नहीं है।

वृत्ति प्रायोऽधिकारात्। प्रायः अधिकार से।

उदा० (३) जाइज्जइ ताहँ देसडइ लब्भइ पिअहो पवाँणु।
जइ आवइ तो आणियइ अहवा तं जि निवाणु॥

शब्दार्थ जाइज्जइ-गम्यते। तहिँ-तस्मिन्। देसडइ-देशे। लब्भइ-लभ्यते। पिअहो-प्रियस्य। पवाँणु-प्रमाणम्। जइ-यदि। आवइ-आगच्छति। तो-ततः। आणिअइ-आनीयते। अहवा-अथवा। तं-तद्। जि-एव। निवाणु-निर्वाणम् (= अन्तः)।

छाया तस्मिन् देशे गम्यते (यत्र) प्रियस्य प्रमाणम् लभ्यते। यदि (सः) आगच्छति ततः आनीयते। अथवा सः एव अन्तः।

अनुवाद उस देश में जाया जाता हूँ (= जाता हूँ) (जहाँ) प्रिय के (होने का) प्रमाण मिले। यदि (वह) आयेगा तो (लौटा) लिवायेगा (= लाऊँगा) अन्यथा, वही (मेरा) निर्वाण (= मेरा अन्त)।

वृत्ति दिवो दिवे। 'दिवा' का 'दिवे'।

उदा० (४) दिवे दिवे गगा-ण्हाणु। (देखिये 399/1)

वृत्ति सहरय सहुँ। 'सह' का 'सहुँ'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (५) जउ पवसंतें न सहुँ गय न मुअ विओएं तस्सु ।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिंतहिँ सुहय-जणस्सु ॥

शब्दार्थ जउ-यतः । पवसंतें-प्रवसता । न-न । सहुँ-सह । गय-गता । न-न । मुअ-मृता । विओएं-वियोगेन । तस्स-तस्य । लज्जिज्जइ-लज्ज्यते । संदेसडा-सन्देशान् । दिंतिहिँ-ददतीभिः । सुहय-जणस्सु-सुभग-जनस्य ।

छाया यतः प्रवसता सह न गता, तस्य वियोगेन न मृता, (तेन) सुभगजनस्य सन्देशान् ददतीभिः (अस्माभिः) लज्ज्यते ।

अनुवाद जब वह यात्रा पर गया तब न तो साथ गयी, (और) न तो उसके वियोग में मर गयी : (अतः) प्रियजन के लिए संदेश कहते (हमें) शर्म आती है ।

वृत्ति नहेर्नाहिँ । 'नहि' का 'नाहिँ' ।

उदा० (६) एत्तहेँ मेह पिअंति जलु एत्तहेँ वडवाणलु आवट्टइ ।
पेक्खु गहीरिम सायरहोँ एक्क-वि कणिअ नाहिँ ओहट्टइ ॥

शब्दार्थ एतहेँ-इतः । मेह-मेघाः । पिअंति-पिबन्ति । जलु-जलम् । एत्तहेँ-इतः । वडवाणलु-वडवानलः । आवट्टइ (दे.)-विनाशयति । पेक्खु-प्रेक्षस्व । गहीरिम-गभीरिमाणम् । सायरहोँ-सागरस्य । एक्क-वि-एका अपि । कणिअ-कणिका । नाहिँ-नहि । ओहट्टइ (दे.) हीयते ।

छाया इतः मेघाः जलम् पिबन्ति । इतः वडवानलः विनाशयति । सागरस्य गभीरिमाणं प्रेक्षस्व । एका अपि कणिका नहि हीयते ।

अनुवाद यहाँ मेघ जल पीते हैं, यहाँ वडवाग्नि विनाश करता है । (फिर भी) सागर का गभीरता (तो) देखो ! एक कन (भर) भी कम नहीं होती !

420 पश्चादेवमेवैदानीं-प्रत्युतेतसः पच्छइ एवँइ जि एवँहिँ पच्चल्लिउ एत्तहेँ ॥
'पश्चाद्', 'एवमेव', 'एव', 'इदानीम्', 'प्रत्युत', 'इतस्', 'पच्छइ', 'एवँइ', 'जि', 'एवँहिँ' 'पच्चल्लिउ', 'एत्तहेँ' ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्ति अपभ्रंशे पश्चादादीनां 'पच्छइ' इत्यादयः आदेशा भवन्ति । पश्चातः पच्छइ ।

अपभ्रंश में 'पश्चात्' आदि के 'पच्छइ' आदि आदेश होते हैं । 'पश्चात्' का 'पच्छइ'—

उदा० (१) पच्छइ होइ विहाणु । (देखिए 362) ।

वृत्ति एवमेवस्य एवँइ । 'एवमेव' का 'एवँइ' ।

उदा० (२) एवँइ सुरउ समत्तु । (देखिये 332/2) ।

वृत्ति एवस्य जिः । 'एव' का 'जि' ।

उदा० (३) जाउ म जंतउ पल्लवह देक्खउँ कइ पय देइ ।
हिअइ तिरिच्छी हउँ जि पर पिउ डंबरइँ करेइ ॥

शब्दार्थ जातु—यातु । म—मा । जंतउ—यान्तम् । पल्लवह—पल्लवत । देक्खउँ—पश्यामि । कइ—कति । पय—पदानि । देइ—ददाति । हिअइ—हृदये । तिरिच्छी—तिरश्चीना । हउँ—अहम् । जि—एव । पर—परम् । पिउ—प्रियः । डंबरइँ—डम्बराणि । करेइ—करोति ।

छाया यातु । यान्तम् मा पल्लवत । पश्यामि, कति पदानि ददाति (इति) । हृदये अहम् एव तिरश्चीना । परम् प्रियः डम्बराणि करोति ॥

अनुवाद भले जाये । जाते हुए को वस्त्रांचल पकड़ कर मत रोको । देखती हूँ (वह) कितने कदम बढ़ाता है । मैं ही (उसके) हृदय में तिरछी (अड़ी हुई हूँ) । प्रियतम अभिनय (—बेकार नखरे) करता है ।

वृत्ति : इदानीम एवँहिँ । 'इदानीम्' का 'एवँहिँ' ।

उदा० (४) हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ ।
एवँहि राह—पओहरहँ जं भावइ तं होउ ॥

शब्दार्थ हरि—हरिः । नच्चाविउ—नर्तितः । पंगणइ—प्राङ्गणे । विम्हइ—विस्मये । पाडिउ—पातितः । लोउ—लोकः । एवँहिँ—इदानीम् । राह—पओहरहँ—राधा—पयोधरयोः । जं—यद् । भावइ—भावयति । तं—तद् । होउ—भवतु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया हरिः प्राङ्गणे नर्तितः । लोकः विस्मये पातितः । इदानीम् राधा-पयोधरयोः यद् भावयति तद् भवतु ।

अनुवाद हरि को आंगन में नचाया, (और इस तरह) लोगों को विस्मित किया । अब राधा के पयोधरों का जो चाहे (= होना हो) वह हो !

वृत्ति प्रत्युतस्य पच्चल्लिउ ।
'प्रत्युत' का 'पच्चल्लिउ' ।

उदा० (५) साव-सलोणी गोरडी नवखी क-वि विस-गंठि ।
भडु पच्चल्लिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कंठि ॥

शब्दार्थ साव—सलोणी—सर्व-सलावण्या । गोरडी गौरी । नवखी—नवीना । क-वि—का अपि । विस—गंठि—विष-ग्रन्थिः । भडु-भटः । पच्चल्लिउ-प्रत्युत । सो-सः । मरइ-म्रियते । जासु-यस्य । न-न । लग्गइ-लगति । कंठि-कण्ठे ।

छाया सर्व-सलावण्या गौरी का अपि नवीना विष-ग्रन्थिः । प्रत्युत सः भटः म्रियते यस्य कण्ठे (सा) न लगति ।

अनुवाद सर्वांगसुन्दर गोरी कोई अनोखी (अलग प्रकार की) विषग्रंथि (बछनाग) है । उलटे यह जिसके गले नहीं लगती वह प्रेमी मर जाता है ।

वृत्ति इतस एत्तहे ̆ । 'इतस्' का 'एत्तहे ̆' ।

उदा० (६) एत्तहे ̆ मेह पिअंति जलु । (देखिए 419/6)

421 विषण्णोक्त-वर्त्मनो वुन्न-वुत्त-विच्च ॥

'विषण्ण', 'उक्त', 'वर्त्मन्' का 'वुन्न', 'वुत्त', 'विच्च' ।

वृत्ति अपभ्रंशे विषण्णादीनां वुन्नाद्य आदेशा भवन्ति । विषण्णस्य वुन्नः ।
अपभ्रंश में 'विषण्ण' आदि का 'वुन्न' आदि आदेश होता है ।
'विषण्ण' का 'वुन्न'-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (१) मइँ वुत्तउँ तुहुँ धुर धरहि कसरेहिँ विगुत्ताइँ ।
पइँ विणु धवल न चडइ भरु एवँइ वुन्नउ काइँ ॥

शब्दार्थ मइँ–मया । वुत्तउँ–उक्तम् । तुहुँ–त्वम् । धुर–धुरम् । धरहि–धर । कसरेहिँ (दे.)–गलिवृषभैः । विगुत्ताइँ (दे.)–विनाटिताः । पइँ–त्वया । विणु–विना । धवल–धवल । न–न । चडइ–आरोहति । भरु–भरः । एवँइ–एवमेव । वुन्नउ–विषण्णः । काइँ–किम् ।

छाया मया उक्तम् त्वम् धुरं धर । (वयम्) गलिवृषभैः विनाटिताः । (हे) धवल, त्वया विना भरः न आरोहति । एवमेव किं विषण्णः ।

अनुवाद मैंने कहा न कि, तु ही जुआ उठा–अडिपल बैलों से (हम तो) तंग आ चुके ! हे धवल (= वृषभोत्तम) तेरे बिना बोझ नहीं उठेगा । (तु) यों ही क्यों उदास हो गया ?

वृत्ति उक्तस्य वुत्तः । उक्त का वुत्तः ।

उदा० (२) मइँ वुत्तउ । (देखिये उपर का उदाहरण (१))

वृत्ति वर्त्मनो विच्चः । 'वर्त्मन्' का 'विच्च्'

उदा० (३) जं मणु विच्चि न माइ । (देखिये 350/1)

422 शीघ्रादीनां वहिल्लादयः ॥

'शीघ्र' आदि के 'वहिल्ल' आदि ।

वृत्ति अपभ्रंशे शीघ्रादीनां वहिल्लादयः आदेशा भवन्ति ।
अपभ्रंश में 'शीघ्र' आदि के वहिल्ल आदि 'आदेश' होते हैं ।

उदा० (१) एक्कु कइअहँ–वि न आवहि अन्नु वहिल्लउ जाहि ।
मइँ मित्तडा प्रमाणिअउँ पइँ जेहउ खलु नाहिँ ॥

शब्दार्थ एक्कु–एकम् । कइअहँ–वि–कदा अपि । न–न । आवहि–आगच्छसि । अन्नु–अन्यद् । वहिल्लउ (दे.)–शीघ्रम् । जाहि–गच्छसि । मइँ–मया । मित्तडा–मित्र । प्रमाणिअउँ–प्रमाणितम् । पइँ–त्वया । जेहउ–यादृशः (= सदृशः) । खलु–खलः । नाहिँ–नहि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया — एकम् कदा अपि न आगच्छसि । अन्यद् शीघ्रम् गच्छसि । (हे) मित्र, मया प्रमोणितम् (यद्) त्वया सदृशः खलः नहि ।

अनुवाद — एक बात रह कि कब से (= कितने ही समय से) आते नही हो, दूसरे जल्दी चले जाते हो । हे मित्र मुझे विश्वास हो गया है (कि) तुम्हारे जैसा दुष्ट (और कोई) नहीं है ।

वृत्ति — झकटस्य घंघलः । 'झकट' का 'घंघल' ।

उदा० (२) जिवँ सु-पुरिस तिवँ घंघलइँ — जिवँ नइ तिवँ वलणाइँ ।
जिवँ डुंगर तिवँ कोट्टरइँ — हिआ विसूरहि काइँ ॥

शब्दार्थ — जिवँ-यथा । सु-पुरिस-सु-पुरुषाः । तिवँ-तथा । घंघलइँ (दे.)-झकटकाः (= कलहाः) । जिवँ-यथा । नइ-नद्यः । तिवँ-तथा । वलणाइं-वलनानि । जिवँ-यथा । डुंगर (दे.)-गिरयः । तिवँ-तथा । कोट्टरइँ-कोटराणि । हिआ-(हे) हृदय । विसूरहि (दे.)-खिद्यसे । काइँ-किम् ।

छाया — यथा सु-पुरुषाः तथा कलहाः । यथा नद्यः तथा वलनानि । यथा गिरयः तथा कोटराणि । (हे) हृदय, किं खिद्यसे ।

अनुवाद — जिसा प्रकार सत् पुरुष (होते हैं), उसी प्रकार झगड़े (भी होते हैं)। जिस प्रकार नदियाँ होती हैं, उसी प्रकार मोड़ (भी होते हैं)। जिस प्रकार पहाड़ (होते हैं) उसी प्रकार कोटर (भी होते हैं तो) हे हृदय, क्यों उदास होता है ?

वृत्ति — अस्पृश्यसंसर्गस्य विट्टालः ॥ 'अस्पृश्य-संसर्ग' का 'विट्टाल' ।

उदा० (३) जे छड्डेविणु रयणनिहि — अप्पउँ तडि घल्लंति ।
तहँ संखहँ विट्टालु पर — फुक्किज्जंत भमंति ॥

शब्दार्थ — जे-ये । छड्डेविणु-त्यक्त्वा । रयणनिहि-रत्ननिधिम् । अप्पउँ-आत्मानम् । तडि-तटे । घल्लंति (दे.)-क्षिपन्ति । तहँ-तेषाम् । संखहँ-शङ्खानाम् । विट्टालु (दे.)-अस्पृश्य-संसर्गः । पर-परम् (= केवलम्) । फुक्किज्जंत-फूत्क्रियमाणाः । भमंति-भ्रमन्ति ।

छाया — ये रत्ननिधिम् त्यक्त्वा आत्मानम् तटे क्षिपन्ति तेषाम् शङ्खानाम् अस्पृश्य-संसर्गः केवलम् । (ते) फूत्क्रियमाणाः भ्रमन्ति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद — जो रत्ननिधि (= १. समुद्र, २. रत्न का भंडार) छोड़कर अपने आप को किनारों पर फेंकते हैं, उन शंख केवल सच्छिष्ट हो जाते हैं। और लोगों से फूंके जाते भटकते हैं।

वृत्ति — भयस्य द्रवक्कः। 'भय' का 'द्रवक्क' —

उदा० (४) दिवे ँहिँ विढत्तउँ खाहि वढ संचि म एक्कु-वि द्रम्मु।
को-वि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु॥

शब्दार्थ — दिवे ँहिँ-दिवसैः। विढत्तउँ (दे.)-अर्जितम्। खाहि-खाद। वढ (दे.) मूर्ख। संचि-संचिनु। म-मा। एक्कु-वि-एकम् अपि। द्रम्मु-द्रम्मम्। को-वि-कः अपि (= किम् अपि)। द्रवक्कउ (दे.)-भयम्। सो-सः (= तद्)। पडइ-पतति। जेण-येन। समप्पइ-समाप्यते। जम्मु-जन्म।

छाया — मूर्ख, दिवसैः अर्जितम् खाद। एकम् अपि द्रम्मम् मा संचिनु। किम् अपि तद् भयम् पतति, येन जन्म समाप्यते।

अनुवाद — मूर्ख, रोज का कमाया हुआ रोज ही खा ले। एक भी द्रम्म बचा मत। (क्योंकि अचानक) कोई ऐसा संकट आगिरता है कि जिसके कारण जीवन (ही) समाप्त हो जाता है।

वृत्ति — आत्मीयस्य अप्पणः॥ 'आत्मीय' का 'अप्पण' —

उदा० (५) फोडेंति जे ँ हियडउँ अप्पणउँ। (देखिये 350/2)।

वृत्ति — दृष्टेर्द्रेहिः। 'दृष्टि' का 'द्रेहि' —

उदा० (६) एक्कमेक्कउँ जइ-वि जोएदि।
हरि सुट्ठु सव्वायरे ँण तो-वि द्रेहि जहिँ कहिँ-वि राही।
को सक्कइ संवरे ँवि दड्ढ-नयण नेहें पलुट्टा॥

शब्दार्थ — एकमेक्कउँ-एकैकम्। जइ-वि-यदि अपि। जोएदि-पश्यति। हरि-हरिः। सुट्ठु-सुष्ठु। सव्वायरे ँण-सर्वादरेण। तो-वि-ततः अपि। द्रेहि-दृष्टिः। जहिँ-यत्र। कहिँ-वि-कुत्र अपि। राही-राधिका। को-कः। सक्कइ-शक्नोति। संवरे ँवि-संवरीतुम्। दड्ढ-नयण-दग्ध-नयन। नेहें-स्नेहेन। पलुट्टा-पर्यस्ते (=व्याकुलिते)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया यदि अपि हरिः एकैकम् सुष्ठु सर्वादरेण पश्यति, ततः अपि (तस्य) दृष्टिः (तत्र) यत्र कुत्र अपि राधिका । स्नेहेन व्याकुलिते दग्ध-नयने संवरीतुम् कः शक्नोति ।

अनुवाद हालांकि कृष्ण प्रत्येक (वस्तु) को ठीक तरह से और पूरे आदर से देखते हैं, फिर भी (उनकी) दृष्टि (तो) जहाँ कहीं भी राधिका (हो वहीं ही होती है) । स्नेह से विकल्प इन तपते/जलते नयनों को कौन छिपा सके ?

वृत्ति गाढस्य निच्चट्टः । 'गाढ' का 'निच्चट्टः'
'गाढ' का 'निच्चट्ट' ।

उदा० (७) विहवें कस्सु थिरत्तणउँ जोव्वणि कस्सु मरट्टु ।
सो लेखडउ पठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु ॥

शब्दार्थ विहवें-विभवे । कस्सु-कस्य । थिरत्तणउँ-स्थिरत्वम् । जोव्वणि-यौवने । कस्सु-कस्य । मरट्टु (दे).-गर्वः । सो-सः लेखडउ-लेखः । पठाविअइ-प्रस्थाप्यते (=प्रेष्यते) । जो-यः । लग्गइ-लगति । निच्चट्टु (दे.)-गाढम् ।

छाया विभवे कस्य स्थिरत्वम् । यौवने कस्य गर्वः । सः लेखः प्रस्थाप्यते (=प्रेष्यते), यः गाढम् लगति ।

अनुवाद वैभव की स्थिरता किसे होती है ? यौवन का गर्व किसे होता है ? (इसलिये) ऐसा पत्र दे, जो गाढ (=एकदम) चिपक जायें ।

वृत्ति असाधारणस्य सड्ढलः । 'असाधारण' का 'सड्ढल' ।

उदा० (८) कहिँ ससहरु कहिँ मयरहरु कहिँ बरिहिणु कहिँ मेहु ।
दूर-ठिआहँ-वि सज्जणहँ होइ असड्ढलु नेहु ॥

शब्दार्थ कहिँ-कुत्र । ससहरु-शशधरः । कहिँ-कुत्र । मयरहरु-मकरगृहः । कहिँ-कुत्र । बरिहिणु-बर्ही । कहिँ-कुत्र । मेहु-मेघः । दूर-ठिआहँ-वि- दूर-स्थितानाम् अपि । सज्जणहँ-सज्जनानाम् । होइ-भवति । असड्ढलु (दे.)-असाधारणः । नेहु-स्नेहः ।

छाया कुत्र शशधरः, कुत्र मकरगृहः । कुत्र बर्ही, कुत्र मेघः । दूर-स्थितानाम् अपि सज्जनानाम् असाधारणः स्नेहः भवति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद कहाँ चन्द्र और कहाँ सागर ? कहाँ मोर और कहाँ मेघ ? दूर रहे हुए सज्जनों के बीच भी असाधारण स्नेह होता है ।

वृत्ति कौतुकस्य कोड्डः । 'कौतुक' का 'कोड्ड' ।

उदा० (९) कुंजरु अन्नहँ तरुअरहँ कोड्डेँण घल्लइ हत्थु ।
मणु पुणु एक्कहिँ सल्लइहिँ जइ पुच्छह परमत्थु ।।

शब्दार्थ कुंजरु-कुञ्जरः । अन्नहँ-अन्येषाम् । तरुअरहँ-तरुवराणाम् । कोड्डेँण-कौतुकेन । घल्लइ (दे.)-क्षिपति । हत्थु-हस्तः । मणु-मनः । पुणु-पुनः । एक्कहिँ-एकस्याम् । सल्लइहिँ-सल्लक्याम् । जइ-यदि । पुच्छह-पृच्छथ । परमत्थु-परमार्थम् ।

छाया कुञ्जरः अन्येषाम् तरुवराणाम् (उपरि) कौतुकेन हस्तः क्षिपति । (तस्य) मनः पुनः एकस्याम् सल्लक्याम्, यदि परमार्थम् पृच्छथ ।

अनुवाद कुंजर अन्य वृक्षों (पर तो) कौतुक से सूँढ बढ़ाता है । परंतु (उसका) मन तो सच पूछो तो एक सल्लकी में ही है ।

वृत्ति क्रीडायाः खेड्डः । 'क्रीडा' का 'खेड्ड' ।

उदा० (१०) खेड्डुयं कयमम्हेहिं निच्छयं, किं पयंपह ।
अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिय ।।

शब्दार्थ खेड्डुयं-क्रीडा । कयमम्हेहिं-कृतम् (=कृता) अस्माभिः । निच्छयं-निश्चयं । किं-किम् । पयंपह = कथयथ । अणुरत्ताउ-अनुरक्ताः । भत्ताउ-भक्ताः । अम्हे-अस्मान् । मा-मा । चय-त्यज । सामिय-स्वामिन् ।

छाया अस्माभिः निश्चयं क्रीडा कृता । किं कथयथ । स्वामिन्, अस्मान् अनुरक्ताः भक्ताः मा त्यज ।

अनुवाद क्या कहते हो ? निश्चित रूप से हमने तो (वह) 'खेल' किया था । स्वामी, (तुम्हारी) भक्त और अनुरक्त ऐसी हमारा त्याग मत करो ।

वृत्ति रम्यस्य रवण्णः । 'रम्य' का 'रवण्ण'-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (११) सरिहिँ सरेहिँ न सरवरेँहिँ न–वि उज्जाण–वणेहिँ ।
देस रवण्णा होंति वढ निवसंतेहिँ सुअणेहिँ ॥

शब्दार्थ सरिहिँ–सरिद्भिः । न–न । सरेहिँ–सरोभिः । न–न । सरवरेँहिँ–सरोवरैः । न–वि–न अपि । उज्जाण–वणेहिँ–उद्यान–वनैः । देस–देशाः । रवण्णा–रम्याः । होंति–भवन्ति । वढ (दे.) मूर्ख । निवसंतेँहिँ–निवसद्भिः । सुअणेहिँ–सुजनैः ।

छाया मूर्ख, न सरिद्भिः, न सरोवरैः, न अपि उद्यान–वनैः, (अपि तु) निवसद्भिः सुजनैः एव देशाः रम्याः भवन्ति ।

अनुवाद मूर्ख, देश रमणीय होते हैं वह वहाँ बसते सज्जनों के कारण, नहीं कि नदियों, तालाबों, झीलों, उद्यानों और वनों के कारण ।

वृत्ति अद्भुतस्य ढक्करिः । 'अद्भुत' का 'ढक्करि'–

उदा० (१२) हिअडा पइँ एँहु बोल्लिअउँ महु अग्गइ सय–वार ।
'फुट्टिसु पिएँ पवसंतेँ हउँ' भंडय ढक्करि–सार ॥

शब्दार्थ हिअडा–हृदय । पइँ–त्वया । एँहु–एतद् । बोल्लिअउँ–कथितम् । महु–मम । अग्गइ–अग्रे । सय–वार = शत–वारम् । फुट्टिसु–स्फुटिष्यामि । पिएँ–प्रिये । पवसंतेँ–प्रवसति । हउँ–अहम् । भंडय (दे.)–निर्लज्ज । ढक्करि (दे.)–सार–अद्भुत–सार ।

छाया हृदय, निर्लज्ज, अद्भुत–सार, मम अग्रे त्वया शत–वारम् एतद् कथितम् प्रिये प्रवसति अहम् स्फुटिष्यामि' (इति) ।

अनुवाद हे हृदय, निर्लज्ज ! अद्भुत दृढतावाले ! तुने मुझे सौ सौ बार ऐसा कहा था कि प्रियतम के प्रवास जाने पर मैं फट पड़ूँगा ।

वृत्ति (१३) हे सखीत्यस्य हेल्लि । 'हे सखी' का 'हेल्लि' ।

उदा० हेल्लि म झंखहि आलु । (देखिये 379/3)

वृत्ति पृथक् पृथगित्यस्य जुअंजुअः । 'पृथक पृथक्' का 'जुअंजुअ' —

उदा० (१४) एक्क कुडुल्ली पंचहिँ रुद्धी तहँ पंचहँ–वि जुअंजुअ बुद्धी ।
बहिणुएँ तं घरु कहि किवँ नंदउ जेत्थु कुडुंबउँ अप्पण–छंदउँ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ एक्क-एक्क । कुड्डुल्ली-कुटी । पंचहिँ-पञ्चभिः । रुद्धी-रुद्धा । तहँ-तेषाम् । पंचहँ-वि-पञ्चानाम् अपि । जुअंजुअ (दे.)-पृथक् पृथक् । बुद्धी-बुद्धिः । बहिणुएँ-भगिनि । तं-तद् । घरु-गृहम् । कहि-कथय । किवँ-कथम् । नंदउ-नन्दतु । जेत्थु-यत्र । कुडुंबउँ-कुटुम्बकम् । अप्पण-छंदउँ-आत्म-छन्दकम् ।

छाया एका कुटी पञ्चभिः रुद्धा । तेषाम् पञ्चानाम् पृथक्पृथक् बुद्धिः । भगिनि, कथय, यत्र कुटुम्बम् आत्म-छन्दकम् तद् गृहम् कथम् नन्दतु ।

अनुवाद एक कुटिया और पाँच रहनेवाले, (और) उन पाँचों की (ऊपर से) अलग-अलग बुद्धि ! बहन, बता, जहाँ कुटुम्ब (पूरा) अपने-अपने छंदवाला हो, उसका घर कैसे सुखी होगा ?

वृत्ति मूढस्य नालिअ-वढौ । 'मूढ' का 'नालिअ' और 'वढ' ।

उदा० (१५) जो पुणु मणि-जि खसप्फसिहूअउ, चिंतइ देइ न दम्मु न रूअउ ।
रइवस-भमिरु करग्गुल्लालिउ, घरहिँ-जि कोंतु गुणइ सो नालिउ ॥

शब्दार्थ जो-यः । पुणु-पुनः । मणि-जि-मनसि एव । खसप्फसिहूअउ (दे.)-व्याकुलीभूतः । चिंतइ-चिन्तयति । देइ-ददाति । न-न । दम्मु-द्रम्मम् । न-न । रूअउ-रूपकम् । रइवस-भमिरु-रतिवश-भ्रमणशीलः । करग्गुल्लालिउ-कराग्रोल्लालितम् । घरहिँ-जि-गृहे एव । कोंतु-कुन्तम् । गुणइ-गुणयति । सो-सः । नालिउ (दे.)-मूर्खः ।

छाया यः पुनः रतिवश-भ्रमणशीलः व्याकुलीभूतः मनसि एव चिन्तयति, न (तु) द्रम्मम् रूपकं (वा) ददाति. सः मूर्खः कराग्रोल्लालितम् कुन्तम् गृहे एव गुणयति ।

अनुवाद रतिविवश (दशा में) भटकता कोई विकल होकर, (देने की) मनमें ही सोचे-परंतु द्रम्म या रूपया दे नहीं, वह मूर्ख घर में (रहकर ही) कराग्र से उछालकर भाले (के प्रयोग) का अभ्यास करता है ।

उदा० (१६) दिवे हिँ विढत्तउँ खाहि वढ । (देखिये 422/4)

वृत्ति नवस्य नवखः । 'नव' का 'नवख' ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (१७) नवखी क–वि विस–गंठी । (420/6)

वृत्ति अवस्कन्दस्य दडवडः । 'अवस्कन्द' का 'दडवड' ।

उदा० (१८) चले᳔हिँ वलंते᳔हिँ लोअणे᳔हिँ जे तइँ दिट्ठा बालि ।
तहिँ मयरद्धय–दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ॥

शब्दार्थ चले᳔हिँ–चलाभ्याम् । वलंते᳔हिँ–वलमानाभ्याम् । लोअणे᳔हिँ–लोचनाभ्याम् । जे–ये । तइँ–त्वया । दिट्ठा–दृष्टाः । बालि–बाले । तहिँ–तेषु । मयरद्धय–दडवडउ (दे.)–मकरध्वजावस्कन्दः । पडइ–पतति । अपूरइ–अपूर्णे । कालि–काले ।

छाया बाले, चलाभ्याम् वलमानाभ्याम् लोचनाभ्याम् ये त्वया दृष्टा तेषु मकरध्वजावस्कन्दः अपूर्णे काले पतति ।

अनुवाद हे बाला, चंचल और कटाक्षयुक्त लोचनों से तुमने जिनको देखा हों, उन पर कामदेव का छापा अधूरे समय में (= असमय, कच्ची उम्र में ही) लगता है ।

वृत्ति यदेश्छुडुः । 'यदि' का 'छुडु'–

उदा० (१९) छुडु अग्घइ ववसाउ । (देखिये 385/1) ।

वृत्ति सम्बन्धिनः केर–तणौ ।
'सम्बन्धिन्' का 'केर' और 'तण'–

उदा० (२०) गयउ सु केसरि, पिअहु जलु निच्चिंतइँ हरिणाइँ ।
जसु केरएँ हुंकारडएँ मुहहुँ पडंति तृणाइँ ॥

शब्दार्थ गयउ-गतः । सु–सः । केसरि–केसरी । पिअहु–पिबत । जलु–जलम् । निच्चिंतइँ–निश्चिन्ताः । हरिणाइँ–हरिणाः । जसु–यस्य । केरएँ–सम्बन्धिना । हुंकारडएँ–हुङ्कारेण । मुहहुँ–मुखेभ्यः । पडंति–पतन्ति । तृणाइँ–तृणानि ।

छाया हरिणाः, निश्चिन्ताः जलम् पिवत । सः केसरी गतः, यस्य सम्बन्धिना हुङ्कारेण मुखेभ्यः तृणानि पतन्ति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद हे हिरनों, निश्चिंत (हो कर) जल पीओ । जिसकी हुंकार से मुँह में से तिनके गिरते हैं (= गिरते थे), वह केसरी (तो) चला गया ।

उदा० (२१) अह भग्गा अम्हहँ तणा । (देखिये 379/4)

वृत्ति मा भैषीरित्यस्य मब्भीसेति स्त्रीलिङ्गम् ।
'मा भैषीः' इसका स्त्रीलिंग 'मब्भीस' ।

उदा० (२२) सत्थावत्थहँ आलवणु साहु-वि लोउ करेइ ।
आदन्नहँ मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥

शब्दार्थ सत्थावत्थहँ—स्वस्थावस्थानम् । आलवणु-आलपनम् । साहु-वि-सर्वः अपि । लोउ-लोकः । करेइ-करोति । आदन्नहँ = आर्तानाम् । मब्भीसडी-मा भैषीः । जो-यः । सज्जणु-सज्जनः । सो-सः । देइ-ददाति ।

छाया स्वस्थावस्थानाम् (प्रति) सर्वः अपि लोकः आलपनम् करोति । आर्तानाम् (तु) यः सज्जनः स (एव) मा भैषीः (इति) ददाति ।

अनुवाद स्वस्थ अवस्थावालों के साथ (तो) सभी लोग बातें करते हैं । (परंतु) दुःखिओं को (तो) जो सज्जन होते हैं (वही) अभयवचन (=आश्वासन) देते हैं ।

वृत्ति यद् यद् दृष्टं तत् तदित्यस्य जाइट्ठिआ ।
'यद् यद् दृष्टं तद्' का 'जाइट्ठिआ' ।

उदा० (२३) जइ रच्चसि जाइट्ठिअएँ हिअडा मुद्ध-सहाव ।
लोहें फुट्टणएण जिवँ घणा सहेसइ ताव ॥

शब्दार्थ जइ—यदि रच्चसि-रज्यसे । जाइट्ठिअएँ-यद् यद् दृष्टं तेन तेन । हिअडा-हृदय । मुद्ध-सहाव—मुग्ध-स्वभाव । लोहे-लोहेन । फुट्टणएण-स्फुटनशीलेन । जिवँ-यथा, इव । घणा-बहवः सहेसइ-सहिष्यते । ताव-तापाः ।

छाया मुग्ध-स्वभाव हृदय, यदि यद् यद् दृष्टं तेन रज्यसे (तर्हि) स्फुटनशीलेन लोहेन इव बहवः तापाः सहिष्यते ।

अनुवाद हे मुग्ध स्वभाववाले हृदय, यदि (तु) जो जो देखा है उसमें डूबा (रहेगा), तो 'टूट जाने वाला लोहा की तरह बहुत ताप सहना होगा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

423 हुहुरु-घुग्घ्यादयः शब्द-चेष्टानुकरणयोः ॥

'हुहुरु', 'घुग्घि' आदि शब्द और चेष्टा के अनुकरण के लिये।

वृत्ति अपभ्रंशे हुहुर्वादयः शब्दानुकरणे घुग्घ्यादयश्चेष्टानुकरणे यथासङ्ख्यं प्रयोक्तव्याः।

अपभ्रंश में क्रमशः शब्दानुकरण के लिये 'हुहुरु' आदि और चेष्टानुकरण के लिये 'घुग्घि' आदि के प्रयोग करें।

उदा० (१) मइँ जाणिउ बुड्डीसु इउँ पेम्म-द्रहि हुहुरु-त्ति।
नवरि अचिंतिय संपडिय विप्पिय-नाव झडत्ति ॥

शब्दार्थ मइँ-मया। जाणिउ-ज्ञातम्। बुड्डीसु (दे.)-मंक्ष्यामि। हउँ-अहम्। पेम्म-द्रहि-प्रेम-ह्रदे। हुहुरु-त्ति-'हुहुरु' इति शब्दं कृत्वा। नवरि (दे.)-प्रत्युत। अचिंतिय-अचिंतिता। संपडिय-संपतिता (= संप्राप्ता)। विप्पिय-नाव-विप्रिय-नौः। झडत्ति-झटिति।

छाया मया ज्ञातम्, अहम् प्रेम-ह्रदे 'हुहुरु' इति शब्दं कृत्वा मंक्ष्यामि (इति)। प्रत्युत अचिन्तिता झटिति विप्रिय-नौः संप्राप्ता।

अनुवाद मैंने सोचा कि मैं प्रेम के भँवर में हहराते हुए डूब जाऊँगी। ऐसे अचानक (प्रियके) अपराध रूपी नौका फट से हाथ आ गयी।

वृत्ति आदि-ग्रहणात्। सूत्र का आदि (शब्द) लेते हुए-

उदा० (२) खज्जइ नउ **कसरक्केहिँ** पिज्जइ नउ **घुंटेहिँ**।
एवँइ होइ सुहच्छडी पिएँ दिट्ठें नयणेहिँ ॥

शब्दार्थ खज्जइ-खाद्यते। नउ-न। कसरक्केहिँ-कसरक्क इति शब्दं कृत्वा। पिज्जइ-पीयते। नउ-न। घुंटेहिँ-'घुंट' इति शब्दं कृत्वा। एवँ-एवमेव। होइ-भवति। सुहच्छडी-सुखासिका। पिएँ-प्रियेन। दिट्ठें-दृष्टेन। नयणेहिँ-नयनाभ्याम्।

छाया 'कसरक्क' इति शब्दं कृत्वा न खाद्यते। 'घुंट' इति शब्दं कृत्वा न पीयते। एवमेव नयनाभ्याम् दृष्टेन प्रियेन सुखासिका भवति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद 'खचाक्' 'खचाक्' (=चप् चप्) खाया नहीं जाता, या 'गट' 'गट' पीया नहीं जाता। प्रियतम को (खाली) यों ही (सिर्फ) आँखों से देखकर (ही) जी सुख-शान्त होती है।

वृत्ति इत्यादि। आदि।

उदा० (३) अज्ज-वि नाहु महु-ज्जि घरि सिद्धत्था वंदेइ।
ताउँ-जि विरहु गवक्खेहिँ मक्कड-घुग्घिउ देइ॥

शब्दार्थ अज्ज-वि-अद्य अपि। नाहु-नाथः। महु-ज्जि-मम एव। घरि-गृहे। सिद्धत्था-सिद्धार्थान् (=सर्षपान्)। वंदेइ-वन्दते। ताउँ-जि-तावत् एव। विरहु-विरहः। गवक्खेहिँ-गवाक्षेषु। मक्कड-घुग्घिउ (दे.)-मर्कट-चेष्टाः। देइ-ददाति।

छाया अद्य अपि नाथः मम गृहे एव सर्षपान् वन्दते। तावत् एव विरहः गवाक्षेषु मर्कट-चेष्टाः ददाति।

अनुवाद अभी तो पति (मेरे) घर में ही सरसों की वंदना कर रहे हैं, (पर) इतने में ही विरह झरोखों से मुँह-चिढ़ा रहा है।

वृत्ति आदि-ग्रहणात्।
(सूत्र का) आदि (शब्द) लेते हुए—

उदा० (४) सिरि जर-खंडी लोअडी गलि मणिअडा न वीस।
तो-वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धएँ उट्ठ-बईस॥

शब्दार्थ सिरि-शिरसि। जर-खंडी-जरा-खण्डिता। लोअडी-लोमपटी। गलि-गले। मणिअडा-मणयः। न-न। वीस-विंशतिः। तो-वि-तद् अपि। गोट्ठडा-गोष्ठाः। कराविआ-कारिताः। मुद्धएँ-मुग्धया। उट्ठबईस-उत्थानोपवेशनम्।

छाया शिरसि जरा-खण्डिता लोमपटी, गले (च) मणयः न विंशतिः (अपि)। तद् अपि मुग्धया गोष्ठाः उत्थानोपवेशनम् कारिताः।

अनुवाद सिर पर था छीजा हुआ पुराना कम्बल (और) गले में (पूरे) बीस मनके (भी) न (थे) (और) फिर भी मुग्धाने गोष्ठों से उठक-बैठक करवायी।

वृत्ति इत्यादि। आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

424 घइमादयोऽनर्थकाः ।

'घइँ' आदि अर्थरहित ।

वृत्ति अपभ्रंशे घइमित्यादयो निपाता अनर्थकाः प्रयुज्यन्ते ।
अपभ्रंश में अर्थरहित 'घइँ' आदि निपातों का प्रयोग होता है ।

उदा० अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विभालि ।
घइँ विवरेरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि ॥

शब्दार्थ अम्मडि–अम्ब । पच्छायावडा–पश्चात्तापः । पिउ–प्रियः । कलहिअउ–कलहायितः । विआलि–विकाले । घइँ–(पादपूरणः) नूनम् । विवरेरी–विपरीता । बुद्धडी–बुद्धिः । होइ–भवति । विणासहो–विनाशस्य । कालि–काले ।

छाया अम्ब, (मे) पश्चात्तापः (यद्) प्रियः विकाले कलहायितः । नूनम् विनाशस्य काले बुद्धिः विपराता भवति ।

अनुवाद माँ, (मुझे) पछतावा (हो रहा है कि) प्रियतम के साथ शाम को (ही) झगड़ा हुआ । सही बात है ! विनाशकाल में बुद्धि विपरीत हो जाती है ।

वृत्ति आदि–ग्रहणात् खाइँ इत्यादयः । आदि लेते हुए, 'खाइँ' आदि ।

425 तादर्थ्येर्येकेहिँ–तेहिँ–रेसि–रेसिं–तणेणाः ॥

'उसके लिए' के लिए 'केहिँ', 'तेहिँ', 'रेसि', 'रेसिं', 'तणेण' ।

वृत्ति अपभ्रंशे तादर्थ्ये द्योत्ये 'केहिँ', 'तेहिँ', 'रेसि', 'रेसिं', 'तणेण' इत्येते पञ्च निपाताः प्रयोक्तव्याः ॥

अपभ्रंश में, 'उसके लिए' अर्थ सूचित करने के लिए 'केहिँ', 'तेहिँ', 'रेसि', 'रेसिं' और 'तणेण' ऐसे पांच निपात का प्रयोग करें ।

उदा० (१) दोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहिँ देसि ।
हउँ झिज्जउँ तउ केहिँ पिअ तुहुँ पुणु अन्नहेँ रेसि ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ ढोल्ला (दे.)–प्रियतम । एह–एषा । परिहासडी–परिभाषा । अइ–अयि । भण–भण (= वद) । कवणहिँ–कस्मिन् । देसि–देशे । हउँ–अहम् । झिज्जउँ–क्षिये । तउ–तव । केहिँ–कृते । पिअ–प्रिय । तुहुँ–त्वम् । पुणु–पुनः । अन्नहे ँ–अन्यस्याः । रेसि–कृते ।

छाया अयि प्रियतम, वद ! एषा परिभाषा (= रीतिः) कस्मिन् देशे (वर्तते)– अहम् तव कृते क्षिये, त्वम् पुनः अन्यस्याः कृते ।

अनुवाद ओ प्रियतम, बता (तो सही) ऐसी रीति किस देश में (होती है) ?–मैं तुम्हारे लिये दुबली हो रही हूँ और तू किसी और के लिए !

वृत्ति एवं तेहिँ–रेसिमप्युदाहार्यौ ।

इसी प्रकार 'तेहिँ' और 'रेसिं' के उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

उदा० (२) वड्डुत्तणहों तणेण । देखिये । (366/1)

426 पुनर्विनः स्वार्थे डुः ॥

'पुनर्', 'विना' को स्वार्थिक डित् 'उ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे पुनर्विना इत्येताभ्याम् परः स्वार्थे डुः प्रत्ययो भवति ।
अपभ्रंश में, 'पुनर्' और 'विना' इन दो के बाद स्वार्थिक डित् 'उ' प्रत्यय आता है ।

उदा० (१) सुमरिज्जइ तं वल्लहउँ जं वीसरइ मणाउँ ।
जहिँ पुणु सुमरणु जाउ गउ तहों नेहहों कइँ नाउँ ॥

शब्दार्थ सुमरिज्जइ–स्मर्यते । तं–तद् । वल्लहउँ–वल्लभम् । जं–यद् । वीसरइ–विस्मर्यते । मणाउँ–मनाक् । जहिँ–यत्र । पुणु–पुनः । सुमरणु–स्मरणम् । जाउ–जातम् । गउ–गतम् । तहों–तस्य । नेहहों–स्नेहस्य । कइँ–किम् । नाउँ–नाम ।

छाया यद् वल्लभम् मनाक् (अपि) विस्मर्यते, तद् स्मर्यते । यत्र पुनः स्मरणम् जातम् तद् गतम् (एव) । तस्य स्नेहस्य किम् नाम ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद (वास्तव में) उस प्रिय वस्तु का स्मरण किया जाता है (जो) जरा सा (ही) विस्मृत हों । परंतु जहाँ स्मरण हुआ वह स्नेह तो गया ही । ऐसे स्नेह को क्या नाम (दें) ?

उदा० (२) विणु जुज्झें न वलाहु । (देखिये 386/1)

427 **अवश्यमो डें-डौ ॥**

'अवश्यम्' का डित् 'एं', 'अ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे अवश्यमः स्वार्थे डें ड इत्येतौ भवतः ।
अपभ्रंश में 'अवश्यम्' को स्वार्थिक डित् 'एं', 'अ' ये दो प्रत्यय लगते हैं ।

उदा० (१) जिब्भिदिउ नायगु वसिकरहु जसु अद्धिन्नइँ अन्नइँ ।
मूलि विणट्ठइ तुंबिणिहे अवसें सुक्कहिँ पन्नइँ ॥

शब्दार्थ जिब्भिदिउ–जिह्वेन्द्रियम् । नायगु–नायकम् । वसिकरहु–वसीकुरुत । जसु–यस्य । अद्धिन्नइँ–अधीनानि । अन्नइँ–अन्यानि । मूलि–मूले । विणट्ठइ–विनष्टे । तुंबिणिहे–तुम्बिन्याः । अवसें–अवश्यम् । सुक्कहिँ–शुष्कानि–भवन्ति । पन्नइँ–पर्णानि ।

छाया जिह्वेन्द्रियम् नायकम् वशीकुरुत, यस्य अन्यानि अधीनानि । तुम्बिन्याः मूले विनष्टे पर्णानि अवश्यम् शुष्कानि भवन्ति ।

अनुवाद दूसरे जिसके अधीन हैं (उस) जिह्वेंद्रिय (रूप) नायक को (ही) वश में लो । तूंबी की जड़ नष्ट होने पर (उसके) पते अवश्य (अपने आप ही) सूख जाते हैं ।

उदा० (२) अवस न सुअहिँ सुहच्छिअहिँ । (देखिये 376/2)

428 **एकशसो डिः ।**

'एकशस्' का डित् 'इ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे एकशश्शब्दात् स्वार्थे डिर्भवति ।
अपभ्रंश में, 'एकशस्' इस शब्द को स्वार्थे डित् 'इ' लगता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० **एक्कसि** सील-कलंकिअहँ दिज्जहिँ पच्छित्ताइँ ।
जो पुणु खंडइ अणुदिअहु तसु पच्छित्ते काइँ ।

शब्दार्थ एक्कसि-एकशः । सील-कलंकिअहँ-शील-कलङ्कितानाम् । दिज्जहिँ-दीयन्ते । पच्छित्ताइँ-प्रायश्चित्तानि । जो-यः । पुणु-पुनः । खंडइ-खण्डयति । अणुदिअहु-अनुदिवसम् । तसु-तस्य । पच्छित्ते-प्रायश्चित्तेन । काइँ-किम् ।

छाया एकशः शील-कलङ्कितानाम् प्रायश्चित्तानि दीयन्ते । यः पुनः अनुदिवसम् (शीलम्) खण्डयति तस्य प्रायश्चित्तेन किम् ।

अनुवाद एक बार शील कलंकित किया हो उसे प्रायश्चित्त दिये जायें, परन्तु जो हर रोज (शील) खंडित करे उसे प्रायश्चित्त (दे कर भी) क्या (होगा) ?

429 अ-डड-डुल्लाः स्वार्थिक-क-लुक् च ।

'अ', डित् 'अड', डित् 'उल्ल', और स्वार्थिक 'क' का लोप ।

वृत्ति अपभ्रंशे नाम्नः परतः स्वार्थे 'अ', 'उड', 'डुल्ल' इत्येते त्रयः प्रत्यया भवन्ति तत्सन्नियोगे स्वार्थे क-प्रत्ययस्य लोपश्च ।

अपभ्रंश में संज्ञा के बाद स्वार्थिक 'अ', डित् 'अड', डित् 'उल्ल' ये तीन प्रत्यय आते हैं और उनके संयोग से स्वार्थिक 'क' प्रत्यय का लोप होता है ।

उदा० (१) विरहाणल-जाल-करालिअउ पहिउ पंथि जं दिट्ठउ ।
तं मेलवि सव्वहिँ पंथिअहिँ सो-जि किअउ अग्गिट्ठउ ॥

शब्दार्थ विरहाणल-जाल-करालिअउ-विरहानल-ज्वाला करालितकः (= पीडितः ।) पहिउ-पथिकः । पंथि-पथि । जं-यद् । दिट्ठउ-दृष्टकः (= दृष्टः) । तं-तद् । मेलवि-मिलित्वा । सव्वहिँ-सर्वैः । पंथिअहिँ-पथिकैः । सो-जि-सः एव । किअउ-कृतकः (= कृतः) । अग्गिट्ठउ = अग्निष्ठिका (= अङ्गारधानी) ।

छाया यद् विरहानल-ज्वाला-पीडितः पथिकः पथि दृष्टः, तद् सर्वैः पथिकैः मिलित्वा सः एव अङ्गारधानी कृतः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद विरहाग्नि की ज्वाला से पीड़ित (किसी) पथिक को मार्ग में देखा तो सर्व पथिकोंने मिलकर उसे ही अंगीठी बना लिया !

वृत्ति 'डड' । डित् 'अड'–

उदा० (२) महु कंतहों बे **दोसडा** (देखिये 379/3) ।

वृत्ति डुल्ल । डित् 'उल्ल' ।

उदा० (३) **एक्क कुडुल्ली** पंचहिँ रुद्धी । (देखिये 422/14) ।

430 **योगजाश्चैषाम् ॥**

और उनके संयोग से बने हुए ।

वृत्ति अपभ्रंशे अडडडुल्लानां योगभेदेभ्यो ये जायन्ते 'डडअ' इत्यादयः प्रत्यया-स्तेऽपि स्वार्थे प्रायो भवन्तिः । **डडअ** ।
अपभ्रंश में, 'अ', डित् 'अड' और डित् 'उल्ल' के भिन्न-भिन्न संयोग से जो डित् 'अडअ' आदि प्रत्यय बनते हैं वह भी प्रायः स्वार्थे लगते हैं। (जैसे कि) डित् **'अडअ'**—

उदा० (१) फोडेंति जे **हिअडउँ** अप्पणउँ । (देखिये 350/2) ।

वृत्ति अत्र **'किसलय'** (१/२६९) इत्यादिना य-लुक् । डुल्लअ ।
यहाँ "किसलयं" (1/267) आदि सूत्र के अनुसार य का लोप (हुआ है) । डित् 'उल्लअ'–

उदा० (२) **चूडुल्लउ** चुन्नीहोइसइ । (देखिये 395/2)

वृत्ति डुल्लडड । डित् 'उल्ल'–डित् 'अड'–

उदा० (३) सामि-पसाउ स-लज्जु पिउ सीमा-संधिहिँ वासु ।
पेक्खिवि बाहु-**बलुल्लडा** **धण** **मेल्लइ** नीसासु ॥

शब्दार्थ सामि-पसाउ-स्वामि-प्रसादम् । स-लज्जु-स-लज्जम् । पिउ-प्रियम् । सीमा-संधिहिँ-सीमा-सन्धौ । वासु-वासम् । पेक्खिवि-प्रेक्ष्य । बाहु-बलुल्लडा-बाहु-बलम् । धण (दे.)-प्रिया । मेल्लइ (दे.)—मुञ्चति । नीसासु-निःश्वासम् ।

छाया स्वामि-प्रसादम्, स-लज्जम् प्रियम्, सीमा-सन्धौ वासम्, बाहु-बलम् (च) प्रेक्ष्य प्रिया निःश्वासम् मुञ्चति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद मालिक की कृपा, शरमीला प्रियतम, सीमायें जहाँ मिलती हैं वहाँ निवास और (प्रियतम का) बाहुबल–(यह) देखकर प्रिया आहें भरती है ।

वृत्ति अत्रामि 'स्यादौ दीर्घ–ह्रस्वौ' (330) इति दीर्घः । एवं–
यहाँ 'अम्' (= द्वितीया एकवचन का प्रत्यय) लगने पर 'स्यादौ दीर्घ ह्रस्वौ' (सूत्र 330) इस प्रकार दीर्घ हुआ है) । उसी प्रकार :

उदा० (४) बाहु–बलुल्लडउ । बाहु–बलम् । बाहुबउ ।

वृत्ति अत्र त्रयाणाम् योगः ।
यहां तीन (प्रत्ययों) का संयोग (है) ।

431 स्त्रियां तदन्ताड्डीः ॥

वे अंत में हैं उनके स्त्रीलिंग में डित् 'ई' ।

वृत्ति अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानेभ्यः प्राक्तन–सूत्र–द्वयोक्तप्रत्ययान्तेभ्यो डीः प्रत्ययो भवति ।
अपभ्रंश में अगले दो सूत्रों में बताये हुए प्रत्यय जिनके अंत में होते हैं वे स्त्रीलिंग में हो तब उन्हें डित् 'ई' प्रत्यय लगता है ।

उदा० (१) पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअंत ।
अंसूसासें॑हिँ कंचुआ तिंतुव्वाणु करंत ।

शब्दार्थ पहिआ–पथिक । दिट्ठी–दृष्टा । गोरडी–गौरी । दिट्ठी–दृष्टा । मग्गु–मार्गम् । निअंत (दे.)–अवलोकयन्ती । अंसूसासें॑हिँ–अश्रूच्छ्वासैः । कंचुआ–कञ्चुकम् । तिंतुव्वाणु–तिमितोद्वानम् (= आर्द्र–शुष्कम्) । करंत–कुर्वन्ती ।

छाया 'पथिक, गौरी दृष्टा' ? 'दृष्टा, मार्गम् अवलोकयन्ती अश्रूच्छ्वासैः च कञ्चुकम् आर्द्र–शुष्कम् कुर्वन्ती ।'

अनुवाद 'पथिक, गोरी को देखा ?' '(हाँ) देखा—(तुम्हारी) राह देखती (और) आँसू और उसाँसों से चोली को भिगोती और सूखाती !'

उदा० (२) एक्क कुडुल्ली पंचहिँ रुद्धी । (देखिये 422/14)

432 आन्तान्ताड्डाः ॥

अंत में 'अ' वाला अंत में हों तो उसके बाद डित् 'आ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानदप्रत्ययान्त–प्रत्ययान्तात् डा–प्रत्ययो भवति । डयपवादः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश में, अंत में 'अ' प्रत्ययवाला प्रत्यय (= अडअ) जिसके अंत में हो ऐसा संज्ञा के स्त्रीलिंग में डित् 'आ' प्रत्यय लगता है। (यही) डित् 'ई' का अपवाद है।

उदा० पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठ।
तहों विरहहों नासंतअहों धूलडिया–वि न दिट्ठ॥

शब्दार्थ पिउ–प्रियः। आइउ–आगतः। सुअ–श्रुता। वत्तडी–वार्ता। झुणि–ध्वनिः। कन्नडइ–कर्णे। पइट्ठ–प्रविष्टा (= प्रविष्टः)। तहों–तस्य। विरहहों–विरहस्य। नासंतअहों–नश्यतः। धूलडिआ–वि–धूलिः अपि। न–न। दिट्ठ–दृष्टा।

छाया प्रियः आगतः (इति) वार्ता श्रुता। (तस्य) ध्वनिः (मम) कर्णे प्रविष्टः। तस्य विरहस्य नश्यतः धूलिः अपि न दृष्टा।

अनुवाद बात सुनी (कि) प्रियतम आया (जैसे ही) (उसकी) आवाज (मेरे) कान में पैठी, (वैसे ही) भागते उस विरह की धूल भी (उड़ती) नजर नहीं आयी।

433 अस्येदे॥

'आ' लगने पर 'अ' का 'इ'।

वृत्ति अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानस्य नाम्नो योऽकारस्तस्य आकारे प्रत्यये परे इकारो भवति।
अपभ्रंश में स्त्रीलिंग नाम का जो 'अ'कार (है), उसके बाद 'आ' प्रत्यय आने पर, उसका 'इ'कार होता है।

उदा० (१) धूलडिया–वि न दिट्ठ। (देखिये 432)

वृत्ति स्त्रियामित्येव।
इस प्रकार स्त्रीलिंग में ही।

उदा० (२) झुणि कन्नडइ पइट्ठ (देखिये 432)

434 युष्मदादेरीयस्य डारः॥

'युष्मद्' आदि के परवर्ती 'ईय' का डित् 'आर'।

वृत्ति अपभ्रंशे युष्मादादिभ्यः परस्य ईय–प्रत्ययस्य डार इत्यादेशो भवति।
अपभ्रंश में, 'युष्मद्' आदि के परवर्ती 'ईय' प्रत्यय का डित् आर ऐसा आदेश होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदा० (१) संदेसें काइँ तुहारेंण जं संगहों न मिलिज्जइ ।
सुइणंतरि पिएँ पाणिएँण पिअ पिआस किं छिज्जइ ॥

शब्दार्थ संदेसें–संदेशेन । काइँ–किम् । तुहारेंण–त्वदीयेन । जं–यद् । संगहों–संगाय । न–न । मिलिज्जइ–मिल्यते । सुइणंतरे–स्वप्नान्तरे । पिएँ–पीतेन । पणिएँण–पानीयेन । पिअ–प्रिय । पिआस–पिपासा । किं–किम् । छिज्जइ–छिद्यते ।

छाया यद् संगाय न मिल्यते (तद्) त्वदीयेन संदेशेन किम् । प्रियतम, किं स्वप्नान्तरे पीतेन पानीयेन पिपासा छिद्यते ?

अनुवाद यदि रूबरू न मिले 'संग न मिले' तो तुम्हारे संदेश से क्या (लाभ) ? प्रियतम स्वप्नावस्था में पानी पीने से क्या प्यास बुझती है ?

उदा० (२) देक्खि अम्हारा कंतु । (देखिये 345)

उदा० (३) बहिणि महारा कंतु । (देखिये 351)

435 अतोर्डेत्तुलः ॥

'अतु' का 'डेत्तुल' ।

वृत्ति अपभ्रंशे इदं–किं–यत्तदेतद्भ्यः परस्य अतोः प्रत्ययस्य 'डेत्तुल' इत्यादेशो भवति ।

अपभ्रंश में, 'इदम्', 'किम्', 'यद्', 'तद्', 'एतद्' के परवर्ती 'अतु' प्रत्यय का डित् 'एत्तुल' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० एत्तुलो । केत्तुलो । जेत्तुलो । तेत्तुलो । एत्तुलो ॥ इयान् । कियान् । यावान् । तावान् । एतावान् ।

436 त्रस्य डेत्तहे ॥

'त्र' का 'डित्' 'एत्तहे' ।

वृत्ति अपभ्रंशे सर्वादेः सप्तम्यन्तात् परस्य 'त्र'–प्रत्ययस्य 'डेत्तहे' इत्यादेशो भवति ।

अपभ्रंश में, सप्तम्यन्त 'सर्व' आदि के परवर्ती 'त्र' प्रत्यय का डित् 'एत्तहे' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० एत्तहे तेत्तहे बारि घरि लच्छी विसंठुल धाइ ।
पिअ–वब्भट्ठ व गोरडी निच्चल कहिँ–वि न ठाइ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ एत्तहे-अत्र । तेत्तहे-तत्र । बारि-द्वारे । घरि-गृहे । लच्छि-लक्ष्मीः । विसंठुल (दे.)-विह्वला । धाइ-धावति । पिअ-पब्भट्ठ-प्रिय-प्रभ्रष्टा । व-इव । गोरडी-गौरी । निच्चल-निश्चला । कहिं-वि-कुत्र अपि । न-न । ठाइ-तिष्ठति ।

उदा० अत्र तत्र द्वारे गृहे लक्ष्मीः विह्वला धावति । प्रिय-प्रभ्रष्टा गौरी इव कुत्र अपि निश्चला न तिष्ठति ॥

यहाँ और वहाँ घर और द्वार पर विह्वल लक्ष्मी भागती फिरती है : प्रियतम से भ्रष्ट हुई गोरी की भाँति कहीं भी निश्चल (बनकर) नहीं रहती ।

437 त्व-तलोः प्पणः ॥

'त्व' और 'तल्' का 'प्पण' ।

वृत्ति अपभ्रंशे त्व-तलोः प्रत्यययोः 'प्पण' इत्यादेशो भवति ।

अपभ्रंश में 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों का 'प्पण' ऐसा आदेश होता है।

उदा० (१) वड्डप्पणु परिपाविअइ । (देखिये 366/1)

वृत्ति प्रायोऽधिकारात् ।

'प्रायः' इस अधिकार से—

उदा० (२) वड्डत्तणहों तणेण । (देखिये 366/1)

438 तव्यस्य इएव्वउं एव्वउं एवा ॥

'तव्य' के 'इएव्वउं', 'एव्वउं', 'एवा' ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'तव्य'-प्रत्ययस्य 'इएव्वउँ', 'एव्वउँ', 'एवा' इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति ।

अपभ्रंश में तव्य प्रत्यय के 'इएव्वउँ' 'एव्वउँ' और 'एवा' ये तीन आदेश होते हैं ।

उदा० (१) एउ गृण्हेप्पिणु ध्रुं मइँ जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ ।
महु करिएव्वउँ किं-पि न-वि मरिएव्वउँ पर दिज्जइ ॥

शब्दार्थ एउ-एतद् । गृण्हेप्पिणु-गृहीत्वा । ध्रुं-यद् । मइँ-मया । जइ-यदि । प्रिउ-प्रियः । उव्वारिज्जइ (दे.)-अवशेष्यते । महु-मम । करिएव्वउँ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्तव्यम् । किं-पि-किम् अपि । न-वि-न अपि, नैव । मरिएव्वउँ-मर्तव्यम् । पर-केवलम् । दिज्जइ-दीयते ।

छाया यद् एतद् गृहीत्वा यदि मया प्रियः अवशेष्यते, (ततः) मम किम् अपि नैव कर्तव्यम् । केवलम् मर्तव्यम् (एव) दीयते ।

अनुवाद उसे लेकर यदि मैं प्रियतम को बाकी रखूँ (बचा लूं) (तो फिर) मुझे कुछ भी करना नहीं (होगा) । केवल मरना (ही) प्राप्त करना होगा ।

उदा० (२) देसुच्चाडणु सिहि-कढणु घण-कुट्टणु जं लोइ ।
मंजिट्ठएँ अइ-रत्तिअएँ सव्वु सहेव्वउँ होइ ।।

शब्दार्थ देसुच्चाडणु-देशोच्चाटनम् । सिहि-कढणु-शिखि-क्वथनम् । घण-कुट्टणु-घन-कुट्टनम् । जं-यद् । लोइ-लोके । मंजिट्ठएँ-मञ्जिष्ठया अइ-रत्तिअएँ-अति-रक्तया । सव्वु-सर्वम् । सहेव्वउँ-सोढव्यम् । होइ-भवति ।

छाया यद् लोके देशोच्चटनम्, शिखि-क्वथनम्, घन-कुट्टनम् सर्वम (तद्) अति-रक्तया मञ्जिष्ठया सोढव्यम् भवति ।

अनुवाद संसार में जो स्वस्थान में से उखड़ना, आग में खौलना, घन की चोटें खाना (आदि जो है वह) सब अति रक्त (1. अतिशय लाल, 2. अतिशय अनुरक्त) ऐसी मंजिष्ठा को सहना है ।

उदा० (३) सोएवा पर वारिआ पुप्फवईहिँ समाणु ।
जग्गेवा पुणु को धरइ जइ सो वेउ पमाणु ।।

शब्दार्थ सोएवा-स्वपितव्यम् । पर-केवलम् । वारिआ-वारितम् । पुप्फवईहिँ-पुष्पवतीभिः । समाणु-समम् । जग्गेवा-जागर्तव्यम् । पुणु-पुनः । को-कः । धरइ-धरति । जइ-यदि । सो-सः । वेउ-वेदः । पमाणु-प्रमाणम् ।

छाया यदि सः वेदः प्रमाणम् (तथापि) पुष्पवतीभिः समम् स्वपितव्यम् वारितम् । जागर्तव्यम् पुनः कः धरति ।

अनुवाद यदि यह वेद का वाक्य प्रमाण (हो, तो भी) रजस्वला के साथ सोना (यह) निषिद्ध है परंतु जागने को कौन रोकता है ? (जागने का कौन विरोध करता है ?)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

439 क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः ॥

'क्त्वा' का 'इ', 'इउ', 'इवि', 'अवि' ।

वृत्ति अपभ्रंशे क्त्वा-प्रत्ययस्य 'इ', 'इउ', 'इवि', 'अवि' इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति ।

अपभ्रंश में 'क्त्वा' प्रत्यय के 'इ', 'इउ', 'इवि', 'अवि' ऐसे चार आदेश होते हैं ।

उदा० (१) हिअडा जइ वेरिअ घणा तो किं अम्बि चडाहुँ ।
अम्हहं बे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुँ ॥

शब्दार्थ हिअडा-हृदय । जइ-यदि । वेरिअ-वैरिणः । घणाः-बहवः । तो-ततः । किं-किम् । अम्बि-अम्बे । चडाहुँ (दे.)-आरुहामः । अम्हहं-अस्माकम् । बे-द्वौ । हत्थडा-हस्तौ । जइ-यदि । पुणु-पुनः । मारि-मारयित्वा । मराहुँ-म्रियामहे ।

छाया हृदय, यदि वैरिणः बहवः ततः किम् अम्बे आरुहामः । अस्माकम् (अपि) द्वौ हस्तौ । यदि पुनः म्रियामहे. (तर्हि) मारयित्वा ॥

अनुवाद हे हृदय, दुश्मन कई (हैं), तो (इस से) क्या आकाश में चढ़ जायेंगे ? हमारे (तो) दो हाथ (तो हैं) । यदि मरेंगे (तो) भी मारकर (मरेंगे) ।

वृत्ति इउ—

उदा० (२) गय-घड भंजिउ जंति । (देखिये 395/5)

वृत्ति इवि—

उदा० (३) रक्खइ सा विस-हारिणि बे कर चुम्बिवि जीउ ।
पडिबिम्बिअ-मुंजालु जलु जेहिँ अ-डोहिउ पीउ ॥

शब्दार्थ रक्खइ-रक्षति । सा-सा । विस-हारिणि-विष-हारिका (= पानीय-हारिका) । बे-द्वौ । कर-करौ । चुम्बिवि-चुम्बित्वा । जीउ-जीवितम् । पडिबिम्बिअ-मुंजालु-प्रतिबिम्बित-मुञ्जवत् । जलु-जलम् । जेहिँ-याभ्याम् । अ-डोहिउ (दे.)-अ-कलुषितम् । पीउ-पीतम् ।

छाया सा पानीय-हारिका (तौ) द्वौ करौ चुम्बित्वा जीवितम् रक्षति, याभ्याम् प्रतिबिम्बित-मुञ्जवत् जलम् अ-कलुषितम् पीतम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद वह पनीहारिन (अपने उन) दो करों को चूमकर जीवन टिकाये हुए हैं, जिन (करों ने) उस मुंज के प्रतिबिंबवाला जल घंघोले बिना पीया था।

वृत्ति अवि–

उदा० (४) बाह **विछोडवि** जाहि तुहुँ हउँ तेवँ-इ को दोसु ।
हिअय–ट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउँ मुंज स-रोसु ॥

शब्दार्थ बाह–बाहुम् । विछोडवि (दे.)–विमोच्य । जाहि–यासि । तुहुँ–त्वम् । हउँ–अहम् । तेवँ–इ–तथा अपि । को–कः । दोसु–दोषः । हिअय–ट्ठिउ–हृदय–स्थितः (= हृदयात्) । जइ–यदि । नीसरहि–निःसरसि । जाणउँ–जानामि । मुंज–मुञ्ज । स–रोसु–सरोषः ।

छाया बाहुम् विमोच्य (यथा) त्वम् यासि, तथा अहम् अपि । कः दोषः । मुञ्ज, यदि हृदयात् निःसरसि (ततः) जानामि (त्वम्) स-रोषः (इति) ।

अनुवाद बाँह छुड़ाकर तुम चले जाते हो, वैसे मैं भी (जाउँ)–(इसमें) कौन सा दोष (होगा) ? (परंतु) यदि (मेरे हृदय से निकल जाओ तो, हे मुंज, (मैं) जानूँ (कि तुम वाकई) गुस्सा हुए हो ।

440 **एप्पेप्पिण्वेव्येविणवः ।**

'एप्पि', 'एप्पिणु', 'एवि', 'एविणु' ।

वृत्ति अपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य 'एप्पि', 'एप्पिणु', 'एवि', 'एविणु' इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति ।

अपभ्रंश में 'क्त्वा' प्रत्यय के 'एप्पि', 'एप्पिणु', 'एवि', 'एविणु' ऐसे **चार** आदेश होते हैं ।

उदा० **जेप्पि** असेसु कसाय–बलु **देप्पिणु** अभउ जयस्सु ।
लेवि महव्वय सिवु लहहिँ **झाएविणु** तत्तस्सु ॥

शब्दार्थ जेप्पि–जित्वा । असेसु–अशेषम् । कसाय–बलु–कषाय–बलम् । देप्पिणु–दत्वा–अभउ–अभयम् । जयस्सु–जगते । लेवि–गृहीत्वा । महव्वय–महाव्रतानि । सिवु–शिवम् । लहहिँ–लभन्ते । झाएविणु–ध्यात्वा । तत्तस्सु–तत्त्वस्य (= तत्त्वम्) ।

छाया अशेषम् कषाय–बलम् जित्वा, जगते अभयं दत्वा, महाव्रतानि गृहीत्वा, तत्त्वम् (च) ध्यात्वा, (साधवः) शिवम् लभन्ते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद अशेष कषायसेना को जीत कर, जगत को अभयदान दे कर, महाव्रत लेकर और तत्त्व का ध्यान धर कर (साधु) शिवपद (= मोक्ष) प्राप्त करते हैं ।

वृत्ति पृथग्योग उत्तरार्थः ।

(प्रत्यय) अलग-अलग दिये हैं वे बाद के (सूत्र) के लिए ।

441 तुम एवमणाणहमणहिं च ॥

'तुम्' के 'एवम्', 'अण', 'अणहँ', 'अणहिँ' भी ।

वृत्ति अपभ्रंशे 'तुः' प्रत्ययस्य 'एवं', 'अण', 'अणहं', 'अणहिँ' इत्येते चत्वारः । चकारात् 'एप्पि', 'एप्पिणु', 'एवि', 'एविणु' इत्येते । एवं चाष्टावादेशा भवन्ति ।

अपभ्रंश में, 'तुम्' प्रत्यय के 'एवं', 'अण', 'अणहँ', 'अणहिँ' ऐसे चार और चकार से 'एप्पि', 'एप्पिणु', 'एवि', 'एविणु' ऐसे चार इस प्रकार आठ आदेश होते हैं ।

उदा० (१) देवं दुक्करु निअय-धणु करण न तउ पडिहाइ ।
एवँइ सुहु भुंजणहँ मणु पर भुंजणहिँ न जाइ ॥

शब्दार्थ देवं-दातुम् । दुक्करु-दुष्करम् । निअय-धणु-निज-धनम् । करण-कर्तुम् । न-न । तउ-तपः । पडिहाइ-प्रतिभाति । एवँइ-एवम् एव । सुहु-सुखम् । भुंजणहँ-भोक्तुम् । मणु-मनः । पर-परम् । भुंजणहिँ-भोक्तुम् । न-न । जाइ-याति ।

छाया निज-धनम् दातुम् दुष्करम् । तपः कर्तुम् न प्रतिभाति । एवम् एव सुखं भोक्तुम् मनः, परम् भोक्तुम् न याति ।

अनुवाद अपने धन का दान करना कठिन है । तप करने की सूझती नहीं । वैसे ही सुख भोगने का मन है, परंतु भोगा नहीं जाता ।

उदा० (२) जेप्पि चएप्पिणु सयल घर लेविणु तउ पालेवि ।
विणु संतें तित्थेसरेँण को सक्कइ भुवणे-वि ॥

शब्दार्थ जेप्पि-जेतुम् । चएप्पिणु-त्यक्तुम् । सयल-सकलाम् । घर-गृहाम् । लेविणु-स्वीकृत्य । तउ-तपः । पालेवि-पालयितुम् । विणु-विना । संतें-शान्तिना । तित्थेसरेण-तीर्थेश्वरेण । को-कः । सक्कइ-शक्नोति । भुवणे-वि-(त्रि)भुवने अपि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया शान्तिना तीर्थेश्वरेण विना सकलम् धराम् जेतुम् त्यक्तुम् च, तपः स्वीकर्तुम् पालयितुम् च, (त्रि)भुवने अपि कः शक्नोति ?

अनुवाद (एक) शान्तिनाथ तीर्थंकर के अतिरिक्त जगतभर कौन (ऐसा है जो) समस्त पृथ्वी को जीत कर (फिर) त्याग सकता है, (और) तप (करने का) स्वीकार करके उसका पालन कर सकता है ?

442 **गमेरेप्पिण्वेप्प्योरेर्लुग् वा ॥**

वृत्ति अपभ्रंशे गमेर्धातोः परयोरेप्पिणु एप्पि इत्यादेशयोरेकारस्य लुग् भवति वा ।

अपभ्रंश में, 'गम्' धातु के परवर्ती 'एप्पिणु', 'एप्पि' इन आदेशों के 'ए' कार का विकल्प में लोप होता है ।

उदा० गंपिणु वाणारसिहिँ नर अह उज्जेणिहिँ गंपि ।
मुआ परावहिँ परम-पउ दिव्वंतरइँ म जंपि ॥

शब्दार्थ (१) गंपिणु–गत्वा । वाणारसिहिँ–वाराणस्याम् (= वाराणसीम्) । नर–नरः । अह–अथ । उज्जेणिहिँ–उज्जयिन्याम् (उज्जयिनीम्) । गंपि–गत्वा । मुआ–मृताः । परावहिँ–प्राप्नुवन्ति । परम–पउ–परम–पदम् । दिव्वंतरइँ–दिव्यान्तराणि । म–मा । जंपि–कथय ।

छाया नरा वाराणसीम् गत्वा, अथ उज्जयिनीम् गत्वा मृताः परम–पदम् प्राप्नुवन्ति । (अतः) दिव्यान्तराणि (= तीर्थान्तराणि) मा कथय ।

अनुवाद लोग वाराणसी जाकर अथवा उज्जयिनी जाकर मरने से परमपद पाते हैं । (इसलिये) अन्य तीर्थों की बात मत कर ।

वृत्ति पक्षे । अन्य पक्ष में :

उदा० (२) गंग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिव–तित्थु गमेप्पि ।
कीलदि तिदसावास–गउ सो जम–लोउ जिणेप्पि ॥

शब्दार्थ गंग–गङ्गाम् । गमेप्पिणु–गत्वा । जो–यः । मुअइ–म्रियते । जो–यः । सिव–तित्थु–तीर्थम् । गमेप्पि–गत्वा । कीलदि–क्रीडति । तिदसावास–गउ–त्रिदशावास–गतः । सो–सः । जम–लोउ–यम–लोकम् । जिणेप्पि–जित्वा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया य: गङ्गाम् गत्वा शिव-तीर्थम् गत्वा (वा) म्रियते, सो यम-लोकम् जित्वा त्रिदशावास-गत: क्रीडति ।

अनुवाद जो गंगा(किनारे) जा कर या शिवके तीर्थ में जा कर मरते हैं, वे यमलोक को जीत कर देवलोक में क्रीड़ा करते है ।

443 तृतोऽणअः ॥

'तृन्' का 'अणअ' ।

वृत्ति अपभ्रंशे तृनः प्रत्ययस्य 'अणअ' इत्यादेशो भवति ।
अपभ्रंश में 'तृन्' प्रत्यय का 'अणअ' ऐसा आदेश होता है ।

उदा० हत्थि मारणउ लोउ बोल्लणउ ।
पडहु वज्जणउ सुणहु भसणउ ॥

शब्दार्थ हस्ति-हस्ती । मारणउ-मारयिता । लोउ-लोकः । बोल्लणउ-वक्ता । पडहु-पटहः । वज्जणउ-वदिता । सुणहु-श्वा । भसणउ-भषिता ।

छाया हस्ती मारयिता । लोकः वक्ता । पटहः वदिता । श्वा भषिता ।

अनुवाद हाथी मारने का आदी लोग बोलने के आदि, ढोल बजने का आदी और कुत्ता भौंकने का आदी ।

444 इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः ॥

वृत्ति अपभ्रंशे-इव शब्दस्यार्थे 'नं,' 'नउ', 'नाइ', 'नावइ', 'जणि', 'जणु' इत्येते षट् भवन्ति । नं-
अपभ्रंश में 'इव' इस शब्द के अर्थ में 'नं' 'नउ', 'नाइ', 'नावइ', 'जणि', 'जणु', ये छः होते हैं । (जैसे कि) नं-

उदा० (१) नं मल्ल-जुज्झु ससि-राहु करहिँ । (देखिये 382) ।

वृत्ति नउ-

उदा० (२) रवि-अत्थमणि समाउलेँण कंठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्कें खंडु मुणालिअहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥

शब्दार्थ रवि-अत्थमणि-रव्यस्तमने । समाउलेण-समाकुलेन । कंठि-कण्ठे । विइण्णु-वितीर्णः । न-न । छिण्णु-छिन्नः । चक्कें-चक्रवाकेन । खंडु-खण्डः । मुणालिअहेँ-मृणाल्याः । नउ-इव, यथा । जीवग्गलु-जीवार्गलः दिण्णु-दत्तः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया — रव्यस्तमने समाकुलेन चक्रवालेन कंठे वितीर्णः मृणाल्याः खण्डः न छिन्नः यथा जीवार्गलः दत्तः ।

अनुवाद — सूर्य अस्त होने पर विह्वल चक्रवाक ने कमलतंतु का टुकड़ा गले में (= मुँह में) रखा परंतु तोड़ा नहीं—मानों प्राणों के आगे अर्गला लगा दी ।

उदा० (३) वलयावलि-निवडण-भएँण घण उद्ध-ब्भुअ जाइ ।
वल्लह-विरह-महादहहों थाह गवेसइ नाइ ॥

शब्दार्थ — वलयावलि-निवडण-भएँण—वलयावलि-निपतन-भयेन । घण (दे.)—नायिका उद्ध—ब्भुअ—ऊर्ध्व-भुजा । जाइ—याति । वल्लह-विरह—महादहहों—वल्लभ-विरह-महाह्रदस्य । थाह—स्ताघम् । गवेषसइ—गवेषयति । नाइ—इव ।

छाया — नायिका वलयावलि-निपतन-भयेन ऊर्ध्व-भुजा याति । वल्लभ-विरह-महाह्रदस्य स्ताघम् गवेषयति इव ।

अनुवाद — कंकण गिरने के भय से नायिका हाथ उठाये जा रही है—मानों (वह) प्रियतम के विरह रूप विशाल जलाशय की थाह ले रही हो !

वृत्ति — नावइ—

उदा० (४) पेक्खेविणु मुहु जिणवरहों दीहर-नयण-सलोणु ।
नावइ गुरु-मच्छर-भरिउ जलणि पवीसइ लोणु ॥

शब्दार्थ — पेक्खेविणु—प्रेक्ष्य । मुहु—मुखम् । जिणवरहों—जिनवरस्य । दीहर—नयण—सलोणु—दीर्घ—नयन—सलावण्यम् । नावइ—इव । गुरु-मच्छर—भरिउ—गुरु-मत्सर—भृतः । जलणि—ज्वलने । पवीसइ—प्रविशति । लोणु—लवणम् ।

छाया — जिनवरस्य दीर्घ-नयन-सलावण्यम् मुखम् प्रेक्ष्य लवणम् गुरु-मत्सर-भृतम् इव ज्वलने प्रविशति ।

अनुवाद — जिनवर का विशाल नयनों के कारण 'सलोन' (= सलोना) (ऐसा) मुख देखकर बहुत मत्सर से भरा 'लोन' आग में प्रवेश करता है ।

वृत्ति — जणि—

उदा० (५) चंपय-कुसुमहों मज्झि सहि भमलु पइट्ठउ ।
सोहइ इंदणीलु जणि कणइ बइट्ठउ ॥

शब्दार्थ — चंपय—कुसुमहों—चम्पक—कुसुमस्य । मज्झि—मध्ये । सहि—सखि । भमलु (दे.)—भ्रमरः । पइट्ठउ—प्रविष्टः । सोहइ—शोभते । इंदणीलु—इन्द्रनीलः । जणि—इव । कणइ—कनके । बइट्ठउ—उपविष्टः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छाया सखि, चम्पक-कुसुमस्य मध्ये प्रविष्टः भ्रमरः कनके उपविष्टः इन्द्रनीलः इव शोभते ।

अनुवाद सखी, चंपा के फूल में पैठा हुआ भँवरा सोने में बैठे हुए (= मढे हुए) इन्द्रनील जैसा शोभित हो रहा है ।

वृत्ति जणु-

उदा० (६) निरुवम-रसु पिएँ पिअवि जणु (देखिये 401/3) ।

445 लिङ्गमतन्त्रम् ॥

लिंग अतंत्र ।

वृत्ति अपभ्रंशे लिङ्गमतन्त्रं व्यभिचारि प्रायो भवति ।
अपभ्रंश में लिंग कईबार अतंत्र-यानि कि अनियमित होता है ।

उदा० (१) गय-कुंभइँ दारंतु । (देखिये 345) ।

वृत्ति अत्र पुंलिङ्गस्य नपुंसकत्वम् । यहाँ पुंल्लिंग का नपुंसक होना ।

उदा० (२) अब्भा लग्गा डुंगरे ँहिँ पहिउ रडंतउ जाइ ।
जो एहा गिरि-गिलण-मणु सो किं घणहे ँ घणाइ ॥

शब्दार्थ अब्भा-अभ्राणि । लग्गा-लग्गानि । डुंगरे ँहिँ-गिरिषु । पहिउ-पथिकः । रडंतउ-रटन् । जाइ-याति । जो-यः । एहा-ईदृक् । गिरि-गिलण-मणु-गिरि-गिलन-मनाः । सो-सः । किं-किम् । घणहे ँ (दे.)-प्रियायाः (= प्रियाम् प्रति) । घणाइ-घनम् इव आचरति (= रक्षते)

छाया अभ्राणि गिरिषु लग्गानि । पथिकः रटन् याति-यः ईदृक् गिरि-गिलन-मनाः सः किम् प्रियाम् रक्षते (इति) ।

अनुवाद बादल पहाड़ों से लिपटे । पथिक रडते (रडते) जाता है : जो ऐसे पहाडों को निगलना चाहता है वह प्रिया का क्या रक्षण करे (= करेंगे) ?

वृत्ति अत्र 'अब्भा' इति नपुंसकस्य पुंस्त्वम् ।
यहाँ 'अब्भा' ऐसे नपुंसक का पुंल्लिंग ।

उदा० (३) पाइ विलग्गी अंत्रडी सिरु ल्हसिउ खंधस्सु ।
तो-वि कटारइ हत्थ डउ बलिकिज्जउँ कंतस्सु ॥

शब्दार्थ पाइ-पादे । विलग्गी-विलग्ना (= विलग्नम) । अंत्रडी-अन्त्रम् । सिरु-शिरस् । ल्हसिउ (दे.)-स्रस्तम् । खंधस्सु-स्कन्धस्य (=स्कन्धम् प्रति) तो-वि-ततः अपि । कटारइ (दे.)-क्षुरिकायाम् । हत्थडउ-हस्तः । बलिकिज्जउँ-बलीक्रिये । कंतस्सु-कान्ताय ।

छाया अन्त्रम् पादे विलग्नम् । शिरः स्कन्धम् (प्रति) स्रस्तम् । ततः अपि क्षुरिकायाम् हस्तः । (एतादृशेः) कान्ताय बलीक्रिये ।

अनुवाद आतें पैर में लिपटी हैं, सिर कधे पर लटक गया है, (परंतु) फिर भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाथ कटारी पर (ही) है : (ऐसे) पति पर मैं बलि के रूप में दी जाती हूँ (= बलि बलि जाती हूँ) ।

वृत्ति अत्र 'अंत्रडी' इति नपुंसकस्य स्त्रीत्वम् ।
यहाँ 'अंत्रडी' ऐसे नपुंसक का स्त्रीलिंग होना ।

उदा० (४) सिरि चडिआ खंति फलइँ पुणु डालइँ मोडति ।
तो-वि महद्दुम सउणाहँ अवराहिउ न करंति ॥

शब्दार्थ सिरि-शिरसि । चडिआ (दे.)-आरूढाः । खंति-खादन्ति । फलइँ-फलानि । पुणु-पुनः । डालइँ-शाखाः । मोडति-मोटयंति (= भञ्जन्ति) । तो-वि-ततः अपि । महद्दुम-महाद्रुमाः । सउणाहँ-शकुनानाम् । अवराहिउ-अपराधम् । न-न । करंति-कुर्वन्ति ।

छाया शिरसि आरूढाः फलानि खादन्ति । पुनः शाखाः भञ्जन्ति । ततः अपि महाद्रुमाः शकुनानाम् अपराधम् न कुर्वन्ति ।

अनुवाद सिर पर चढ़ कर फल खाते हैं (और) डालियाँ तोड़ते हैं-फिर भी महान वृक्ष पंछिओं को दंड नहीं देते ।

वृत्ति अत्र 'डालइँ' इत्यत्र स्त्रीलिङ्गस्य नपुंसकत्वम् ।
यहाँ 'डालइँ' ऐसे स्त्रीलिंग का नपुंसकलिंग होना ।

446 शौरसेनीवत् ॥

शौरसेनी के अनुसार ।

वृत्ति अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति ।
अपभ्रंश मे कईबार शौरसेनी के अनुसार प्रक्रिया होती है ।

उदा० सीसि सेहरु खणु विणिम्मविदु ।
खकंणुठि पालंबु किदु रदिएँ विहिदु खणु मुंडमालिएँ ।
जं पणएण तं नमहु कुसुम-दाम-कोदंडु कामहो ॥

शब्दार्थ सीसि-शीर्षे । सेहरु-शेखरः । खणु-क्षणम् । विणिम्मविदु-विनिर्मापितम् । खणु-क्षणम् । कंठि-कण्ठे । पालंबु-प्रालम्बम् । किदु-कृतम् । रदिएँ-रत्या । विहिदु-विहितम् । खणु-क्षणम् । मुंडमालिएँ-मुण्डमालिकया (= मुण्डमालिका) । जं-यद् । पणएण-प्रणयेन । तं-तद् । नमहु-नमत । कुसुम-दाम-कोदंडु-कुसुम-दाम-कोदण्डम् । कामहो-कामस्य ।

छाया यद् रत्या प्रणयेन क्षणम् शीर्षे शेखरः विनिर्मापितम्, क्षणं कण्ठे प्रालम्बम् कृतम्, क्षणम् (च) मुण्डमालिका विहितम् तद् कामस्य कुसुम-दाम-कोदण्डम् नमत ।

अनुवाद जिसे प्रेम से रति ने पल में मस्तक पर शेखर रूप बनाया, पल में कण्ठ में प्रालम्ब रूप किया (तो) पल में मुण्डमालिका रूप रखा, उस कामदेव के पुष्पमाला के धनुष को प्रणाम करो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

447 व्यत्ययश्च ।

सीमा के बाहर भी ।

वृत्ति प्राकृतादि-भाषा-लक्षणानां व्यत्ययश्च भवति । यथा मागध्यां 'तिष्ठश्चिष्ठ-' (४।२९८) इत्युक्तं तथा प्राकृत-पैशाची-शौरसेनीष्वपि भवति ।

प्राकृत आदि भाषा के लक्षण सीमा के बाहर भी जाते हैं । जैसे कि मागधी में 'तिष्ठश्चिष्ठ' (4/298) ऐसा कहा गया है वह प्राकृत, पैशाची और शौरसेनी में भी होता है ।

उदा० (१) चिष्ठदि ।। तिष्ठति । खड़ा रहता है ।

वृत्ति अपभ्रंशे रेफस्याधो वा लुगुक्तो मागध्यामपि भवति ।

अपभ्रंश में पिछे के रेफ का विकल्प में लोप कहा है वह मागधी में भी होता है ।

उदा० (२) शद-माणुश-मंश-भालके कुंभ-शहश्र-वशाहे शंचिदे ।

शब्दार्थ शत-मानुष-मांस-भारकः कुंभ-सहस्र-वसायाः संचितः ।

सैंकड़ों मनुष्यों के मांस से लदा हुआ, चरबी के सहस्र कुंभ के संचयवाला।

वृत्ति इत्याद्यन्यदपि द्रष्टव्यम् । न केवलम् भाषा-लक्षणानां त्याद्यादेशानामपि व्यत्ययो भवति । ये वर्तमाने काले प्रसिद्धास्ते भूतेऽपि भवन्ति ।

इत्यादि भी जाने । केवल भाषालक्षण ही नहीं, कालवाचक प्रत्यय के आदेश भी सीमा से बाहर जाते हैं । जो वर्तमानकाल में प्रसिद्ध हो, वह भूतकाल में भी प्रयोग किया जाता है ।

उदा० (३) अह पेच्छइ रहु-तणओ ।

वृत्ति 'अथ प्रेक्षांचक्रे रघु-तनयः' इत्यर्थः ।

'फिर रघु के वंशज (= राम ने) देखा' ऐसा अर्थ है ।

उदा० (४) आभासइ रयणीअरे ।

वृत्ति 'आबभाषे रजनीचरान्' इत्यर्थः ।

'निशाचरों से कहा' ऐसा अर्थ है ।

भूते प्रसिद्धा वर्तमानेऽपि ।

(फिर) भूतकाल में प्रसिद्ध हो वह वर्तमान में भी (प्रयोग किया जाता है)।

उदा० (५) सोहीअ एस वंटो ।

वृत्ति 'शृणोत्येष वण्टः' इत्यर्थः ।

'वह आवारा सुनता है' ऐसा अर्थ है ।

448 शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ।।

शेष संस्कृत के अनुसार सिद्ध ।

वृत्ति शेष यदत्र प्राकृत-भाषासु अष्टमे नोक्तं तत्सप्ताध्यायी-निबद्ध-संस्कृतवदेव सिद्धम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शेष जो यहाँ प्राकृत भाषाओं के (प्रतिपादन) में आठवें (अध्याय) में नहीं कहा है वह सात अध्याय में निबद्ध संस्कृत के अनुसार सिद्ध (होता है) ।

उदा० हेट्ठ-ट्ठिय-सूर-निवारणाय छत्तं अहो इव वहंती ।
जयइ स-सेसा वराह-सास-दूरुक्खया पुहवी ॥

शब्दार्थ हेट्ठ-ट्ठिय-सूर-निवारणाय-अधः-स्थित-सूर्य-निवारणाय । छत्तं-छत्रम् । अहो-अधः । इव-इव । वहंती-वहन्ती । जयइ-जयति । स-सेसा-स-शेषा । वराह-सास-दूरुक्खया-वराह-श्वास-दूरोत्क्षिप्ता । पुहवी-पृथ्वी ।

छाया अधः-स्थित-सूर्य-निवारणाय अधः छत्रं वहन्ती इव वराह-श्वास-दूरोत्क्षिप्ता स-शेषा पृथ्वी जयति ।

अनुवाद : नीचे रहे हुए सूर्य (की गरमी) के निवारण के लिये नीचे छत्र धारण करनेवाली, वराह की साँस से दूर फेंकी गयी शेषसहित पृथ्वी की जय होती है ।

वृत्ति : अत्र चतुर्थ्या आदेश नोक्तः स संस्कृतवदेव सिद्धः । उक्तमपि क्वचित् संस्कृतवदेव भवति । यथा प्राकृते 'उरस्'-शब्दस्य सप्तम्येक-वचनान्तस्य 'उरे', 'उरम्मि' इति प्रयोगौ भवतस्तथा क्वचिद् 'उरसि' इत्यपि भवति । एवं 'सिरे', 'सिरम्मि', 'सिरसि'; 'सरे', 'सरम्मि', 'सरसि' ।

सिद्ध-ग्रहणम् मङ्गलार्थम् । ततो ह्यायुष्मच्छ्रोतृकताभ्युदयश्चेति ॥

इसमें चतुर्थी का आदेश नहीं कहा है वह संस्कृत के अनुसार सिद्ध है । (फिर) कहा है वह भी कई बार संस्कृत के अनुसार ही होता है । जैसे कि प्राकृत में 'उरस्' शब्द का सप्तमी एकवचनका (प्रत्यय) अंत में लगने पर 'उरे', 'उरम्मि' ऐसे प्रयोग होते हैं । वैसे कभी 'उरसि' ऐसा भी होता है । इसी प्रकार 'सिरे', 'सिरम्मि', 'सिरसि', 'सरे', 'सरम्मि', 'सरसि' ।

सूत्र में 'सिद्ध' शब्द है वह मंगल के लिये । इससे श्रोता को आयुष्य और अभ्युदय (प्राप्त होते हैं) ।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावष्टमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

*

इस प्रकार आचार्य श्रीहेमचंद्रविरचित सिद्धहेमचंद्रनामक व्याकरण की स्वरचित वृत्ति के आठवें अध्याय का चौथा पाद समाप्त हुआ ।

समाप्ता चेयं सिद्धहेमशब्दानुशासनवृत्तिः प्रकाशिका नामेति ।

सिद्धहेम व्याकरण की यह प्रकाशिका नामक वृत्ति भी समाप्त हुई ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पणी

प्रस्तावना

हेमचन्द्र द्वारा रचित अपभ्रंश का व्याकरण एक स्वतंत्र और स्वयंपर्याप्त रचना के रूप में नहीं है। अपभ्रंश प्राकृत का ही एक प्रकार होने के कारण हेमचन्द्र का अपभ्रंश व्याकरण उसके प्राकृत व्याकरण का ही एक भाग है, और वह प्राकृत व्याकरण भी उसके संस्कृत व्याकरण का ही एक अंश हैं; हेमचन्द्र के इस बृहद् व्याकरण का नाम है 'सिद्ध-हेम-शब्दानुशासन' अथवा संक्षेप में 'सिद्ध-हेम'। 'सिद्धहेम' के आठ अध्यायों में से पहले सात में संस्कृत व्याकरण है और आठवें में प्राकृत व्याकरण। प्राकृत के अध्याय में अपभ्रंशसहित छः प्राकृतों का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है :

पहला, दूसरा तथा तीसरा पाद : व्यापक प्राकृत या महाराष्ट्री

चौथा पाद सूत्र 9-259 : संस्कृत धातुओं के स्थान पर प्राकृत में प्रयुक्त धातु-अर्थात् धात्वादेश।

,, ,, 260-286 : शौरसेनी

,, ,, 287-302 : मागधी

,, ,, 303-324 : पैशाची

,, ,, 325-328 : चूलिका-पैशाची

,, ,, 329-446 : अपभ्रंश

,, ,, 447-448 : प्राकृतों के बारे में सर्वसामान्य

इस प्रकार अपभ्रंश के व्याकरण ने 'सिद्धहेम' के आठ अध्यायों में से अंतिम अध्याय के चौथे पाद का अंतिम अंश लिया है-चौथे पाद के कुल 448 सूत्रों में से अपभ्रंश के हिस्से में 118 सूत्र आये हैं।

वररुचि से लेकर मार्कण्डेय या अप्पय दीक्षित तक के सभी प्राकृत-व्याकरणकारोंने प्राकृतों का स्वतंत्र, अन्यनिरपेक्ष दृष्टि से प्रतिपादन नहीं किया है। पहले तो संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत का स्थान और प्रतिष्ठा काफी निम्न थे। आगे चलकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनमें सुधार होता गया तब भी साहित्य और शिष्ट व्यवहार में प्राकृतों का सीमित प्रयोग ही था। अतः प्राकृत के अध्ययन का ऐसा विशेष महत्त्व न था। इसलिये जिस प्रकार संस्कृत का स्वतंत्र रूप से, उसके तत्कालीन स्वरूप के सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण के आधार पर व्याकरण रचा गया, उसी प्रकार या वैसी निष्ठा से प्राकृत का व्याकरण रचे जाने की संभावना नहीं थी। वस्तुतः संस्कृत जाननेवाले साहित्यप्रिय संस्कारी शिष्टवर्ग को यदि प्राकृत में साहित्य-रचना करनी हो तो उन्हें संस्कृत में कौन कौन से परिवर्तन करने चाहिये जिससे संस्कृत पर से प्राकृत बनायी जा सके मुख्य रूप से इसी दृष्टि से ही प्राकृत के व्याकरण-नियम गढ़े जाते। अन्य शब्दों में कहें तो संस्कृत को प्रकृति मानकर, उसके उच्चारणों में, व्याकरणतंत्र में तथा शब्दसमूह में हुए विकार के रूप में ही प्राकृत को देखा जाता था। परंपरागत प्राकृत व्याकरणों में ऐसे विकारों की जो टिप्पणी होती है वह सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा निष्कर्ष रूप विवरणों की व्यवस्थित प्रस्तुति नहीं होती और न ही उसका आशय भाषा का स्वरूप और हार्द समजने का होता है। बल्कि तुरंत ध्यान में आये ऐसे पचीसपचास विकारों और भेदक लक्षणों की एक टिप्पणी प्रस्तुत कर दी जाती है। इस परंपरागत पद्धति का अनुसरण करके हेमचन्द्र ने भी संस्कृत में से मुख्य प्राकृत कैसे बनायें उसके नियम दे कर, उनके उपरांत अन्य कुछ विशेष नियम लागु करने से शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश आदि सिद्ध होती हैं, उसकी टिप्पणी दी है। इतने पर से स्पष्ट होगा कि हेमचन्द्र के अपभ्रंश-सूत्रों में अथवा तो अन्य कोई भी प्राचीन प्राकृत व्याकरण में शास्त्रीय स्तर का सूक्ष्मदर्शी व्याकरण नहीं, परंतु कुछ ही, तुरंत ध्यान में आये ऐसी लाक्षणिकताओं की सतही टिप्पणी ही मिलेगी। इस प्रकार 'सिद्धहेम' का महाराष्ट्री विभाग उसके संस्कृत व्याकरण के परिशिष्ट जैसा है तो अपभ्रंश सहित इतर प्राकृतों से सम्बन्धित विभाग महाराष्ट्री विभाग के परिशिष्ट जैसा है। स्पष्ट है कि अपभ्रंश विभाग के अध्येता के लिये अगला महाराष्ट्रीय विभाग जानना अनिवार्य है।

संस्कृत की भाँति प्राकृतविभाग भी संस्कृत भाषा में और सूत्रशैली में रचित है। सूत्रों में तो नितांत संक्षिप्तता और पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रयोग होता है। अतः सूत्रों के अर्थ की व्याख्या को स्पष्ट करने के लिये विशिष्ट नियम दिये जाते हैं। यह नियम और परिभाषा संस्कृत विभाग में दिये हैं। अपभ्रंश विभाग के सूत्र समजने के लिये उन नियमों और परिभाषा में से कुछ के जानना अनिवार्य है। सूत्रों को समझाने के लिये स्वयं हेमचन्द्र ने 'प्रकाशिका' नामक संस्कृत वृत्ति की रचना की है। इसमें उन्हों ने सूत्र में ग्रथित नियम के अपभ्रंश उदाहरण भी दिये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश के 329 से 446 सूत्रों का विषयानुसार विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :

स्वरव्यंजनों के विकार या ध्वनिप्रक्रिया–सूत्र	328, 396 से 400, 410 से 412
नामिक (= संज्ञा के) रूपाख्यान	– सूत्र 330 से 354
सामान्य	– 330, 344 से 346
अकारांत पुंल्लिंग	– 332 से 339, 342, 347
इकारांत–उकारांत	– 340, 341, 343
स्त्रीलिंग	– 348 से 352
नपुंसकलिंग	– 353, 354
सार्वनामिक रूपाख्यान	– 355 से 381
आख्यातिक ,,	– 382 से 389
धात्वादेश	– 390 से 395
अव्यय	– 401, 404 से 406, 414 से 420, 424 च 428, 436, 444
इतर आदेश	– 402, 403, 407 से 409, 413, 421 से 423, 434, 435
तद्धित प्रत्यय	– 429 से 433, 437 ।
कृत् प्रत्यय	– 438 से 443
लिंग	– 445
सामान्य स्वरूप	– 446

यह निरूपणक्रम कुछ अंशों में स्पष्ट रूप से तर्कविरुद्ध है और इसका एक कारण है उस में जहाँ तक संभव हो वहाँ तक सूत्रों में किफायत करने की वृत्ति ।

इस विश्लेषण पर से हम देख सकते हैं कि प्राकृत से जिन जिन बातों में अपभ्रंश अलग पड़ती है उन बातों की यहाँ पर हेमचन्द्र ने थोड़ी बहुत बेतरतीब ऐसी एक सूचि बनायी है ।

सू. 329 एक स्वर के स्थान पर दूसरा ।

यहाँ पर कहा गया है कि कई बार मूल के एक स्वर के स्थान पर अपभ्रंश में कोई भी दूसरा स्वर आता है । आगे 445वें सूत्र में कहा गया है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि व्याकरणकार द्वारा निर्धारित भाषा अथवा अर्थ की सीमा के बाहर भी भिन्न-भिन्न प्राकृतों के लक्षण देखने को मिलते हैं। ये सब बातें उस बात की द्योतक हैं कि अपभ्रंश व्याकरण की पद्धति कुछ अंश में स्थूल या शिथिल है। व्याकरण का नियम अर्थात् कही हुई शर्तों और सीमाओं के भीतर समाविष्ट सभी घटनाओं पर लागु होता एक सामान्य विधान। सिद्धांत की दृष्टि से उस में अपवाद नहीं होते। अपवाद या तो अन्य किसी नियम का-भिन्न शर्तों और सीमाओं का सूचक होता है अथवा वह किसी बाह्य प्रभाव का परिणाम होता है। एक स्वर के स्थान पर किन शर्तों पर अन्य स्वर आता है या किन कारणों से एक के बदले दूसरे लिंग का प्रयोग होता है—इस की स्पष्टता के अभाव में ही ऊपर कहे ऐसे विधान करने पड़ते हैं। इस पर से यह न समझे कि अपभ्रंश में थोड़ी बहुत अव्यवस्था या शिथिलता चल जाती। अव्यवस्था या शिथिलता किसी भी भाषा में न तो चलती है और न होती है। वास्तव में तो इन बातों में निरीक्षण या वर्गीकरण ही क्षतियुक्त होता है। इस पर से ये ही समझा जायें कि व्याकरणकार अमुक सामग्री का अपने वर्गीकरण में समावेश नहीं कर सका है और उसका विश्लेषण इतना अधूरा है।

कई बार स्पष्टतः दिखाई देते अपवाद या तो भाषा की पहले को या बाद की भूमिका की अथवा तो दो या दो से अधिक बोलिओं की सामग्री के मिश्रण के कारण होते हैं। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के व्याकरण की रचना के लिये प्रयोग में ली हुई सामग्री भिन्न भिन्न समय की और भिन्न भिन्न प्रदेश की थी, अतः स्वाभाविक ही उसके प्रतिपादन में विकल्प और अपवाद आयेंगे ही।

अपभ्रंश में दृष्टिगोचर शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव :

इसके अतिरिक्त वृत्ति में कहा गया है कि कई बार विशिष्ट रूप से अपभ्रंश के स्थान पर महाराष्ट्री या शौरसेनी का प्रयोग भी होता है। वास्तव में तो इसका अर्थ इतना ही होता है कि अपभ्रंश भाषा में रचित रचनाओं में क्वचित् प्राकृत या शौरसेनी रूपों का भी प्रयोग हुआ है। और अपभ्रंश साहित्य देखने पर प्राकृत प्रभाव का मूल कारण क्या है वह भी समझ में आ जायेगा। अपभ्रंश में केवल पद्यसाहित्य ही है। अपभ्रंश काव्यों में अपभ्रंश के छंदों के अलावा कई बार विशिष्टरूप से प्राकृत माने जाते गाथा, शीर्षक, द्विपदी तथा अक्षरगणात्मक वृत्तों का भी प्रयोग हुआ है। ऐसे छंदों की भाषा प्राकृतबहुल होती है। इसके अतिरिक्त कई बार अपभ्रंश छंदों में छंदभंग से बचने के लिये प्राकृत रूप का प्रयोग होता था। कई अपभ्रंश शब्दों का अंत्याक्षर लघु होता है, प्राकृत का गुरु। इसलिये जहाँ छंद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकट अनुभव होता वहाँ कवि कई बार अंत्यलघु अपभ्रंश रूप के स्थान पर अंत्य-गुरु प्राकृत रूप का उपयोग कर छंद बचा लेता । अपभ्रंश के स्थान पर कभी कभी प्राकृत प्रयोग का यही रहस्य है ।

यहाँ पर जिस प्रकार शौरसेनी के प्रभाव का उल्लेख है उसी प्रकार अपभ्रंश विभाग के अंतिम (=446 वें) सूत्र में भी अपभ्रंश में कई बार होती शौरसेनी जैसी प्रक्रिया की बात कही है । इसकी स्पष्टता के लिये सूत्र 396 विषयक टिप्पणी देखिये ।

उदाहरणों में स्वर-परिवर्तन इस प्रकार है :

इ > उ, अ : कश्चित् > कच्चु, कच्च ।
आ > अ : वीणा > वीण, > वेण; लेखा > लेह, लीह, लिह ।
ई > ए : वीणा > वेण ।
उ > आ या अ : बाहु > बाहा, बाह ।
ऋ > अ : पृष्ठम् > पट्ठि; तृणम् > तणु ।
ऋ > इ : पृष्ठम् > पिट्ठि, तृणम् > तिणु । सुकृतम् > सुकिदु ।
ऋ > उ : पृष्ठम् > पुट्ठि ।
अ > इ : पृष्ठम् > पट्ठि, पिट्ठि, पुट्ठि ।
ऌ > इ : कृलन्नकः > किन्नउ ।
ऌ > इलि : कृलन्नकः > किलिन्नउ ।
ए > ई : लेखा > लीह
ए > इ : लेखा > लिह ।
औ > ओ : गौरी > गोरि ।
औ > अउ : गौरी > गउरि ।
ई > इ : गौरी > गोरि, गउरि ।

भाषा में होते परिवर्तन नियमबद्ध किये जा सके उतने व्यवस्थित होते हैं, जबकि उपर्युक्त परिवर्तन यह संदेह उत्पन्न करते हैं कि क्या अपभ्रंश में नितांत अतंत्रता, अव्यवस्था प्रवर्तमान थी ? वास्तव में तो ये परिवर्तन जिस ढंग से प्रस्तुत किये गये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं वह ढंग ही आपत्तिजनक हैं । भिन्न वृत्तियों और व्यापारों द्वारा सिद्ध परिवर्तनों की उपर्युक्त उदाहरण में मिलावट ही कर दी गयी है । ऋ का अ, इ, उ और ऋ, ॡ का इ, इलि, ए का ई, इ, ई का ए, ओ का अउ, ओ, और आ, ई का अ, इ ये परिवर्तन क्रमिक ध्वनिविकास का परिणाम है जबकि बाहु का बाहा, बाह; पृष्ठम् के इकारांत पटि्ठ, पिटि्ठ पुटि्ठ और कच्चित् का कच्चु, कच्च ये परिवर्तन सादृश्यमूलक है । क्रमिक ध्वनिपरिवर्तनों में भी शब्दारंभ में स्थित ऋ > रि, ओष्ठ्य व्यंजनों के बाद ऋ > उ, इतर व्यंजनों के बाद बोली-भेद में ऋ > इ या ऋ > अ और अपभ्रंश के एक प्रकार में ऋ अविकृत (केवल लिखने में ही—उसका उच्चारण तो रि सा था); औ का बोली-भेद अथवा समयभेद पर अउ और ओ; ॡ का सारूप्य द्वारा इ और विश्लेष द्वारा इलि; प्राकृत भूमिका के अंत्य दीर्घ स्वर अपभ्रंश में ह्रस्व बनने पर, बाहा का बाह; गौरी का गउरि या गोरि; भूमिकामेद पर वीण और वेण, तथा लेह, लीह और लिह; इस प्रकार बोली-भेद या प्रक्रिया-भेद के आधार पर क्रमिक ध्वनिपरिवर्तन ठीक से समझे जा सकते हैं। सादृश्यमूलक परिवर्तन में पुंल्लिंग बाहु और नपुंसकलिंग पृष्ठम् अन्य किसी अंगों के सादृश्य पर स्त्रीलिंग बनने पर उनका अंत्य स्वर स्त्रीलिंग अंगों के अनुरूप बनता है । कच्चित् का कच्चि के स्थान पर कच्चु, कच्च होता है वह अन्य उकारांत और अकारांत अव्यय के सादृश्य पर होता है यह अनुमान किया जा सकता है । तुलनीय विना > विणु, अद्य > अज्जु, सह > सहुँ, जेत्थु, तेत्थु आदि, अनु तथा पर, अवस, जेम, तेम आदि, जिह, तिह इत्यादि ।

पहले की आवृत्तियों और पाण्डुलिपियों में काच्च ऐसा पाठ है, परंतु प्राकृत उच्चारण के अनुसार वह असंभव है । प्राकृत में संयुक्त व्यंजन पूर्व का दीर्घ स्वर निरपवाद रूप से ह्रस्व होता है । इसलिये कच्च ऐसा पाठ रखा है । मूलतः कव्वु, कावु = काव्यम् होने की शंका रहती है । पाण्डुलिपि में च और व का भ्रम सहज है । प्राचीन टीका में तथा उसके अनुसरण में पीशेल और वैद्य वेण, वीण की प्रकृति के रूप मे संस्कृत वेणी देते हैं । इसके समर्थन में ईकारांत स्त्रीलिंग अकारांत बन जाने का कोई उदाहरण दिया नहीं जा सकता । अतः यहाँ मूल शब्द के रूप में वीणा शब्द का स्वीकार किया गया है । वैद्य किन्नउ, किलिन्नउ के मूल के रूप में क्लिन्न देते हैं जो ठीक नहीं है । 8/1/145 में हेमचन्द्र द्वारा दिया गया क्लिन्न स्वीकार करें तभी वह स्वराणाम् स्वराः का उदाहरण बन सकता है । तणु, तिणु, तृण को तरह सुकिदु, सुकदु (या सुकउ), सुकृदु की अपेक्षा रहती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

330. इस सूत्र से अपभ्रंश रूपाख्यान की विशिष्टताओं का निरूपण प्रारंभ होता है। पहले नामिक रूपाख्यान लिया है। इसके निरूपणक्रम में 330 से 335 तक के सूत्रों में विभक्ति प्रत्यय लगने पर नामिक अंग के अंत्य स्वर में क्या क्या परिवर्तन होते हैं ये बताया है तथा बाद के सूत्रों में संस्कृत विभक्ति प्रत्ययों का अपभ्रंश में कैसा रूपांतर होता है यह बताया है।

किसे केवल अंग में हुआ परिवर्तन माने और किसे विभक्ति प्रत्यय ? इसके बारे में हेमचन्द्र के दृष्टिकोण की चर्चा के लिये देखिये सूत्र 331 विषयक टिप्पणी।

पिछले सूत्र में दिये गये नियम की तरह प्रस्तुत सूत्र में दिया गया नियम भी स्थूल स्वरूप का है। उदाहरणों में अकारांत पुल्लिंग के प्रथमा, द्वितीया और संबोधन एकवचन में **ढोल्ला, सामला** (वारिआ, दीहा) में और उसके प्रथमा बहुवचन में **घोडा** और **निसिआ** में नाम के अंत्य ह्रस्व स्वर (अ) का दीर्घ (आ) होता बताया है, जबकि उसी प्रकार अकारांत स्त्रीलिंग प्रथमा, द्वितीया और संबोधन एकवचन में **भणिअ, पुत्ति, भल्लि** और **पइट्ठि** (०रेह, वग्ग) में दीर्घ (आ, ई) का ह्रस्व (अ, इ) हुआ है। आगे 344 वें सूत्र के अनुसार अपभ्रंश में प्रथमा (संबोधन) और द्वितीया के प्रत्यय लुप्त हो जाते हैं—इन विभक्तिओं में कोई प्रत्यय लगता नहीं हैं, यह ध्यान में रखना है। मूल में तो अकारांत पुल्लिंग रूपों में अंग के अंत में कई बार **अ** के स्थान पर **आ** होता है वह स्वार्थिक क प्रत्यय द्वारा हुए अंगविस्तार का ही परिणाम है। **श्यामल** पर से **सामल** होता है और क प्रत्यय लगने पर **श्यामलक** पर से **सामलअ** द्वारा **सामला** होता है।

स्त्रीलिंग अंगों में अंत्य स्वर ह्रस्व होता है, यह अपभ्रंश की महत्त्वपूर्ण विलक्षणता है। सूत्र 329 विषयक टिप्पणी में कहा गया है उसके अनुसार अपभ्रंशम में अंत्य स्वर के ह्रस्व उच्चारण का विशेष झुकाव है। इस प्रकार दीर्घ का ह्रस्व और ह्रस्व का दीर्घ होता है उसके मूल में कुछ निश्चित नियम रहे हुए हैं और वे नितांत भिन्न भिन्न प्रक्रिया के कारण हैं।

सामला, वारिआ, दीहा आदि के द्वारा हेमचन्द्रीय अपभ्रंश का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण प्रकट होता है। **श्यामलक** पर से प्रथमा एकवचन में जिस प्रकार **सामला** होता है उसी प्रकार **सामलउ** भी होता है। कालान्तर में **सामला** जैसे आकारांत रूप खड़ी बोली जैसी हिन्दी बोलिओं में (जैसे कि घोडा, लडका)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सामलो जैसे ओकारांत रूप (जैसे कि घोडो, छोकरो) गुजराती, ब्रज जैसी भाषा में लाक्षणिक बन जाते हैं। हेमचन्द्र द्वारा दिये गये उदाहरणों में आकारांत और अउकारांत दोनों प्रकार के रूप हैं। अर्थात् स्पष्ट अंदाजन ग्यारवीं शताब्दी से ही इस प्रकार की भिन्नता के बीज अंकुरित हो चूके थे। उदाहरणों में प्रथमा एकवचन के आकारांत रूप के लिये देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा'।

ऊपर कहे अनुसार विकल्प में स्वार्थिक क जुड़कर कई नामों (और विशेष रूप से विशेषणों और कृदंतों) के अपभ्रंश में दो–दो अंग होने पर और उन्हें विभक्ति-प्रत्यय लगने पर उपांत्य अ अथवा आ ऐसे दोहरे रूप होते हैं। इसी प्रकार अंग के अंत में ई (पुराना) या इ (नया) का और ऊ (पुराना) या उ (नया) का विकल्प था। छन्द की सुविधा के अनुसार इन में से एक या दूसरा रूप इस्तेमाल होता। इस लिये भी ऐसा लग सकता है कि अंत्य स्वर का मान अनिश्चित या शिथिल होता है।

330/1. धण और ढोला प्राचीन राजस्थानी–गुजराती साहित्य में ख्यात है। व्यवहार में गाये जाते सीमंतोन्नयन संस्कार के गुजराती गीतों में धण शब्द सीमंतिनी के लिये प्रयुक्त हुआ है और 'ढोला मारु' की लोककथा का नाम किसने सुना नहीं है!

संभवतः नाइ (हिं. नाइँ) यह नावइ का संक्षिप्त रूप है। नावइ <नव्वइ = संस्कृत ज्ञा– के कर्मणि वर्तमान तृतीय पुरुष एकवचन है। गुजराती 'जाणे' (मानों) की तरह ही वह उत्प्रेक्षा सूचित करने के लिये प्रयुक्त होता है। गुजराती और हिन्दी में पुं. कसवट्टअ नहीं, परंतु स्त्री. कषपट्टिका–कसवट्टिअ–कसोटी, कसौटी आये हैं।

इसी भाव के अपभ्रंश पद्य के लिये देखिये 'परिशिष्ट'।

छन्द : 10 (=4+3+3)/10 (4+4+2)। पहले चरण में दस के स्थान पर नौ मात्रा हैं वहाँ संभव है पाठ त्रुटित हों।

330/2. स्वार्थिक ड प्रत्यय (देखिये सूत्र 429) लौकिक या उत्तरवर्ती अपभ्रंश की लाक्षणिकता लगती है। चारणी और पुराने लोकगीतों की भाषा में (और इसी अनुसरण में अर्वाचीन काव्यभाषा में भी) उसके लाड़, लघुता या कोमलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूचित करते या छन्द-पूरक प्रयोग मुक्त रूप से हुए हैं । हेमचन्द्र के उदाहरणों में स्वार्थिक ड वाले शब्दों के लिये देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा ।'

द्विरुक्त और अनुकरण-शब्द दड़वड़ का अर्वाचीन गुज. दडबड, दडबडी, दडबडवुं, के साथ सम्बन्ध है । इनके साथ गुज गडबड, 'तडबड', 'लथबथ', 'लदबद', 'कलबल' और रसबस जैसे तथा तरवर, चळवळ, टळवळ, 'लळवळ' 'सळवळ', जैसे द्विरुक्ति मूलक शब्दों की रचना तुलनीय है । विहाणु का मूलरूप कल्पित विभानम् (= वि + भा का भू. कृ. जो संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है) समझना चाहिये—जैसे कि प्रभात शब्द प्र + भा का भू. कृ. है ।

छन्द : दोहा : मात्रा 13 (= 6 + 4 + ∞ या — —)/ 11 (= 6 + ⏑⏑ – + ⏑ या 6 + – – + ⏑) । अधिकांश उदाहरण इसी छन्द में है इसलिये जहाँ इस दोहा छन्द के अतिरिक्त अन्य छंद आता वहाँ उसका निर्देश किया है । जहाँ छंद के विषय में कुछ कहा नहीं हों वहाँ दोहा छंद ही समझा जायें ।

330/3. माता की—संभवतः वेश्यामाता की अपनी पुत्री को संबोधित उक्ति । भोजकृत 'शृंगारमंजरी-कथा' जैसी कृतिओं में किस युक्ति से पुरुष को वश में करके कैसे उसका धन ले लिया जाये उसकी व्यावसायिक शिक्षा अक्का वेश्या को देती है, यह विषय है ।

330/4. मुणीसिम 'अनियमित' रूप से गढ़ा गया है । सं. मनुष्य—का प्रा. मणूस । पुरिस के प्रभाव तले मणूस का मुणीस और भाववाचक इम (स्त्री.) प्रत्यय लगने पर मुणीसिम 'मनुष्यत्व' ।

331. हेमचन्द्र प्रायः (अंग + जोड़) ऐसे जहाँ नामिक रूप अलग किया जा सके वहाँ जोड़ को विभक्ति प्रत्यय मानते लगते हैं और जहाँ केवल अंग के अंत्य स्वर का ही विकार हुआ हो वहाँ केवल अंगविकार और विभक्ति-प्रत्यय लुप्त हुआ मानते हैं । इसमें सप्तमी एकवचन का रूप एक अपवाद लगता है । इसलिये अकारांत पुंल्लिंग-नपुंसकलिंग के प्रथमा एकवचन में नरु, कमलु जैसे रूप नर-, कमल- के अंत्य अकार का ऊ बनने पर सिद्ध हुए हैं और उसमें प्रथमा एकवचन का कोई प्रत्यय लगा नहीं है ऐसा प्रतिपादन है । पुंल्लिंग प्रथमा बहुवचन में भी नरा जैसे में प्रत्यय लुप्त मान कर अंत्य स्वर दीर्घ बना है ऐसा माना है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐतिहाविक तथा आधुनिक पृथक्करण की दृष्टि से प्रथमा के **ड, आ** प्रत्यय ही माने जायेंगे । सं. **नरः** > प्रा. **नरो** (सं. **नरो याति** जैसे में प्रयुक्त होते **नरः** के संधिरूप पर से) और **नरो** के अंत्य ओ का उच्चारण कमजोर पड़ने पर **नरो** द्वारा **नरु** । इसी प्रकार सं. **कमलम्** > **कमलं** का **कमलॉं** और फिर **कमलु** । **नराः** का **नरा** । **नावइ** प्रा. **नव्वइ** वह ज्ञा– धातु का कर्मणि रूप है ।

उदाहरण का विषय सूचित करते हैं कि संभवतः यह कोई जैनेतर–ब्राह्मणीय परंपरा की रामायण विषयक अपभ्रंश रचना से लिया हुआ उदाहरण हो । छन्द देखने पर लगता है कि वह मूल रचना अपभ्रंश पौराणिक काव्यों की भाँति संद्धिबद्ध हो । छन्द षट्पदी प्रकार का 12 + 8 + 12 (पहिला–दूसरा, चोथा–पाँचवां और तीसरा–छठा चरण प्रासबद्ध) ऐसे माप का है । संधि–कडवक–यमक में विभक्त अपभ्रंश महाकाव्य में कडवक के अंत में आती (प्राचीन गुजराती के 'वलण' जैसा) 'घत्ता' में ऊपर जैसी षट्पदियों का प्रयोग होता था । अभीतक ब्राह्मणीय परंपरा की कोई अपभ्रंश कृति मिली नहीं है इस दृष्टि से प्रस्तुत उदाहरण का विशेष महत्त्व है । चतुर्मुख (अप. चउमुह) नाम से एक अपभ्रंश महाकवि के उल्लेख तथा उसकी रामायण–महाभारत–विषयक रचनाओं में से फूटकल उद्धरण मिलते हैं, उसे देखकर लगता है यह उदाहरण उसके किसी रामायण–विषयक अपभ्रंश काव्य से लिये जाने की भी संभावना है ।

330. विभक्ति–प्रत्ययों का सूत्रों में निर्देश 'प्रथमा एकवचन' इत्यादि के रूप में नहीं होता । उसके लिये खास संज्ञाओं को प्रयुक्त किया है । ये पारिभाषिक संज्ञाएँ इस प्रकार हैं :

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	**सि** (= **स्**)	**जस्** (= **अस्**)
द्वितीया	**अम्**	**शस्** (= **अस्**)
तृतीया	**टा** (= **आ**)	**भिस्**
चतुर्थी	**ङे** (= **ए**)	**भ्यस्**
पंचमी	**ङसि** (= **अस्**)	,,
षष्ठी	**ङसि** (= **अस्**)	**आम्**
सप्तमी	**ङि** (= **इ**)	**सु**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र में कहा गया है कि पुंल्लिंग प्रथमा एकवचन में संज्ञा के अंत्य स्वर उ के स्थान पर विकल्प में **ओ** होता है । **नरु** के स्थान पर **नरो** । मूल में तो **नरो** रूप शुद्ध प्राकृत है और केवल **नरु** ही शुद्ध अपभ्रंश है । पर जैसे कि पहले बताया उस प्रकार अपभ्रंश काव्यों में बीच बीच में किसी किसी अंश में प्राकृतप्रचुर भाषा का उपयोग होता था तथा जहाँ छन्द की आवश्यकता होती वहाँ अपभ्रंश के स्थान पर प्राकृत रूप लिया जाता था । पीछे आग्रहवाचक **वि** (= **अपि**) हो तब भी संधि-प्रभाव से ओकारांत रूप प्रयुक्त करने का चलन था । इस प्रकार मूल में तो ओकरांत रूप अपभ्रंश में होते प्राकृत रूपों के मिश्रण के ही सूचक हैं ।

जो और **सो** नामिक रूप नहीं है । सार्वनामिक है । जबकि यहाँ तो नामिक (संज्ञा के) रूपाख्यान प्रस्तुत है । पहले-दूसरे पुरुष सर्वनामों के तथा इतर सर्वनामों के किसी किसी रूप के अपवाद में, सर्वनामों के रूपाख्यान संज्ञा जैसे ही हैं ।

338 के उदाहरण में भी ऐसा है ।

332 (1). ठाउ का मूल वैदिक **स्थाम** 'स्थान' है । **स्थाम-ठाम-ठवु-ठाउ** । प्रशिष्ट संस्कृत में सुरक्षित न हों परंतु वैदिक भाषा में हों ऐसे कुछ रूप, शब्द, प्रत्यय और प्रयोग अपभ्रंश में मिलते हैं । अपभ्रंश की बुनियाद में रही हुई बोलिओं में वैदिक समय की बोलिओं की परंपरागत विरासत सुरक्षित होने के ये प्रमाण हैं । **ठाउ** रूप मध्यदेशीय है । गुजराती में मूल का मकार सुरक्षित रहता है । इसलिये पश्चिमी रूप **ठामु** होगा । आधुनिक गुजराती **ठाम** ।

332. (2). **पिअ** : यह प्रत्ययलुप्त षष्ठी का रूप है । (देखिये सूत्र 355) छन्द की खातिर **पिअ-मुह-कमलु** समास को तोड़कर बीच में **जोअंतिहे** रख दिया हो ऐसा लगता है ।

333. प्राकृत-अपभ्रंश में संस्कृत की चतुर्थी और षष्ठी एक बन गयी है । इसलिये **महु** यहाँ चतुर्थी के अर्थ में है । **दिअहडा** = **दिअह** - + - **ड**ा. **दिअह-** सं. **दिवस-** द्विस्वरांतर्गत **व्** के लोप के अन्य उदाहरणों के तथा **-स्-** > **ह्-** इस परिवर्तन के लिये देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा.'

पवसंतेण, नहेण, ताण, गणंतिएँ और **जज्जरिआउ** प्राकृत भूमिका से चले आये रूप हैं । अपभ्रंश के लिये **पवसंतें, नहें, ताहं, गणंतिहे** और **जज्जरिअउ**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे रूप लाक्षणिक माने जायेंगे । इस दृष्टि से इस दोहे की भाषा का झुकाव प्राकृत की ओर है । ताण गणंतिएँ में गण्- क्रिया के योग से कर्मविभक्ति के बदले सम्बन्धविभक्ति का प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है । संस्कृत और अपभ्रंश की सम्बन्ध-विभक्ति के अलग अलग प्रदेश थे । अपभ्रंश के कुछ विशिष्ट प्रयोगों के लिये देखिये । भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा.'

334. इस सूत्र में संज्ञा के अंत्य स्वर का ही परिवर्तन नहीं परंतु विभक्ति प्रत्यय सहित अंत्य स्वर का परिवर्तन दिया गया है । -इ (तलि) और -एँ (तले ँ) ऐसे दो प्रत्यय हैं । इसकी स्पष्टता यह है कि संस्कृत-प्राकृत के सप्तमी एकवचन का -ए अपभ्रंश में आरंभ में ह्रस्व (-एँ) बनता है और फिर -इ । यह परिवर्तन प्रथमा एकवचन के -ओ>-ओ ँ>-उ से मिलताजुलता है । देखिये भूमि में 'व्याकरण की रूपरेखा.'

घल्लु- का 'फेंकना', 'डालना' अर्थ आधुनिक गुजराती में बदल गया है । घालवुं अर्थात् खोंसना गुज. नाखवुं के 'फेंकना' और 'खोसना' ये दो अर्थ भी इस संदर्भ में ध्यान में रखने चाहिये ।

संमाणेइ में आख्यातिक अंग को प्रत्यय के साथ जोड़नेवाले संयोजक स्वर के रूप में अ नहीं परंतु ए है (देखिये भूमिका में 'व्याकरण रूपरेखा') छन्द में ⏑ – इस प्रकार के अन्तवाला शब्द जब चाहिये तब कभी कभी उसका प्रयोग होता है । प्राकृत में ए वाले रूपों का विशेष प्रचलन था । यह ए संस्कृत के दसवें गण के -अय से विकसित हुआ है । खलाइँ : पुंल्लिंग के स्थान पर नपुंसकलिंग । देखिये सूत्र 445 तथा भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा' ।

335. बोड्डी यह द्रम्म, काकिणी, वराटिका या कपर्दिका (= कौड़ी) आदि जैसा प्राचीन समय में प्रचलित सिक्का था । मध्यकाल में 20 कौड़ियों के बराबर एक काकिणी अथवा एक बोड्डी का मूल्य होता था ।

336. अब इस सूत्र से लेकर 359 तक संज्ञाविभक्ति के प्रत्ययों का परिवर्तन दिया गया है ।

उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में पुंल्लिंग पंचमी एकवचन के ०हु या ०हो ँ प्रत्ययांत रूप ही मिलते हैं । ०हे ँ प्रत्ययांत रूप मिलते नहीं है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृण्हइ में मूल का ऋकार सुरक्षित है। देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा' **वज्जेइ, करेइ** ऐसे रूपों के लिये 334 वें सूत्र में **समाणेइ** विषयक टिप्पणी देखिये।

जिवँ : यह **जिम** का रूपांतर है (सूत्र 397)। **जिम** के लिये देखिये सूत्र 401।

चूरु : यह संज्ञा **चूर्** धातु से प्राकृत अपभ्रंश भूमिका में सिद्ध हुई है। देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा'।

338. संस्कृत के **स्**–अंतवाले अंगों के षष्ठी एकवचन के रूप (**मनसः, सरसः**) पर से षष्ठी का °**हो** ँ (या °**हु**°) प्रत्यय विकसित हुआ है (**मणसो, सरसो > मणहो** ँ, **सरहो** ँ) °**हु** के प्रभाव में सं. **जनस्य** पर से बने प्रा. **जणस्स** का अपभ्रंश में **जणस्सु** हुआ और कुछ सार्वनामिक रूपों में सकार हकारा होने पर °**सु** प्रत्यय सिद्ध हुआ है (**तस्सु > तसु**)। हेमचन्द्र °**हु** को अपादान–विभक्ति तक सीमित रखते है। परंतु साहित्य में संम्बध–विभक्ति के प्रत्यय के रूप में भी वह सुप्रचलित है।

तसु सुजणस्सु : प्राकृत–अपभ्रंश में षष्ठी संस्कृत की चतुर्थी और षष्ठी दोनों का कार्य करती है।

बलिकर् 'बलिदान देना' : 'त्रिरूप' कर्मणि वर्तमान प्रथम पुरुष एकवचन। तुलनीय 389 (1)।

339. सं. °**स्**–अंतवाले अंगों का षष्ठी बहुवचन में °**साम्** होता है; प्राकृत में °**सं**, फिर **हं**। **सह** का अपभ्रंश में सामान्य रुप से **सहुँ** होता है (सू. 419)। परंतु यहाँ **सह** यथावत् प्रयुक्त हुआ है। **प्रायोधिकारत्**। उदाहरण एक अन्योक्ति का है। बात संग्राम खेलते सुभटों की है। या तो उनकी सहायता से स्वामी विजय पाता है या वे स्वामी के साथ ही धराशयी होते हैं।

340, 341, 343 ये सूत्र इकारांत उकारांत अंगों के बारे में हैं। साहित्य में अकारांत संज्ञा के भी °**हुँ** प्रत्ययांत षष्ठी बहुवचन के रूप मिलते हैं।

340 (2). **ढोल्ला सामला** की भाँति **गरुआ** प्रथमा–द्वितीया एकवचन का आकारांत रूप है। उत्तरार्ध में ही **जुत्तउ** जैसा रूप साथ में प्रयुक्त हुआ है, यह ध्यान में रखना है। छंदनिर्वाह के लिये **किं** के स्थान पद **किँ** (एक–मात्रिक)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन साहित्य में धवल (= उत्तम जाति का बैल) को खानदानी स्वामीभक्त सेवक के प्रतीक के रूप में अन्योक्ति में प्रयुक्त करने की परंपरा थी।

341 (1). **मेल्ल्-** देशज है। गुजराती में सौराष्ट्र में **मेलवुं** 'रखना'। **माणुसहँ** में संस्कृत चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी है। **रण्ण-** में **अरण्य-** का आद्य स्वर लुप्त हो गया है। विशेष के लिये देखिये सू. 368 विषयक टिप्पणी। **रण्ण-/रन्न** पर से **रान**। **रन** और **रण्ण-** का सम्बन्ध जोड़ने में ध्वनि की दृष्टि से कठिनाई है। मूल शब्द कदाचित् सं. **इरिण** 'निर्जल प्रदेश' हो।

(2). **परिहणु** सीधे ही **परिधान-** पर से नहीं आया है। **पर्+धा** पर से धातु **परिह-**'पहनना' और उस पर से संज्ञा **परिहण-**'पहिरन' (गुज. **पहेरण**)। **अग्गलय-** संस्कृत **अग्र, प्रा. अग्ग-** को **-ळ-** तथा **-य-** (<**-क-**) प्रत्यय लगने पर हुआ है। हिं. **अगला**, गुज. **आगळ** इस **अग्गल-** से बना है। यहाँ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पुरानी गुजराती का कवि शामल भट्ट की एक रचना में **गुण-आगलो** 'गुण से अधकि, बढ़कर' ऐसा प्रयोग पाया जाता है। अपभ्रंश में प्रकारभेद से ऋ और संयुक्त **र** सुरक्षित रहते हैं। देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा' तथा सूत्र 398।

(3). मूल पद्य की एक ही पंक्ति दी गयी है इसलिये अर्थ अधूरा लगता है। छन्द पद्धड़ी।

नाप : $4+4+2+\breve{}-\breve{} = 16$ मात्रा।

343 (1). **अग्गिएं** में **एं** ह्रस्व—एक मात्रा का है। **बाएं** में दो मात्राओं का हैं। पूर्वार्ध में **उण्हउँ** है, और उत्तरार्ध में **सीअला** (एकवचन) है। तुलना कीजिये 330 (2) में **गरुआ** और **जुत्तउ**। **उण्हत्तणु** : **त्तण** प्रत्यय के लिये देखिये सूत्र 437।

(2). **विप्पिय** 'अपराध'। छन्द की खातिर **तं** का **तँ**। 340 (2) में **किँ** तथा 388 (1) में **करँतु** की तुलना कीजिये। यहाँ भी पूर्वार्ध में **°आरउ** और उत्तरार्ध में **दड्ढा** है। तुलना कीजिये ऊपर (1) तथा 340 (2). 344 से 347 तक सूत्र संज्ञा के सर्वसामान्य रूपाख्यान विषयक हैं। **विप्पियगारी** पुष्पदन्त के 'महापुराण' (93 संधि में) प्रयुक्त हुआ है।

344 हेमचन्द्र के प्रतिपादन अनुसार **घोडा** में जो 'आ'-कार है वह प्रत्यय नहीं है परंतु सूत्र 330 के अनुसार सिद्ध हुआ है यह याद रक्खा जायें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) **सिक्खेइ, तिक्खेइ** के ए के लिये देखिये सूत्र 334 विषयक टिप्पणी। **वम्महु**—(सं. **मन्मथ**–) और **वम्म** (सं. **मर्म**) इन रूपों में आद्य **म् > व्** ऐसा यह परिवर्तन वैरूप्य का (dissimilation) उदाहरण है। संपर्क में रहे हुए दो मकारों में से पहले का वकार हुआ है।

°**सरु** का उकार हेमचन्द्र के मतानुसार प्रत्यय नहीं है परंतु स्वरविकार है। देखिये सूत्र 332.

345. अप्रत्यय षष्ठी के लिये देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा'। **गय-कुंभइं** इस प्रकार **गय–** को सामासिक भी माना जा सकता है। ऐसा करने पर यह समझा जायें कि **अइमत्तहँ चत्तंकुसहँ** इन विशेषणों का विशेष्य अलग रहने के बदले में समास का अंग बन गया है। हालाँकि ऐसे प्रयोग विशेष स्तर पर शिथिल माने जायेंगे फिर भी प्रशिष्ट संस्कृत और प्राकृत अपभ्रंश में प्रचलित थे। टीकाकार **सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् साधुः** 'समस्त शब्द सम्बन्ध की अपेक्षा जगाता है फिर भी समझ में आये ऐसा होने के कारण सही प्रयोग' कहकर उसका स्वीकार करते थे। परंतु प्रत्ययरहित षष्ठी के उदाहरण के रूप में लेने के लिये **गय** को मुक्त पद के रूप में लेना जरुरी है। इसके अलावा देखिये 332 (2), 383 (3)।

यहाँ **अम्हारा** में **म्ह्** संयुक्त व्यंजन नहीं है बल्कि उसे हिन्दी **म्ह** की भाँति सादा व्यंजन मानना है। इसलिये **अ** की एक ही मात्रा है। इस से विपरीत 357 (2) में **गिम्हु** में **म्ह** को संयुक्त व्यंजन मानना है। रकार युक्त व्यंजनों के ऐसे ही शिथिल उच्चारण के लिये देखिये 360 (1)।

347 (2). तीन मार्ग अर्थात् संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध तीन रीतियाँ : वैदर्भी, गौडी और पांचाली। पहिली सुकुमार, दूसरी विचित्र, तीसरी मध्यम। छन्द वस्तुवदनक (अपर नाम वस्तुक या काव्य) है, जो आगे चलकर और 14 मात्रा पर यति के साथ रोला नाम से ख्यात है। मात्रा : 6 + 4 + 4 + 4 + 6 = 24 मात्राएं।

348 से 352 ये सूत्र स्त्रीलिंग अंगों के रूपाख्यान विषयक हैं।

348 (2). स्कंधक छन्द लगता है। स्कंधक में 4 + 4 + 4 = 12 हैं और 4 + 4 + ⏑ ⏑ ⏑ + 5 + 4 = 20 कुल मिलाकर 32 मात्राएं होती हैं। यहाँ पहली छ मात्राओं का भंग होता है। बाकी 26 मात्रा का टुकड़ा है। भाषा प्राकृत है। 365 (2), 370 (1), 422 (10) वे भी अपभ्रंश के स्थान पर शुद्ध प्राकृत के उदाहरण हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

349 (1). वि का स्थान करहिँ के बाद है परंतु अंधारइ के बाद रखकर उसका अर्थ लगाये तो ही उत्तरार्ध का विरोध तीव्रता से प्रकट होगा। 'क्या दूर तक नहीं देख सकती ?' ऐसा भी अर्थ ले सकते हैं।

छन्द : 13 + 12 मात्राओं का है। गणविभाजन 6 + 4 + 3 और 4 + 4 + 4 का है।

349 (2). छंद मात्रासमक। नाप : 4 + 4 + 4 ⏑ – + ⏑⏑ = 16 मात्राएँ।

350 (1). अक्खणउँ न जाइ– यह विशिष्ट रूप से अपभ्रंश प्रयोग है। किसी क्रिया के करने में अति कठिनता, अशक्ति या असामर्थ्य दिखाने के लिये अपभ्रंश उस आख्यात के हेत्वर्थ कृदंत के साथ न और जा 'जाना' के वर्तमान काल के रूप प्रयुक्त होते हैं। आधुनिक हिन्दी और गुजराती में स्वरूप और अर्थ के भेद के साथ यह प्रयोग चला आ रहा है। गुजराती में हेत्वर्थ के स्थान पर भूतकृदंत के साथ निषेधार्थक या प्रश्नवाचक अव्यय तथा जाना का पुरुषवाचक रूप या वर्तमान कृदंत प्रयुक्त होता है। हिं. देखा नहीं जाता। गुज. जोयुं जतुं नथी खाधां केम जाय ? सह्युं नहोतुं जतुं आदि। हिन्दी में भूतकृदंत के साथ जाना कर्मवाच्य (Passive Voice) सिद्ध करता है। (कहा जाता है, क्या किया जायँ। इस प्रयोग के अन्य उदाहरणों के लिये देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा'। अक्खणउँ के बदले अक्खणहँ ऐसा पाठान्तर भी है।

मध्यकालीन और जैन संस्कृत ग्रन्थों में भी कटरि आश्चर्यद्योतक उद्गार के रूप में प्रयोग किया गया है। कटरि का मूल रूप कट्टरि होना चाहिये। शुद्ध अपभ्रंश भूमिका में प्राकृत की भाँति स्वरांतर्गत ट् संभव नहीं है। स्वरांतर्गत क्, च्, ट्, त्, ख्, घ् आदि अपभ्रंशोत्तर भूमिका की विलक्षणतायें हैं। हेमचन्द्र के कुछ उदाहरणों में ऐसा 'आधुनिकता' का रंग दिखाई देता है। तुलना कीजिये कटरि, बप्पीकी आदि। देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा'। मुद्धडहे में स्वार्थिक –ड– है। देखिये सूत्र 429। विच्चि = हिन्दी बीच, गुज–बच्चे। देखिये सूत्र 421।

छन्द रड्डा। यह 'मात्रा' और 'दोहा' इन दो छन्दो के संयोजन से बनता है। पहला खंड मात्रा (छन्द) का और बादका दोहा का। दोनों मिलकर एकात्मक वाक्य या भाव व्यक्त करते हैं। मात्रा छन्द का नाप : पांच चरण, पहला, तीसरा और पाँचवा चरण पन्द्रह मात्राओं का, दूसरा और चौथा बारह मात्राओं का। पहले चरण की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पन्द्रह मात्राओं का गणविभाजन : 3+4+3+5; तीसरा तथा पाँचवा चरण : 3+3=4+5; दूसरा तथा चौथा चरण 5+4+3। ज्यादातर पहला चरण मुक्त होता है और तीसरा तथा पाँचवा प्रासबद्ध होता है। हेमचन्द्र के उदाहरणों में 350 (1) रड्डा में और 422 (6) और 446 मात्रा छन्द में हैं।

350 (2). 'हेमचन्द्र बालहे॑ का सम्बन्ध तीसरे चरण के साथ ले कर उसे पंचमी का रूप मानते है, परंतु उसका स्वाभाविक सम्बन्ध चौथे चरण के साथ ही है 'लोगों खुद को सम्हालो, बाला के स्तन विषम बने हैं।' देहलीदीपन्याय से बालहे॑ को तीसरे और चौथे दोनों चरणों के साथ भी जोड़ा जा सकता है। जे॑ छन्द की दृष्टि से ह्रस्व पढ़ना है। अप्पणा एकवचन है। तुलनीय हिन्दी अपना, अपने को। छन्द कर्पूर। नाप : 28 मात्राएँ। पंद्रह मात्राओं के बाद यति। (4+4+4+3=)15+(6+4+ ˘˘˘ =) 13=28। यह पद्य प्रसिद्ध विद्याविलासी परमारराजा मुंजरचित है। 395 (2), 414 (4) तथा 431 (1) भी मुंजकृत हैं।

351. उदाहरण में हिन्दी की भाँति प्रथमा एक वचन के कई आकारांत रूप हैं।

लज्जेज्ज॑ को संस्कृत विध्यर्थ °एयं-(गच्छेयम्) प्रत्ययांत प्रथम पुरुष एक-वचन पर से आया हुआ और तु को वाक्ययोगी माना है। विध्यर्थ के ऐसे रूप अपभ्रंश के लिये बड़े असामान्य है। °तु के स्थान पर °तू होता तो लज्जेज्जंत पूरा एक शब्द हो जाता। इस प्रकार उसे लज्ज् के क्रियातिपत्यर्थ कर्मणि वर्तमान कृदन्त समझा जा सकता है।

352. झुटें शगुन दे रहा है ऐसा मानकर नायिका ने कौअे को उड़ाया परंतु उसी क्षण उसने यकायक सफर से लौटते नायक को देखा। सो उसकी आधी चुड़ियाँ विरहजन्य कृशता के कारण हाथ से निकलकर जमीन पर पड़ी और बाकी आधी प्रियतम के अचानक लौट आने पर हर्षावेश के कारण हुए शरीर विकास से तड़ाक टूट गयी।

इस दोहे में आगे चलकर हुए रूपांतर के अनुसार आधी चुड़ियाँ कौअे के गले में पिरोये जाने की बात है ('आधा वलया काग-गल')।

353. 353 और 354 ये सूत्र नपुंसकलिंग के विशिष्ट प्रत्यय देते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक भाषाओं में केवल गुजराती, मराठी और कोंकणी भाषा में नपुंसकलिंग बचा है। ऐसे कुछ लक्षणों के कारण हिंदी की बनिस्बत गुजराती अपभ्रंश के ज्यादा करीब है। °आइँ वाले रूप पर से गुजराती नपुं. ब. व. का -आं (सारां पांदडां) आया है। असुलहमेच्छण = असुलह + एच्छण। बीच का मकार संधिमूलक है। प्राकृत में जब कभी समास में बाद का अयवव स्वर से शुरु होता हो तब यह मिलता है। एच्छण (= इच्छण) इच्छ्- का हेत्वर्थ कृदंत है। देखिये स्. 441। ऐसे प्रयोगों में आगे चलकर आधुनिक भाषायें सामान्य कृदंत का प्रयोग करती है (हिं इच्छना, गुज. इच्छवु)। इस प्रकार ऐसे -अण- अन्तवाले रूप हिंदी करना, राजस्थानी करणो, मराठी करणें के पुरोगामी हैं।

354. यहाँ जिस रूप का प्रतिपादन किया गया है उस पर से गुजराती नपुंसकलिंग एकवचन का उं-अन्तवाला रूप (कर्युं, सारुं, छोकरुं) बना है।

हेमचन्द्र के अनुसार संज्ञा के विभक्ति-प्रत्यय और रूपाख्यान इस प्रकार है:

	अकारांत पुंल्लिंग		नर के रूपाख्यान	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा } द्वितीया }	०	०	नरु, नरो, नर	नर
तृतीया	अनुस्वार, ण	हिँ	नरें, नरेण,	नरहिँ, नरेहिँ
पंचमी	हे, हु	हुँ	नरहे, नरहु	नरहुँ
षष्ठी	स्सु, सु, हो, ०	ह, ०	नरस्सु, नरसु, नरहो, नर	नरहँ, नर
सप्तमी	इ, ए	हिँ	नरि, नरे	नरहिँ
संबोधन	०	हो	नर	नरहो

इसके अतिरिक्त इसमें जहाँ जहाँ अलग या प्रत्यय के पहले नर है वहाँ वहाँ विकल्प में नरा भी हो सकता है।

अकारांत नपुंसकलिंग

सामान्य विभक्तिरूप।	अन्त में क-प्रत्ययवाले	कमल के रूपाख्यान	कमल के रूपाख्यान
प्रथमा } द्वितीया }	बहुवचन एकवचन	कमलइँ,	कमलउँ
	इँ उँ	कमलाइ।	
अन्य विभक्ति के प्रत्यय अकारांत पुंल्लिंग के अनुसार।		अन्य रूप नर के अनुसार।	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकारांत और उकारांत पुंल्लिंग			गिरि के रूपाख्यान	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
तृतीया	ए, ण, अनुस्वार		गिरिएं गिरिण, गिरिं	
पंचती	हे ँ		गिरिहे ँ	
षष्ठी	(हे ँ),०	हुँ, हँ,०	गिरिहे ँ, गिरि	गिरिहुँ गिरिहुँ, गिरि
सप्तमी	हि	हुँ, हिँ	गिरिहि ँ	गिरिहुँ, गिरिहि ँ

अन्य विभक्ति के प्रत्यय अकारांत पुंल्लिंग के अनुसार। गिरि के गिरी सब जगह आ सकता है। साहु के रूपाख्यान ऊपरोक्त अनुसार।

स्त्रीलिंग प्रत्यय			बाल के रूपाख्यान	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा द्वितीया	०	उ, ओ ँ	बाल	बालउ, बालओ ँ
तृतीया	एँ	हि ँ	बालएँ	बालहि ँ
पंचमी षष्ठी	हे ँ	हु	बालहे ँ	बालहु
सप्तमी	हि	हि ँ	बालहि	बालहि ँ
संबोधन	०	हो ँ	बाल	बालहो ँ

बाल के स्थान पर सब जगह बाला आ सकता है। मइ, नई, धेणु, वहू के रूपाख्यान उपर्युक्त अनुसार।

हेमचन्द्रने सूत्रों में जिनका उल्लेख छोड़ दिया हो ऐसे रूपों के लिये देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा'।

355. 355 से 381 तक के सूत्रों में सार्वनामिक रूपाख्यान की विशेषतायें बताई गयी हैं। कुछ स्थानों पर हेमचन्द्रने साहित्य से उद्धरण न ले कर तैयार या 'गढ़े हुए' हों ऐसे उदाहरण रखे हैं—संभव है खुद ने रचे हों या फिर पहले के व्याकरणों से लिये हो। प्रस्तुत सूत्र के उदाहरण ऐसे हैं। 359, शायद 361, 363 (2), 369, 372, 373, 374, 376 (3), 379 (1), 380 (1),

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

381, 392, 393, 394, 397, 403, 404 (2), 408, 413, 435, 440, 441 और शायद 442 इन सूत्रों के नीचे दिये गये उदाहरण भी इसी प्रकार के हैं ।

यस्मात् > जम्हा > जहाँ । होन्तउं यह हो (सं. भव्) 'होना' का वर्तमान कृदंत है । ऐसे प्रयोगों में वह पंचमी के परसर्ग के रूप में काम करता है । पुरानी गुजराती थउ और अर्वा. गुज. थी, थकी के स्थान पर यह है । नयरहो होन्तउ = नगरथो 'नगर से' ।

आगदो शौरसेनी रूप है । ऐसे प्रभाववाले प्रयोग 329, 360, 372, 373, 379 (1), 380, 393, 396, 422 (6) 446 इन उदाहरणों में भी हैं।

356. तुट्टउ और नेहडा एक साथ प्रयुक्त हुए हैं । देखिये सूत्र 330 विषयक टिप्पणी ।

वृत्तिकार उदयसौभाग्य तिल–तार का अर्थ 'तिल जैसी स्निग्ध जिसकी तारा (पुतली) है वह' यों मानकर उसे नायक का संबोधन मानते हैं । पीशेल उसे लुप्त-प्रत्यय षष्ठी मानकर तहों के साथ जोड़ते हैं । वैद्य उसे 'जिसमें पुतली तिल जैसी स्निग्ध है ऐसा' = 'तीव्र' यह अर्थ लेकर नेहडा का विशेषण मानकर व्याख्या करते है । अपभ्रंश महाकाव्य पुष्पदंतकृत 'महापुराण' में 75, 3, 13 विषयक टिप्पणी में तिलरिण का अर्थ 'स्नेहऋण' किया गया है ।

357. (2) यस्मिन् < जम्हि > जहिँ । विरहिणी का वर्णन । जमीन पर बिस्तर माघ मास जितना ठण्डा । तिल के पौधे अगहन में जल जाते हैं । कमल शिशिर के हिम से म्लान हो जाते हैं ।

358. (1). जासु । यहाँ षष्ठी संस्कृत चतुर्थी के अर्थ में है । ठाउ के लिये देखिये 332 (1) विषयक टिप्पण ।

(2) तिण सम गणइ । उदाहरण 329 और 422 (20) में तृण रूप मिलता है । अपभ्रंश में ऋस्वरवाले प्रयोगों के लिये देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा' ।

(3) अवसरि निवडिअइ सति सप्तमी का प्रयोग है ।

359. कामचलाऊ उदाहरण ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

360. (1) चिट्ठदि, करदि का °दि सू. 396 के अनुसार। भ्रान्ति के त् में रकार के प्रक्षेप होने पर भ्रंत्रि। ध्रुं और त्रं उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में नहीं मिले हैं। वर्तमान तृतीय एकवचन का °दि प्रत्यय, प्रंगणि और भ्रंत्रि में रकार की सुरक्षा और प्रक्षेप तथा ध्रुं और त्रं ये रकारवाले तथा असाधारण और विरल रूप सूचित करते हैं कि उदाहरण में प्रस्तुत अपभ्रंशभेद विशिष्ट है।

त्रं को तं में रकार का प्रक्षेप से सिर्फ माना जा सकता है। ध्रुं का ध्वनि की दृष्टि से जं के साथ सम्बन्ध जोड़ना असंभव है। संभव है ध्रुवम् पर से वह बना हो और गलत ढंग से उसे जं के साथ जोड़ दिया गया हो। 438 में भी ध्रुं का प्रयोग हुआ है, वहाँ जं अर्थ लिया नहीं जा सकता। ध्रुवम् लेने पर अर्थ ठीक से बैठ जाता है। ध्रुं में संयोग का उच्चार शिथिल है। देखिये 345 (2)।

संदर्भ के बिना अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। परंतु ध्वनि ऐसा समज़ में आता है कि मेरा पति घर आँगन में दिखाई देता है उतना समय ही वह रणभूमि में नहीं होता। अर्थात् जब घर से बाहर जाता है तब उसे रंगभूमि में ही जाना होता है।

(2) बोल्लिअइ : विध्यर्थ का भाव है। गुजराती में वह व्यापक है। एवुं न बोलीए = (एसा ण वोलियेगा। निव्वहइ का रूपांतर निव्वहइ पर से हिं. निभाना, गुज. नभे। उदाहरण एक कहावत रूप है। छन्द की दृष्टि से यह दोहे की 13 मात्राओंवाला चरण है।

361. कामचलाऊ उदाहरण।

362. साहित्य में पुंल्लिंग में एहु ही मिलता है। क्वचित् एकार ह्रस्व होता है और लेखनभेद से इहु भी होता है। मूल सं. एषः। इहु परसे हिन्दी यह। नपुंसकलिंग में साहित्य में एउ, ॲउ, इउ विशेष मिलते हैं।

363 (2). कामचलाऊ उदाहरण।

364. वैदिक बोलियों में एषः के ए° की भाँति ज्यादा दूरी के पदार्थ के लिये ओ° सर्वनाम था। ओषः पर से आया हुआ ओहु, उहु अपभ्रंश में प्रयुक्त हुआ है। हेमचन्द्रने इसका जिक्र नहीं किया है। इस उहु पर से ही हिन्दी का वह आया है। नपुंसकलिंग को बहुवचन का रूप ओइ। आधुनिक गुजराती में ओ। प्रांतीय ओलुं, वां, उंआं, ओम आदि में भी ओ° मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

365 (2). उदाहरण की भाषा शुद्ध महाराष्ट्री प्राकृत है, अपभ्रंश नहीं ।

छन्द गाथा, उसका पथ्या नामक भेद । नाप : 4+4+4, +4+4+ ∪ ⏑ ⏑ ∪ + 4+ – = 30 मात्रा । बारह मात्राओं पर यति । दो से अविभाज्य गणों में जगण नहीं आ सकता ।

366. साहू का मूल सर्वः खलु है और यही सही है । सव्वु हु > सावु हु > साव-हु ► साहु ऐसा विकासक्रम है । पीशेल साहु का मूल संस्कृत शश्वत् मानते हैं परंतु यह सही नहीं है । साहु पर से सवि आदि के प्रभाव में आधुनिक गुजराती में सहु > सौ हुआ ।

तणेण के बाद कारणेण अध्याहृत समजा जाये । हरिभद्र-सूरि की 'आवश्यक-वृत्ति' में एतस्स तणएण (पत्र 93 a) 'इसके कारण' और हत्थस्स तणएण (पत्र 95b) 'हाथ के कारण' एसे प्रयोग पाये जाते हैं । पर आधुनिक हिन्दी में प्रचलित है । मोक्कलड : सं. मुक्त- का सादृश्यबल से मुक्क-, उस में स्वार्थिक -ल- प्रत्यय जुड़ने पर मुक्कल- । संयुक्त व्यंजन पूर्व का इ और उ ह्रस्व ए या ह्रस्व ओ के रूप में भी प्राकृत में मिलता है । अतः मुक्कल- से मोक्कल- और स्वार्थिक -ड- प्रत्यय जुड़ने पर मोक्कलड- ।

सव्व- के अलावा अपभ्रंश साहित्य में साव- भी मिलता है । सव्व- में से हिन्दी सब, और साव- पर से गुजराती साव 'नितांत' आया ।

367. काइँ = आधुनिक गुजराती कां । कवण अब केवल काव्यभाषा में प्रयुक्त होता है । हिन्दी कौन, गुज. कोण. कवणु का सम्बन्ध पालि पन, संस्कृत कः पुनः के साथ है ।

(1). नायिका का संदेश लेकर गयी हुई दूती नायक के साथ रतिक्रीड़ा करके लौटती है तब जिसे सबकुछ पता है ऐसी चतुर नायिका, दंतक्षत छुपाने के लिये सिर झुकाती दूती को यह व्यंग्योक्ति कहती है । वयण श्लिष्ट है । 'तेरा वचन न निभाये' और 'तेरा चेहरा-अधर खंडित करे' ऐसे दो अर्थ ।

(4). कज्ज- (सं. कार्य.) का अर्थ यहाँ 'कारण' है । कज्जें कवणेण 'किस कारण से' ।

368 से 374 तक के सूत्र द्वितीय पुरुष सर्वनाम के विशिष्ट रूप प्रस्तुत करते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

368. रण्णडइ : अरण्य- का आद्य स्वर लुप्त होने पर रण्ण-, स्वार्थिक -ड- और -अ- लगने पर रण्णडअ-। रण्ण- पर से 'रान'। आद्यस्वरलोप के लिये तुलनीय संस्कृत अरघट्ट- का रहट्ट-'रहँट' (हिं.), 'रहेंट' (गुज.); सं. आक्षेति का अच्छइ, प्रा. गुज. छइ, अर्वा. गुज. छे. सं. अन्यद् अपि, अन्नइ, प्रा. गुज. अनइ, नइ, अर्वा. गुज. अने, ने। सं. उपविशति, प्रा. बइसइ, गुज. बेसे. सं. उपवसथ- प्रा. पोसह, गुज. पोसो; सं. उपरि, प्रा. डप्परि, गुज. ऊपर, हिं. गुज. पर। इस प्रकार का आद्यस्वरलोप वाक्यसंधिमूलक होता है। वाक्य में अकारांत शब्द के बाद अकारादि शब्द आने पर और उकारांत शब्द के बाद उकारादि शब्द आने पर आद्य अ और उ को लुप्त करने का चलन शुरु हुआ।

369. कामचलाऊ उदाहरण। तुम्हइँ का हकार हिं. तुम्ह, गुज. तमे में सुरक्षित है।

370. (1). अपभ्रंश के स्थान पर प्राकृत उदाहरण। छन्द गाथा। लक्षण के लिये देखिये 365 (2) विषयक टिप्पणी।

(3). पहले चरण में सति सप्तमी का प्रयोग है।

(4). कृदंत : -त->-द- और ऋकार का बचा रहना प्राचीन लक्षण हैं। देखिये सू. 355 विषयक टिप्पणी तथा भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा'।

371. बहुअ- में स्वार्थे क (= अ) प्रत्यय लगा है। देखिये सू. 429।

372. (1). कामचलाऊ उदाहरण। तुध्र साहित्य में नहीं मिलता, परंतु तुद्धु मिलता है। आगदो और तुध्र ये प्राचीन अपभ्रंशभेद के सूचक हैं। होंतउ के लिये देखिये सू. 355 विषयक टिप्पणी।

(2). ऐसा लगता है कि यह उदाहरण भी रच दिया है। एक ही दोहे में तीन रूप गुंथ लिये हैं। वृत्तिकार उपेत्य = 'पास आ कर' ऐसा अर्थ करता है। उत्पत्ति कौन सा रूप है और इस संदर्भ में उसका क्या अर्थ है वह स्पष्ट नहीं है। पीशेल वृत्तिकार का अनुसरण करते हुए उत्पाद्य 'उपजा कर' और वैद्य उत्पद्य 'उत्पन्न हो पर' ऐसा अर्थ लेते हैं।

373–374. कामचलाऊ उदाहरण। तुम्हासु ठिअं प्राकृत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

375 से ले कर 381 तक सूत्र पहले पुरुष सर्वनाम के विशिष्ट रूप प्रस्तुत करते हैं ।

376. अम्हइँ का हकार हिं. हम जैसे रूपों में सुरक्षित है ।

(1). थोवा का मूल सं. स्तोक, प्रा. थोअ है । दो स्वरों के बीच वश्रुति आयी है । –डअ– प्रत्यय लगने पर गुज. थोडुं, हिं. थोडा हुआ ।

(2). अंबण, सं. अम्ल, प्रा. अंब–, उस संज्ञा पर से धातु पर अंब– 'खट्टा करना', क्रियावाचक संज्ञा अंबण । अनुमान से 'चटोरा स्वाद' अर्थ लिया है । लाइवि : तुलनीय मराठी लावणें ।

(3). कामचलाऊ उदाहरण ।

377 (1) मइँ जाणिउँ अपभ्रंश का लाक्षणिक मुहावरा है । 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अंक में आते अपभ्रंश पद्यों में भी यह प्रयोग है । यह हेमचंद्र के उदाहरणों में तीन बार आता है (401/6, 423/1) । आधुनिक गुजराती बोलियों में यह जीवंत है–'मैं जाण्युं जे भूली सुजने मात जो' ('मैं समझी कि माँ मुझे भूल गयी') । 'में घेलीए एम जाण्युं के सोडमां दीवो मेल' ('मैं बौरायी यह समझी कि गोद में दीया रख') ।

धरा : सं. ध्रा : 'तृप्त होना' पर से धातुसाधित संज्ञा धरा, धर• खय–गाल– : तुलनीय गुज. खेगाळो (= क्षयकाल), केरीगाळो ('आम का काल'), 'लगनगाळो' 'विवाह का काल'), 'गाळो' ('काल', 'दौर') । देखिये सू. 396.

379 (1). कामचलाऊ उदाहरण । होंतउ के लिये देखिये सू. 355 विषयक टिप्पणी । गदो शौरसेनी रूप । देखिये सू. 396 ।

(2) देंतहों : गुज. देतां ('देते हुए'), जुज्झंतहों = गुज. झूझतां (हिं. जूझते हुए)। जुज्झ्– पर से बाद के व्यंजन के प्रभाव से ज्झ् > झ् होने पर गुज. झूझवुं.

व्याजस्तुति का उदाहरण है । निंदा के परदे में स्तुति है । दान की संपूर्णता में इतनी कमी कि पत्नी दे डालना बाकी रहा । पूर्णवीरता में इतनी कमी कि सर्व शत्रुओं का नाश कर डाला परंतु तलवार तो बाकी रही । अन्य शब्दों में अनन्य दानवीर और युद्धवीर ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(3). पारक्कड- और मारिअड- में स्वार्थिक -ड- प्रत्यय है। पारक्कडा और अम्हहँ तणा इन्हें सुभट समझें। हारजीत का समग्र आधार मात्र प्रिय पर ही है। यदि जीत हुई है तो प्रिय के पराक्रम से और हार हुई है तो प्रिय के रण में मृत्यु को प्राप्त होने से।

380 (1). कामचलाऊ उदाहरण।

381. कामचलाऊ उदाहरण, वह भी प्राकृत।

382 से 389 इन सूत्रों में आख्यातिक रूपाख्यान की विशिष्टतायें दी गई हैं।

382 से 386 तक में वर्तमानकाल के प्रत्यय।

382. °हिँ प्रत्यय में से हकार लुप्त होने पर प्रा. गुज. °इँ, फिर गुज. हिं. इ और फलतः (वे) करे जैसे तृतीय पुरुष बहुवचन के रूप। करहिँ > करइँ > करइ > करे। हिँ प्रत्यय विकल्प में है। विकल्प (अं)ति प्रत्यय का है। उदाहरण में ही खेल्लंति रूप है।

383 (1). 'चातक' के लिये पप्पीअ, बप्पीह देशज शब्द हैं. हिन्दी में पपीहा, गुजराती में बपैयो।

383 (2). अन्योक्ति : कृपण धनिक के पास बारबार याचना करनेवाले (या उदासीन रूपवती स्त्री के पास बारबार प्रणययाचना करनेयाले) को संबोधन।

°हि प्रत्यय का हकार लुप्त होने पर इ और फिर (तु) करे जैसे रूप। करहि > करइ > करे।

(3). गय मत्तहँ यों असमस्त मानकर कुछ लोग गज को षष्ठी बहुवचन के रूप में लेते हैं। परंतु मत्तगय ऐसे समास को छन्द की खातिर गयमत्त- यों पलटाना प्राकृत-अपभ्रंश में स्वाभाविक है। इसलिये गज को षष्ठी के रूप में लेने की जरुरत नहीं है। अब्भिड् का मूल आ + स्मिट् 'सामने जाना' ('विरोध करना') और गुज. भीडवुं, हिं. भिड़ना का मूल स्मिट् 'जाना', 'अनादर करना' है।

384. °हु में से °ह लुप्त होने पर करो जैसे रूप। करहु > करउ > करो।

385. कड्ढउँ पर से हिं., गुज. काढुं।

(1). अग्घइ 'लायक हो'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

386 °हुँ का हकार लुप्त होने पर प्रथम पुरुष बहुवचन में आधुनिक रूप °करुँ 'हम करें' ऐसा होगा । परंतु उसके स्थान पर विध्यर्थ तृतीय पुरुष एकवचन के इभइ प्रत्यय में से आया हुआ °इए का प्रयोग गुजराती में होता है । गुजराती में वळवुं अर्थात् 'बीमारी से दुबले हुए शरीर का मुटाकर अच्छा होना । 'शरीर वळवुं ('शरीर का अच्छा होना, मूलरूप प्राप्त करना') यह एक विशिष्ट गुजराती प्रयोग । भोजन न मिलने पर कमजोर बना शरीर भोजन से फिर स्वस्थ होता है वैसे युद्धप्रिय युद्ध के बिना दुबला हो जाता है और युद्ध मिलने पर स्वस्थ होता है ।

वर्तमानकाल के प्रत्यय और रुपाख्यान :

	प्रत्यय		कर् के रूप	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	उँ, मि	हुँ, मु ।	करउँ, करमि, करामि,	करहुँ करमु (करामु व०)
द्वितीय पुरुष	हि, सि	हु, ह ।	करहि, करसि	करहु, करह
तृतीय पुरुष	इ,	(अं)ति । हिँ	करइ	करहिँ, करंति

387, अज्ञार्थ के विशिष्ट प्रत्यय ।

ए का रूपांतर इ । प्रा. गुज. में °इ प्रत्यय है । सौराष्ट्र आदि प्रदेश की बोलियों में यश्रुति के रूप में अब भी वह बचा है । ('कर्य', 'बोल्य', प्राचीन करि, बोलि)

(2). पत्तल– में –ल– प्रत्यय मत्वर्थीय है ।

(3). सेल्ल– : ध्वनि की दृष्टि से सं. शल्य– में से सिद्ध हुआ है । तलवार का प्रहार शत्रु की खोपड़ी तोड़ दे । भाला आरपार हो कर मरे हुए शत्रु की खोपड़ी यथावत रखता है । ये शब्द नायक के प्रहार की शक्ति और उसकी पराक्रम-शीलता के द्योतक हैं ।

अज्ञार्थ द्वितीय पुरुष एकवचन में ए, इ, उ, हि और सु इन प्रत्ययों करे करि, करु, करहि, करसु ऐसे रूप समझे जायें ।

388. भविष्यकाल की विशेषता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

झडप्पड- के मूल में झटप्पट- है। बलवाचक रूप होने के कारण हिं., गुज. झटपट में मूल का 'ट्' अविकृत सुरक्षित है। झटपट के मूल में झट्टपट्ट उच्चारण है। तुलनीय प्राकृत-अपभ्रंश झड(त्ति) और हिं. गुज., झट।

अच्छ्- का 'होना' और 'बैठना, 'रहना' इन दोनों अर्थों में उदाहरण में प्रयोग हुआ है।

छन्द के लिये करंतु का अनुस्वार अनुनासिक के रूप में बोलना है — करँतु। हिं. करता, गुज. करतो जैसे आधुनिक रूपों का यह पुरोगामी रूप हो।

स वाला भविष्यकाल गुजराती में चला आ रहा है। ह् वाले भविष्यकाल की विरासत व्रज, अवधी आदि प्राचीन हिन्दी भाषाओं को मिली है।

389 का सूत्र एक विशिष्ट रूप का और 390 से 395 तक के सूत्र धात्वा-देशों का प्रतिपादन करते हैं।

389. असल में कीसु यह कर् के कृ° ऐसे कर्मवाच्य अंग पर से बने भविष्यकाल के पहले पुरुष एकवचन का रूप है, कर्तमानकाल का नहीं। कीसु = '(मैं) करवाया जाऊँगा'। उचित अर्थ के बल की दृष्टि से वि च स्थान पर जि की अपेक्षा रहती है।

390 से 395 तक के सूत्रों में विशिष्ठ धात्वादेश दिये हैं।

390. सं. प्र + भू का पहुच्चू- आदेश होता है। असल में तो पहुच्च् संस्कृत चकारांत धातुओं के रूपों के सादृश्य पर बना है।

सं. सिच् पर से सिक्तः,	प्रा. सित्तो-सिच्चइ
सं. वच् पर से सं. उक्त·	प्रा. वुत्तो-वुच्चइ
आदि की भाँति सं. प्रभूतः	प्रा. पहुत्तो-पहुच्चइ

अर्थ 'पर्याप्त होना' ऐसा नहीं परंतु 'तक पहुँच सकना' ऐसा है।

छेअउ : स्वार्थे क जुड़कर छेद- पर से छेदक-। यहाँ 'हानि' ऐसा विशिष्ट अर्थ है। हकार के प्रक्षेप से बना हुआ छेहउ का प्रयोग 'हानि' अर्थ में प्राचीन गुजराती में हुआ है—लाहइ विणजु करेसु हउं, छेहउ माइ चएसु। ('सालिभद्र-रास,' 57)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

391. ब्रुव्- रकार बचाये रखते अपभ्रंशविशेष का रूप है । देखिये सूत्र 398 । दूसरे उदाहरण का ब्रो, 393 का प्रस्सदि, 394 का गृण्हेप्पिणु और ब्रतु भी इसी कोटि के हैं । प्रस्सदि का दि तथा ब्रतु में सुरक्षित असाधारण त भी विशिष्ट अपभ्रंश प्रकार का सूचक है ।

392. पूरे अपभ्रंश में ब्रू व्यंजन इस वुच् धातु के रूपों के सिवा कहीं मिलता नहीं । और वह रूप भी उपलब्ध साहित्य में मिलता नहीं है ।

393. प्रस्स्- प्रसिद्ध अपभ्रंश साहित्य में दिखाई नहीं देता ।

प्रस्स्- के मूल में पश्य- है । पश्य्- का पस्स् होने के स्थान पर रकार-प्रक्षेप से (देखिये सूत्र 399) प्रस्स्- हुआ । °दि के लिये देखिये 391 विषयक टिप्पणी । पद्यरूप उदाहरण नहीं दिया है । बनाया हुआ रूप ही दे दिया है ।

394. गृण्ह- अप. में क्वचित् सुरक्षित ऋकार का उदाहरण प्रस्तुत करता है । सुकृदु, घृण, कृदंत आदि ऐसे अन्य उदाहरण हैं । देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा' । छोल्ल्- का कर्मावाच्य अंग छोल्लिज्ज्- और उस पर से वर्तमान कृदंत छोल्लिज्जंतु । प्राकृत-अपभ्रंश में वर्तमान कृदंत क्रियातिपत्यर्थ के वाचक भी है । छोल्लिज्जंतु और लहंतु इसके जैसे हिन्दी उदाहरण कहता, देखता, गुज. करत, जोत आदि । °कमलि तृतीया एकवचन का रूप है । हेमचन्द्र ने तृ. एकवचन के लिये °इ प्रत्यय का जिक्र किया नहीं है ।

395 (2). चूड- और-उल्ल- को -अ- प्रत्यय लगने पर (देखिये सूत्र 429) चूडुल्लय- हुआ है । सं. निहित- का निहिअ- होता है, और साहश्यबल से निहित्त- । सं. रज्-, का रज्जइ-रत्त-, सं. भुज्- का भुज्जइ- भुत्त- और उसी ढाँचे के अनुसार सं. नि + धा - का निहिज्जइ-निहित्त- । ऊपर 390 विषयक टिप्पणी में देखिये पहुत्त-. सं. जि- का जिअ- इसके अतिरिक्त जित्त- भी इसी ढंग से हुआ है ।

झलक्क्- के मूल में सं. ज्वल्- है । सं. बाष्प- का बप्फ- होना चाहिये परंतु अर्धमागधी (या पूर्वीय प्राकृत) अनुसार बाफ- द्वारा बाह- हुआ है ।

यह दोहा मुंज द्वारा रचित है । देखिये 350 (2) विषयक टिप्पणी ।

(3). पेम्मु का 'प्रिया' ऐसा अर्थ लेना पड़ता है परंतु प्रतीतिकारक नहीं है । सव्वासण-रिउ-संभव = सर्वाशन-रिपु-संभव अर्थात् 'सर्वभक्षी (= वड़वानल) के शत्रु (= समुद्र) से जिसका जन्म हुआ है वह = चद्र' । पर्यायोक्ति है । परिवृत्त > परिवृत्त > परिअत्त में वकारका लोप हुआ है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(4). **खडुक्क-** और **घुडुक्क-** में धातु के सादे रूप ***खुड-*** और ***घुड-*** हैं । ***खुड-*** पर से हिन्दी खड़खड़ना, गुज. **खडखडवुं** का **खड़-** अंश आया है । अर्थछाया बदल गयी है । **घुड-** का **घड-** हिं. गुज. **घडघड** में है ।

वासारत्त- का मूल सं. **वर्षारात्र-** है । वर्षारात्र = **वर्षाऋतु** । वर्षा- का प्राकृत-अपभ्रंश में **वासा-** होता है । विश्लेष से **वरिसा-** भी होता है । उसी प्रकार **वर्षारात्र-** का **वारिसारत्त** ऐसा रूप होता है और उस पर से **वरसारत** और हिं. गुज. **बरसात, वरसात, वरसाद. पवासुअ : प्र + वस्-** और **-उक-** ये कर्तृवाचक प्रत्यय लगकर ***प्रवासुक-*** होगा उस पर से **पवासुअ** । अर्थ 'प्रवासी' ही है । **विसमा** मध्यदेशीय रूप है । देखिये 330 विषयक टिप्पणी ।

(5). **अम्मि** माता का तथा सखी का भी संबोधन है । यहाँ पहला संबोधन लेने में अनौचित्य है । हिन्दी में **हाँ माँई**, हाँ बाबा, गुज. में **हा माडी, हा,** बापु ऐसा समवयस्क को भी बतियाते हुए कहा जाता है ।

संमुह- पर से **सामुह-** और फिर गुज. **सामुं, सामे** (हिं. **सामने**) । **भज्जिउ** हेमचन्द्र (439, 2), ढुंढिकाकार, पीशेल और वैद्य मानते हैं वैसा सम्बन्धक भूत-कृदंत नहीं है, परंतु **भज्जिअ** का संक्षिप्त किया हुआ स्त्रीलिंग प्रथमा बहुवचन है । कंतह यह षष्ठी यहाँ तृतीया के अर्थ में है । तुलनीय गुजराती प्रयोग **घरनो बळ्यो, गाम बाळे** ('घर का जला पूरा गाँव जलाता है'), **कोईनो लीधो जाय तेवो नथी** ('कोई खरीद सके ऐसा नहीं है'), 'दूध नेा दाइयो, छाश फूंकीने पीवे ('दूध का जला छाछ भी फूँककर पीता है'), **हाथनां कर्यां हैये वागे** ('अपने ही हाथों किये कर्म का फल खुद भोगना है') आदि. हिंदी में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं । **भग्न** = ('टूटी हुई', 'भगाई हुई') । **थंति** और **जंति** का विरोध इस प्रकार देखा जा सकता है : पति के सामने नहीं टिक पाती गजघटाओं से भी बढ़कर है इन नित्य सम्मुख रहते पयोधर की कठोरता ।

(6). **जा < जाव < यावत्** । दूसरे **जा** = या ऐसा अर्थ करते है । **पुत्तें जाएं** : (तृतीया सप्तमी के अर्थ में) सति सप्तमी का प्रयोग स्वीकार करके भी अर्थ बिठाया जा सकता है । **बप्पीकी** ये **बप्प-** को मत्वर्थीय **-इक-** प्रत्यय लगाकर सिद्ध **बप्पिक-** का स्त्रीलिंग **बप्पिक्की** पर से, **क्** इकहरा हो कर पूर्व स्वर दीर्घ हो कर सिद्ध हुआ है । यह संयोगलोप और पूर्वस्वर-दीर्घभाव की प्रक्रिया आधुनिक भारतीय-आर्य भूमिका का लक्षण है । अपभ्रंश भूमिका तक विशिष्ट अपवादों में संयुक्त व्यंजन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बचे थे । हेमचन्द्र के उदाहरणों की भाषा में कुछ ऐसे आधुनिक रूप मिलते हैं– देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा' ।

भुंहडी सुधारकर **भुम्हडी** पढें । **भुम्हडी** में से –ड– प्रत्यय हटा देने पर **भुम्ही** या **भुम्हि** रहेगा । यह **भुम्मि** ऐसे उच्चार पर से –ल्ल्< –ल्ह्– की भाँति सिद्ध हुआ होगा । **चंप्**= हिं. **चाँपना**, गुज. **चाँपवु** ।

(7). **तेवडु–** : देखिये सूत्र 407.

सूत्र 396 से 400 में कुछ ध्वनिविषयक लाक्षणिकताओं का जिक्र है ।

396. दो स्वरों के बीच स्थित **क्**, **ग्**, **च्**, **ज्**, **त्**, **द्**, **प्** का लोप और **ख्**, **घ**, **थ्**, **ध्**, **फ्**, **भ्** का हकार–ऐसे परिवर्तन के बदले में **क्**, **च्**, **त्**, **प्**, **ख्**, **थ्**, **फ्** का घोषभाव और **ग्**, **द्**, **घ्**, **ध्**, **भ्** अविकृत रहना ये शौरसेनी के लक्षण माने जाते हैं । हेमचंद्र (या उनके पुरोगामी अपभ्रंश वैयाकरणों) के आधारभूत अपभ्रंश साहित्य में ऐसी प्रक्रियावाला एक अपभ्रंश भी था, यह बात कुछ सूत्रों के नीचे दिये गये उदाहरणों से प्रतीत होती है । देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा' ।

396. (1). **विच्छोह–** पर से प्राचीन गुज. में **वछोहो** = 'वियोग', 'विरह' । °**कर** का °**गर** हुआ है ।

306. (4). **प्राप्–** अकृत–, और **प्रविश–** का **पाव्–**, अगिव– और **पविस्–** के स्थान पर **पाव्–**, **अकिय–** और **पइस्–** होता है ।

396. (5). **कण्णिआर–** में से सिद्ध हुआ **कणिआर–** दोहरे व्यंजन के एकहरा बनने का उदाहरण है । देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा' ।

397. लक्षण व्यापक होने के कारण उदाहरण के रूप में कुछ इधर–उधर के शब्द दिये हैं । –म्– का अविकृत रहना और –म्– का –वँ्– होना ये अलग अलग बोलियों की विशेषता थी । व्यापक साहित्यभाषा के रूप में अपभ्रंश में भिन्न–भिन्न बोलियों के अति व्यापक लक्षणों का मिश्रण क्रमशः बढ़ता रहा है । हिन्दी विभाग की बोलियों में –म्–> –वँ्– लाक्षणिक है । गुजराती में –म्– सुरक्षित है । **भौंरा–भमरो**, **ज्यों–त्यों**–**जेम–तेम** आदि अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

398. यह भेद भी मूलतः बोलीगत है । आधुनिक गुजराती में कई शब्द ऐसे हैं जिनमें मूल का संयुक्त रकार सुरक्षित रहा है, जबकि हिन्दी में उसका लोप हुआ है । **भत्रीजो–भतीजा**, **भादरवो–भादों**, **छतरी–छाता**, **त्रीश–तीस** आदि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

399. हिन्दी और गुजराती में इस झुकाव के उदाहरण हैं **सराप, श्राप (शाप), करोड़ (कोडि), गुज. सराण (सं. शाण)।**

(1). यहाँ पर हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत उदाहरण जैनेतर-वैदिक परंपरा के अपभ्रंश साहित्य से लिये गये हैं। ऐसी और कोई कृति अभी तक मिली नहीं है। अतः वे महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण 402, 438 (3), 442 (1, 2) भी इसी प्रकार के हैं। **दिवे दिवे** के लिये देखिये सूत्र 419.

(2). **खंभ-** का मूल वैदिक **स्कम्भ-**, 'टेकान' 'सहारा' है। **स्तम्भ-** में से **थंभ-** होता है। **दिवे दिवे, खंभ-, ठाम-**, सम्बन्धक भूतकृदंत के **प्पि, प्पिणु** प्रत्यय तृतीया ब. व. का **एहिं**, प्रत्यय, गुणवाचक **त्तण, प्पण** प्रत्यय आदि ऐसी सामग्री है, जिसके मूल वैदिक समय में हैं और उससे मिलता-जुलता प्रशिष्ट संस्कृत में कुछ नहीं है। ऐसी सामग्री के आधार पर अनुमान किया जाता है कि अपभ्रंश का कुछ अंश उसकी बुनियाद में स्थित लोकबोलीओं द्वारा वैदिक समय की लोकबोलियों से आया होगा।

400. व्यंजनांत सं. **संपद्-** स्त्रीलिंग शब्द **शाला** जैसी आकारांत स्त्रीलिंग संज्ञाओं के प्रभाव से आकारांत बन कर प्राकृत में **संपया** बनते हैं : **संपया** का अपभ्रंश में **संपय** और फिर **संपइ**।

401 से 409, 413 से 428 और 444 इन सूत्रों में इने-गिने शब्द-गुच्छ या शब्दों से जुड़े परिवर्तन या आदेश दिये हैं।

केम पर से **किम** और **किध** पर से **किह** बना है। सं. एवं पर से **एम** और उसके सादृश्य में **केम** आदि। अपभ्रंश में आगे चलकर नासिक्य व्यंजन के पहले के ए, ओ को ह्रस्व करने का चलन है। ह्रस्व ए, ओ कईबार इ, उ के रूप में भी लिखे जाते। इसीलिये **केम, एम** का **केँम, एँम** और **किम, इम**।

किध आदि सं. कि- अंग (**किम्** आदि में है वह) और **-थ** प्रत्यय से सिद्ध ***कि-थ*** जैसे रूप पर से है। प्राचीन अपभ्रंश में **किध**, उत्तरकालीन में **किह**।

401. (1). **समप्पउँ** ये **समप्प्-** ('समाप्त होना') का आज्ञार्थ उ. पु. ए. व. है।

(2). **अन्नु-वि** पर से **अन्न-इ, अनइ**, गुज. **अने, ने**। **किवँ** > हिं. **क्यों**।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(3). गुजराती लोकसाहित्य में आणंद-करमाणंद के दोहे प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत दोहा यह सूचित करता है कि उसकी परंपरा हेमचन्द्र तक जाती है। दोहा प्रश्नोत्तर के रूप में है। **जणु** के लिये देखिये सूत्र 444।

402-403. हेमचन्द्र ने **यादृश्-** और **यादृश-** के आदेशों के भेद किये हैं जो उचित नहीं है। **यादृश-** आदि में प्राकृत में **ज-**आदि सार्वनामिक अंगों के प्रभाव से **जइस-**, **स्-** > **ह्-** इस प्रक्रिया से ***जइह-**, फिर **जेह-** और स्वार्थिक **-अ-** प्रत्यय जुड़कर **जेहय-** ऐसा विकासक्रम है।

402. **मइँ भणिअउ** के साथ तुलनीय **मैंने कहा, कहती हूँ कि** आदि चालु लहजे। **वढ** के लिये सूत्र 422 (14, 16). उदाहरण हिन्दु परंपरा के साहित्य से लिया है।

403. कामचलाऊ उदाहरण।

404. वैदिक **इत्था** पर से इत्थ, फिर प्रा. **कत्थ, तत्थ** तथा **एत्थु, जेत्थु,** और **तेत्थु**। **घडदि** और **प्रयावदी** की **त्** > **द्** और **प्र्** > **प्र्** ये प्रक्रियायें प्राचीनता की सूचक है।

406. **तावत्** का **व,** किसी कारण से अनुनासिक बनने पर **ताँव, ताम** ***तामु** फिर **ताउँ**। सप्तमी का **हिँ** लगकर **तामहिँ** आदि।

(1). **मद्गल-** 'मद्झरते' पर से **मयगल** राजस्थानी-गुजराती **मेगळ.** कदम-कदम पर ढोल बजते हैं = बल के गर्व में धमधम करते चलते हैं।

407. **तेवड-** का मूल **तेवडु-** है। इस तरह यह संयोगलोप का उदाहरण (और आधुनिकता का लक्षण) है। देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा'।

तेवडु- = **ते** + **वडु-**; **वडु-**(देशज)= हिं. **वडा,** गुज. **वडुं. तेवडु** = वैसा बड़ा।

(1). छन्द सोलह मात्रा का (4 + 4 + 4 + — ⏑ ⏑) वदनक है। आगे चलकर 'चौपाई' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

तेत्तुल- भी मूल में **तेत्तुल्ल-** है। **तेत्तुल्ल-** = **ते** + **तुल्ल-**। **तुल्ल-** < सं. **तुल्य-**। **तेत्तुल्ल-** 'उसके जैसा' 'उसके जैसे नापका'. गुज. **तेटलुं** 'उतना'— इस प्रकार अर्थविकास हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

401. **अवरोप्परु** में पहला अंश सं. **अपर**– में से आया हुआ है ।

जाहँ जोअंताहँ के विशिष्ट षष्ठी के प्रयोग के लिये देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा'

सूत्र 410 से 412 ध्वनिपरिवर्तन की कुछ विशेषतायें प्रस्तुत करते हैं ।

410. प्राकृत में ह्रस्व **ए** और ह्रस्व **ओ** का क्षेत्र सीमित था । संयुक्त व्यंजनों के पूर्ववर्ती ए, **ओ** नियमतः और शब्दांत स्थिति में क्वचित् ह्रस्व बोले जाते । अपभ्रंश में विस्तार हुआ है । अंत्य ए, ओ अपभ्रंश में नियमतः और अनंत्य विशिष्ट परिस्थिति में ह्रस्व हैं ।

411. उसी प्रकार अनुनासिक का प्रदेश भी विस्तृत हुआ है। अंत्य स्थान पर अनुस्वार नहीं परन्तु सानुनासिक स्वर का उच्चार होता है ।

413. **अवराइस** के मूल में ***अपराद्दश–** है ।

414. यह गौर किया जाये कि चारों रूपों में रकार सुरक्षित रहता है । **प्राइव, प्राइम्व** पर से आया होगा । **प्राइम्व** का मूल **प्राउ एम्व** = सं. **प्रायः एवम्** हों । **पग्गिम्व** शायद **प्राग्_ + एवम्** पर से बना होगा । छन्द 21 मात्रा का रासा छन्द है । ग्यारह या बारह मात्रा पर यति और अन्त में तीन लघु होते हैं । छन्द सुरक्षित रखने के लिये **अन्ने** और **ते** उनके अंत्य स्वरों को ह्रस्व और **तं** को **तँ** बोलना पडेगा ।

(2). **भ्रंतड़ी** यह रकार बचा रूप है । सं. **भ्रान्ति** का **भ्रंति** और स्वार्थिक –ड– प्रत्यय लगने पर **भ्रंतड़ी**–. **मणिअडा** के लिये देखिये सूत्र 430. **अज्जुवि** पर से **अज्ज–वि** और फिर गुजराती में **अजी** होना चाहिये परन्तु **अद्य खलु** पर से अज्जुहु–**अज्जुहु** (प्राचीन हिन्दी **अजहु**) और गुज. हजु 'अभी' हुआ, उसके हकार के प्रभाव से गुज. हजी ('अभी भी') हुआ ।

(3). उदयसौभाग्यगणि, पीशेल, वैद्य आदि **सर** का अर्थ **सरस्_** 'सरोवर', 'झील' करते हैं । परन्तु **संपेसिआ** के साथ उसका सम्बन्ध नहीं ठहर पाता । अश्रुजल के कारण दृष्टि–शर की गति सीधी के स्थान पर वक्र दिखती है–या होती है ऐसा अर्थ ही स्वाभाविक लगता है ।

(4). **करेइ** उसे **कारेइ** ऐसा प्रेरक अर्थ में लेना है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

415. अनु < अन्नु < अन्यद् । संयोगलोप का उदाहरण । प्राचीन हिन्दी में ('रामचरितमानस' आदि की भाषा में) अनु काफी प्रसिद्ध । परन्तु वहाँ उसका अर्थ 'और' है, परन्तु यहाँ 'अन्यथा', 'वरना' ऐसा अर्थ है ।

415. (1). घुंघ विषयक सुन्दर उत्प्रेक्षा ।

416. 417. ततः > तओ > तउ > तो, यतः > जओ > जउ > जो इस ढाँचे के अनुसार कउ ।

416. (1). उल्हवइ : सं. उद्- 'गीला करना' पर से -र- प्रत्यय लगाकर. *उद्र- होगा (तुलनीय समु् + उद्र- = समुद्र-). वैसे ही -ल- प्रत्यय से *उद्ल- होगा । *उद्ल- > प्रा. उल्ल-, ओल्ल- । प्रेरक का --अव- प्रत्यय लगने पर उल्लव्-, ओल्लव्- । -ल्- > ल्ह- इस प्रक्रिया से उल्हव्-, ओल्हव्- > गुज. ओलववुं, होलववुं 'बुझाना' ।

418. सम = समान । इसलिये सम 'साथे (साथ में)' पर से आया हुआ समु=समाणु 'साथे (साथ में)' है । सूत्र 398 के अनुखार ध्रुवु में रकार सुरक्षित है ।

(1). पियहों परोक्खहों । यहाँ षष्ठी सति सप्तमी के अर्थ में है । विनाशित- का न् विन्नासिय- में छन्द की खातिर दोहरा हुआ है । निन्नासिय (< निर्णाशित-) किया होता तो यह विशेष छूट लेनी नहीं पड़ती ।

(6). चइज्ज, भमिज्ज विध्यर्थ है । देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा ।' हिन्दी के भविष्य आज्ञार्थ के कीजिए, गुज. करजे 'करना' इत्यादि रूपों के मूल में ये है । दंसिज्जंत, दंस्- का कर्मवाच्य वर्तमान कृदंत है ।

(7). जिस प्रकार लोन (नमक) पानी में घुल जाता है वैसे यह गोरी, झोंपड़ी ठीक करनेवाला विदेश होने के कारण चूते हुए पानी से भीगने पर, उसका लावण्य विरहदशा में नष्ट हो रहा है ऐसा भावार्थ समझ में आता है ।

(8). वंकुडअ- में -उड़-अ- प्रत्यय है जिसकी ओर हेमचन्द्र का ध्यान नहीं गया । वक्र- > वंक- + --उड-अ- = > वंकुडअ-, प्रा. गुज. वाँकुडँ, अर्वा. गुज. वाँकडुं, हिन्दी बांकुरा ।

419. दिवें के मूल में वैदिक दिवे है । वैदिक दिवे दिवे की भाँति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश में भी **दिवे॑ दिवे॑** है । आधुनिक गुज. **दिए दिए** ('दिनों दिन') । **नाहि** पर से गुजराती **ना**, प्रा. हिन्दी **नाहीं** ।

(7) **ओहट्ट**– का मूल अप + घट्ट– है। तुलनीय हिन्दी **घटना**, गुज. **घटवुं** क्रियाएं और **घाटा, घाटो** ये संज्ञायें । **ओहट्ट**– पर से गुज. **ओट** 'भाटा' (संज्ञा) । छन्द : 13 + 16 मात्राओं का है । प्रथम–तृतीय चरण दोहे के समान हैं । द्वितीय–चतुर्थ चरण वदनक के समान हैं ।

420. **पच्च**– का **पच्छ**–, स्वार्थिक प्रत्यय से **पच्छअ**– और सप्तमी का रूप **पच्छइ** । **एम्वइ** का मूल **एम**–वि<एवम् + अपि है । च + एव=**चैव**, प्राकृत **चेव, च्चेव** > **ज्जेअ, ज्जे** फिर **ज्जे॑, जे॑** और **ज्जि, जि**, आधुनिक गुज. **ज** 'ही' । **पच्चलिउ** का मूल ***प्रत्यलीक** है । **अनीक**– अर्थात् 'मोरचा', 'अगला भाग' । **अलीक** अर्थात् 'भाल' । इस पर से **प्रत्यलीक** अर्थात् 'विपरीत' 'उल्टा' । तुलनीय प्राकृत **पडिणीय**– (= **प्रत्यनीक**–) 'विपरीत' ।

(5) गुजराती में **मीठुं** (नमक) का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में 'अकल' के लिये होता है जबकि पहले **लवण** का लाक्षणिक अर्थ **'सुन्दरता'** होता था । **सलवण** 'सुन्दर' और उस पर से अप. **सलोण, सलोणय, स्त्रीलिंग, सलोणी** गुज. **सलोणा सलोणी**, हिं. **सलोना, सलोनी** । पीशेल मानता है कि **नव**– को स्वार्थिक °**ख**–प्रत्यय लगा और **नवख**– सिद्ध हुआ। परंतु **नवख**– का प्राचीन रूप **नवक्ख**– और हिंदी **अनोखा**, गुज. **नोखुं, अनोखुं** पीशेल के ध्यान में नहीं होगा । **नवक्ख**– या तो ***नवपक्ष, *नवबक्ख** पर से समान–ध्वनिलोप से सिद्ध हुआ हो और तो गुज. **अनोखुं** में **लोप, अलोप**, हिंदी की बोली में **अचपल** (=**चपल**) आदि की भाँति अ का प्रक्षेप हुआ हो। अथवा **अन्यपक्ष**– पर से **अन्नवक्ख**– और फिर आद्य स्वर के लोप से **नवक्ख**– । इस दूसरे विकल्प में एक तकलीफ यह है कि **अन्नवक्ख**– में **–न्न**– पूर्व के अकार का लोप मानना पड़ता है ।

421. सं. **उक्त**–, **ऊढ**– जैसों का प्राकृत–अपभ्रंश में **उत्त**–, **ऊढ**– होने चाहिये परंतु **वच्**, **वह्** इन मूल धातुओं के प्रभाव से **वुत्त**–, **वूढ**–होते हैं ।

विच्च– का ध्वनि की दृष्टि से तो **वर्त्मन्**– के साथ सम्बन्ध नहीं ही है, परंतु अर्थ की दृष्टि से भी वह 'मार्ग' से ज्यादा 'मध्य' से सम्बद्ध है । हिंदी **बीच** और गुज. **वच्चे** इस में से आये हैं । गुज. **अधवच, हिंदी अधबीच**, गुज. **वचाळ**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

('बीच में'), गुज. **वचलुं**, हिं. **बीचला**, गुज. **वचगाळो** 'अंतराल', गुज. **वचमां**, हिं. **बीच में** और गुज. **वचेट** ('मँझला') में भी यह है ।

421 (1). कार्यसाधक समर्थ पुरुष को संबोधित अन्योक्ति है ।

422 (2). **घंघल** के अर्थ के लिये दिया हुआ **झकट**– शब्द भी आगे चलकर संस्कृत में शामिल किया गया देशज शब्द ही है । **झगड्**– = धातु 'कलह करना' के अर्थ में है । उस पर से बनी संज्ञा का संस्कृत रूप यह **झकट**– = गुज. **झगडो**, हिं. **झगड़ा** । उदाहरण में बुरी दशा से हतोत्साह हुए हृदय को आश्वासन दिया गया है । संसार में सुख के साथ ही दुःख है । नदी के जैसे सुन्दर प्रदेश हैं वैसे सँकरे नाले के गोड़ भी हैं ।

(4). सं. **आत्मनः** का **अप्पणु** हुआ और वह स्ववाचक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त होने लगा । **अप्पणु** का 'स्वयं' और 'आप' दोनों अर्थ हैं ।

(6). ***द्रेक्ख्**– और **पेह्**– या **पाह्**– 'देखना' इनके संकर से ***द्रेह्**– और उस पर से संज्ञा **द्रेहि** बनी होगी ।

उदाहरण की भाषा प्राचीन है । नवी शताब्दी पहले के स्वयंभू ने यह पद्य उद्धृत किया है, परंतु जैसे हेमचन्द्र में प्राचीन लक्षण सुरक्षित हैं वैसे वहाँ नहीं है ।

छन्द : मात्रा ! देखिये 350 (1) विषयक टिप्पणी ।

(7). **लेखडड** में अपभ्रंश ध्वनिप्रक्रिया के लिये असामान्य लगे वैसा **-ख-** सुरक्षित है, उसका ह या घ नहीं हुआ है । यह आधुनिक चलन है ।

(9). **कोड्ड**– पर से आये गुज. **कोड** ('उमंग') में अर्थ थोड़ा बदल गया है । 'कौतुक' के स्थान पर 'अभिलाषा' के अर्थ में उसका प्रयोग होता है ।

(10). अपभ्रंश के स्थान पर शुद्ध प्राकृत उदाहरण । छन्द अनुष्टुप । प्रत्येक चरण में आठ आठ वर्ण, पाँचवा लघु, छठा गुरु, सातवाँ प्रथम-तृतीय चरणों में गुरु, द्वितीय-चतुर्थ में लघु ।

(11). सं. 'रमण'– पर से ***रमण्य**– और फिर **रवण्ण**– ।

(14). शरीर को कुटी का रूपक दिया है । **कुटी** पर से **कुडी**, उसके कुद्र– अंग को लघुतावाचक स्वार्थिक **-उल्ल**– लगने पर, स्त्रीलिंग का ई लगते **कुडुल्ली** । **जुअंजुअ** का मूल सं. **युतंयुत**– उस पर से गुज. **जूजवुं** ('भिन्न-भिन्न)'. **बहिणु** अः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सं. **भगिनी** का अनियमित **बहिणी;** उसके **बहिण**– अंग को दुलार का वाचक –**उअ**– प्रत्यय लगकर **बहिणुअ** सिद्ध हुआ है । आठवीं शताब्दी के आसपास के राजस्थान–गुजरात के शिलालेखों में –**उक**– प्रत्यय वाले विशेष नाम मिलते हैं । (**कक्कुक, शीलुक**– आदि) । छन्द 16 मात्रा का वदनक है । देखिये 407 (1) विषयक टिप्पणी ।

(15). प्रेमपात्र की प्राप्ति का विचार करता रहे परंतु उसके लिये पाई भी खर्च न करे उसकी तुलना ऐसे 'गेहेनर्दी' के साथ की गयी है जो सही में भाले का उपयोग रणभूमि में करने के बदले घर में बैठे बैठे ही मन के घोड़े दौड़ाता है । छन्द वदनक । देखिये सूत्र 407 (1) विषयक टिप्पणी ।

(17). देखिये 420 (5) विषयक टिप्पणी ।

(18). **अपूरइ कालइ** 'समय से पहले कच्ची उम्र में', 'आयु पक्व होने से पहले', 'अकाल' ।

(20). **केरउं** और **तणउं** पर से गुज. **केरुं, तणुं** आये हैं । जो अब तो केवल काव्य–भाषा में ही प्रयुक्त होते हैं । तृण– में ऋकार सुरक्षित रहा है ।

(21). यह सच है कि **मब्भीस** का मूल में सं. **मा भैषीः** है, परंतु अर्थ का लक्षणा से विकास हुआ है । 'डर मत' यह अभयवचन हुआ इसलिये **मब्भीस**= 'अभयवचन', 'आश्वासन' । अपभ्रंश में **मब्भीसु** धातु के रूप में 'अभयवचन देना', 'आश्वासन देना' के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

(22) सं. **यावद्**– + **दृष्ट**– + **इका**, प्रा. **जाव** + **दिट्ठिआ, जाइट्ठिअ** ।

423 (2). **घुंट** का अर्थ 'घूंट' नहीं, परंतु ध्वन्यात्मक लेना है, गट **गट घट घट** ऐसी आवाज के साथ ।

(4). **लोमपटी** > ***लोवँवडी** > ***लोवडी** > **लोअड़ी** । यह रूप मध्य–प्रदेश के विशिष्ट ध्वनिपरिवर्तन के अनुरूप है । गुजराती में **लोवडी** पर से **लोबडी** 'कम्बल' । उट्ठइ और बइसइ पर से अपभ्रंश भूमिका में प्रचलित चलन के अनुसार स्त्रीलिंग क्रियानाम । गुजराती, हिन्दी आदि में **माग, भाळ** ('पता'), **पहुँच/पहोंच, समझ/समज** आदि इसी प्रकार की स्त्रीलिंग संज्ञायें हैं ।

424. एक ही पद्य में स्वार्थे ड प्रत्यय वाले तीन शब्द एक साथ प्रयुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए हैं। उत्तरार्ध में **विनाशकाले विपरीत–बुद्धिः** 'विनाश के समय में बुद्धि विपरीत हो जाती है' नामक प्रसिद्ध कहावत है।

425 (1). **केहिं** पर से हिंदी **के**। प्राचीन गुजराती में **रेसि** प्रयुक्त होता रहा है। **तणेण** यह मूल में **तणेण कारणेण** 'उसके कारण' पर से।

426. **पुनः–पुनो–पुणो–पुणु** ऐसा विकासक्रम। **विना** का **विणा** और **विण** होना चाहिये। परंतु सादृश्य से **विणु** हुआ है। आधुनिक गुज. **वण** ('बिना')। उदाहरणपद्य की मूलभूत गाथा के लिये देखिये 'परिशिष्ट'।

427. **अवश्य > अवस्स > अवस** ऐसा विकासक्रम है। तुलनीय **सहस्र > सहस्स > सहस**। तृतीया का प्रत्यय लेने पर **अवसें**।

अधीन पर से अर्धतत्सम **अद्धिन्न हुआ है**। उस पर से आधुनिक **आधीन** इस तरह **आधीन** यह **पराधीन** आदि से केवल निष्पन्न रूप न भी हों, आधुनिक गठन का नहीं परंतु परंपरागत और इसीलिये 'शुद्ध' हो।

छन्द : 27 मात्राओं का कुंकुम। यह द्विपदी है। 15 मात्राओं के बाद। नाप : 15 + 12; गणविभाग : 4+4+4+3 और 4+4+4।

यह पद्य 'परमात्मप्रकाश' में भी मिलता है। देखिये 'परिशिष्ट'। सूत्र 429–437 में कुछ तद्धित प्रत्यय दिये गये है।

429. प्रत्यय **–अड–** और **–उल्ल–** है, उन्हें सूत्र में **–डड–** और **डुल्ल–** के रूप में दिया गया है। आगे जुड़ा हुआ डकार पारिभाषिक है। स्वर से शुरु होते प्रत्ययों या आदेशों के आरंभ में ऐसा सूचित करने के लिये डकार रखा जाता है कि इन प्रत्ययों के लगने पर उसके पूर्व का स्वर–अंग का अंत्य स्वर–लुप्त होता है। ऐसे प्रत्ययों का पारिभाषिक नाम **डित्** हैं। **डित्–अड** अर्थात् ऐसा **–अड–** प्रत्यय जिसके लगने पर अंगका अंत्य स्वर लुप्त होता है। **दोस– + –अड– = दोस् + –अड– = दोसड–**। ये प्रत्यय **'स्वार्थे'** लगते हैं—**'स्वअर्थे'** लगते हैं। अर्थात् इन प्रत्ययों के लगने पर अंग के मूल अर्थ में कोई फरक पड़ता नहीं है। प्रत्ययसहित या प्रत्ययरहित अंग का अर्थ एक ही रहता है। इसलिये ये स्वार्थिक प्रत्यय कहे जाते हैं। मूल में तो ऐसे प्रत्यय आत्मीयता, प्यार, दुलार, लघुता, हीनता, अपकर्ष आदि भावों की छायाओं को सूचित करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। फिर आगे चलकर अति परिचय के कारण उनकी अपनी अर्थछाया में घिस जाने पर वे स्वार्थिक प्रत्यय बन जाते हैं– केवल अंगविस्तारक प्रत्यय बन जाते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत में –क– प्रत्यय (बालक आदि में) प्रचलित था। उस में से आये –अ– प्रत्यय का प्रदेश प्राकृत–अपभ्रंश में अतिविस्तृत बना। अपभ्रंश में तो लगभग किसी भी अंग का –अ– प्रत्यय से विस्तार करने का चलन है। गुजराती का छोकरो और हिंदी का लड़का इस प्रकार के अंग अपभ्रंश के स्वार्थिक –अ– प्रत्यय के कारण हैं। हिंदी, गुजराती आदि में वर्तमान कृदंत, भूतकृदंत और विकारी विशेषणों आदि में यह –अ– प्रत्यय है। –उल्ल– प्रत्यय से हिंदी –उल–, गुजराती –अल–। मोरुल्लउ > गुज. मोरलो ('मोर'); हिं बगुला।

वास्तव में –अड– और –उल– अकेले प्रयोग नहीं किये जाते। –अडय– और –उल्लय– यों –अ– प्रत्यय से संयुक्त ही ये मिलते हैं। देखिये बाद का सूत्र।

लगता है हेमचन्द्र के उदाहरणों का आधारभूत अपभ्रंश साहित्य विविध कक्षा का होगा। स्वयंभू, पुष्पदंत जैसों की प्रशिष्ट अपभ्रंश कृतिओं के अलावा लौकिक साहित्य में से भी उदाहरण लिये गये हैं। –अड– प्रत्यय का मुक्त प्रयोग यह हेमचन्द्र के समय की करीब की लोकबोली का लक्षण होगा, ऐसा लगता है। ऐसे प्रत्ययवाले शब्दों से युक्त भाषा ज्यादा इस ओर की, ज्यादा जीवंत है। अवधी, मालवी आदि के लोकगीतों में र और गुजराती लोकगीतों में ड, ल आदि स्वार्थिक प्रत्ययवाले शब्द मुक्त रुप से प्रयुक्त हुए हैं।

430. हेमचन्द्र के व्याकरण के प्राकृत विभाग के पहले पाद में (सू. 269) किसलय, कालायस और हृदय के य का प्राकृत में लोप होने का नियम दिया है। उसके आधार पर हृदय का हिअ– और फिर –अड– और –अ– प्रत्यय जुडकर हिअडय–।

बलुल्लडउ में –उल्ल–, अड– और –अ– यों तीन प्रत्यय एक साथ हैं। बताये गये कारण नायक को बारबार युद्ध के लिये प्रेरित करे ऐसे—उसे घर से लगातार दूर और जोखिम में रखे ऐसे हैं।

432–433. अगले सूत्र में स्वार्थिक प्रत्ययों का स्त्रीलिंग ई प्रत्यय से सिद्ध करने का नियम दिया गया है। परंतु धूली जैसे शब्द पर से धूलडिअ बनता है, उसे सिद्ध करने के यह दो सूत्र दिये हैं। हेमचन्द्र के अनुसार धूली + –अडअ– = *धूलडअ–। धूलडअ– को स्त्रीलिंग का ई नहीं परंतु आ प्रत्यय लगता है, और वह लगने पर उसका पूर्व स्थित अ का इ होता है। धूलडअ– को डित् –आ लगने पर धूलडआ और सू. 433 के अनुसार धूलडिआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सही में तो –अडअ– प्रत्यय का स्त्रीलिंग –अडिअ होता । सं. –(अ)क– प्रत्यय का स्त्रीलिंग –इका हैं । (बालक, बालिका)। उसके अनुसार गौर पर से *गोरडअ, और स्त्रीलिंग गोरडिआ होगा । *गोरडिआ के, अंत्य स्वर के ह्रस्व भाव के नियम अनुसार गोरडिअ और इअ का ई यों स्वरसंकोच की प्रक्रिया के कारण गोरडी—ऐसा विकासक्रम है ।

432. झुणि (<ध्वनि पुं.) अपभ्रंश में स्त्रीलिंग बना है । कुछ इकारांत पुल्लिंग संज्ञायें इस प्रकार इकारांत स्त्रीलिंग संज्ञा से प्रभावित है । गुज. आग (स्त्री.) < आगि < अग्गि < अग्नि इसका दूसरा उदाहरण है । गुज. और हिन्दी में घून स्त्रीलिंग है । हिंदी में तो इसके प्रभाव से फारसी मूल का आवाज भी स्त्रीलिंग है । (वैसे हिन्दी मनि स्त्रीलिंग है ।) अपभ्रंश में मूल के लिंगतंत्र में हुए परिवर्तन के लिये देखिये सूत्र 445 ।

435. देखिये सूत्र 407 (1) विषयक टिप्पणी । उदाहरणः कामचलाऊ ।

437. तल् = सं. –ता– प्रत्यय (वीरता आदि का)। °प्पण का मूल वैदिक °त्वन– है । °त्वन– के °त्व– का द्विविध विकास होता है । उच्चारण में ओष्ठ्यता प्रधान रहने पर व् की ओष्ठ्यता और त् की सघोषता मिलकर –त्व्– > –प्प्– ऐसा विकास हुआ है । और दंत्यता प्रधान रहने पर –त्व– > –त्त– ऐसा विकास हुआ है । अतः °त्वन– में से °प्पण– और °त्तण प्राप्त होते हैं । हिंदी बचपन, लडकपन, गुज. बचपण, नानपण आदि में यह असर आया हैं ।

सूत्र 438 से 443 कुछ कृत्–प्रत्ययों के बारे में है ।

438. सं. °तव्य–, °इतव्य– पर से स्वार्थिक –अ– जुड़कर अपभ्रंश के प्रत्यय बने हैं । °एठवउँ पर से °एवउँ > °इवउँ > गुज. °अवुँ > °वुँ (करेठवउँ > करेवउँ > करिवउँ > गुज. करवुँ) ऐसा विकास हुआ है ।

438. (1) रकार सुरक्षित रखे हुए रूपों को ध्यान में रखे जायें ।

धुं के लिये देखिये सूत्र 360 (1) विषयक टिप्पणी । संदर्भ के बिना अर्थ अस्पष्ट रहता है ।

(2). अतिशय अनुराग के हिस्से में सहना भी बहुत होता है । रत्त– श्लिष्ट है । 'लाल' और 'अनुरक्त' दो अर्थ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(3) **सोएवा, जग्गेवा** क्रियावाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुए है । तुलनीय गुज. **सूवुं** 'सोना', **जागवुं** 'जागना' ।

439–440. °इ प्रत्ययवाले सम्बन्धक भूतकृदंतों पर से आधुनिक हिन्दी के प्रत्यय–रहित रूप (**मार कर, बोल कर** आदि में **मार, बोल**) प्राप्त हुए हैं । °इउ प्रत्ययवाले रूपों पर से गुजराती के सं. भू. कृदंत आये हैं (**करिउ > करी**) । दोनों संस्कृत के सोपसर्ग धातु को लगते –य– प्रत्यय (**अनुगम्य** आदि में के) पर से बने हैं । एक में **य > इ**, दूसरे में विश्लेष से °**इय** ।

वैदिक °**त्वी** पर से °**अप्पि**, °**एप्पि** और फिर **अवि, एवि, इवि**, वैदिक °**त्वीन** पर से **एप्पिणु, एविणु** । सम्बन्धक और हेत्वर्थ कृदंत के चार–पांच प्रत्ययों का होना यह सूचित करता है कि आधारभूत सामग्री के मूल में विविध बोलियाँ होंगी ।

439. (1). 'तो क्या आकाश में चढ़ जायेंगे ?' यह जीवन्त लोकबोली का प्रयोग है ।

चड़ाहुँ, मराहुँ : यहाँ तथा अन्यत्र कई स्थानों पर वर्तमान भविष्यार्थ है । देखिये भूमिका में 'व्याकरण की रूपरेखा' ।

(3). **विष** का एक अर्थ 'पानी' भी है । संभवतः **मुंज** श्लिष्ट है । 'मुंज' घास और 'मुंज' राजा । डोह् पर से अर्थभेद से गुजराती **डोवुं** ('खँगालना') आया है ।

(4). °**ट्ठिउ** अनुग है । **हिअय–ट्ठिउ** अर्थात् 'हृदय से', 'हृदय में से', गुजराती का °**थी** (दंत्य रूप) **थिउ < स्थितः** पर से है ।

440. उदाहरण रचा हुआ है ।

441. °**एवं** यह विध्यर्थ कृदंत का प्रत्यय होने के कारण हेत्वर्थ कृदंत के लिये प्रयुक्त होता है । °**अण** यह संस्कृत क्रियावाचक संज्ञा सिद्ध करता °**अन**– प्रत्यय ही है (**गमन–, करण–** आदि में का) । °**अन**वाले अंग को षष्ठी का °**हँ** और तृतीया सप्तमी का °**हिँ** लगकर °**अणहँ, °अणहिँ** सिद्ध हुए हैं ।

राजस्थानी में **करणो**, हिन्दी **करना**, मराठी **करणें** आदि रूपों का सम्बन्ध हेत्वर्थ के लिये प्रयुक्त °**अण** अंतवाले रूपों से हैं । **भुंजणहिँ न जाइ** के लिये देखिये 350 (1). विषयक टिप्पणी । 441 (1), (2) रचे हुए उदाहरण हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

442. ब्राह्मणीय परंपरा के साहित्य में से उदाहरण लिये हैं । **कीलदि, तिद-सावास** प्राचीन रूप हैं ।

443. गुजराती में °णो (°णउ) के बदले °कणो प्रत्यय है । **मारकणो** 'मारनेवाला', **बोलकणो** 'वाचाल' आदि । इसमें **मार** आदि का **क** प्रत्यय से विस्तार हुआ है ।

444. (2). मूल प्राकृत तथा उसी भाव के संस्कृत पद्य के लिये देखिये 'परिशिष्ट' ।

(3). उद्धभुअ के स्थान पर छन्द की खातिर उद्धब्भुअ । गुजराती **ताग** अर्ध-तत्सम लगता है । वह **थाह** में से विकसित हुआ नहीं है ।

(4). नजर उतारने के लिये—अनिष्ट को दूर रखने के लिये लोन उतारने की—नमक ऊतार कर आग में डालने की रीति प्रसिद्ध है । जिन देव पर से ऊतारकर आग में डाला हुआ नमक, 'सलोने' मुख से हुई ईर्ष्या से प्रेरित होकर अग्नि-प्रवेश करता है—ऐसा अर्थ उत्प्रेक्षित है ।

(5). तुलना के पद्य के लिये देखिये 'परिशिष्ट' । छन्द : 11 + 10 नाप का लगता है । तीसरा चरण अधूरा है । **सोहेइ** ऐसे पाठ की कल्पना करें तो छन्द-भंग नहीं होगा ।

445. लिंग में हुए परिवर्तनों के मूल में प्रायः या तो अंत्य स्वर का या अर्थ का सादृश्य होता है । आगे चलकर स्त्रीलिंग का इकार लघुता का और नपुंसक-लिंग सामान्य स्वरूप का वाचक बनने पर सुविधा के अनुसार किसी भी पुंल्लिंग अंग को ये प्रत्यय लगने लगे । और नपुंसकलिंग और पुल्लिंग के भेदक एक-दो प्रत्यय थे, वे भी लुप्त होने पर उनके बीच कईबार वाकई भ्रम भी होता हो । **अंत्रडी** (गुज. **आंतरडी**, हिं. **अंतड़ियाँ**) यह 'छोटी आंत' के अर्थ में है ।

446. यह सूत्र यह सूचित करता है कि हेमचन्द्रने शौरसेनी प्रभाववाले अप-भ्रंश साहित्य को भी उपयोग में लिया है । त् > द् यह प्रक्रियावाले चार और द् सुरक्षित रखता एक रूप 'शौरसेनी'पन दिखाता है ।

छन्द 'मात्रा' । देखिये 450 (1) विषयक टिप्पणी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

447–448. ये सूत्र केवल अपभ्रंश से नहीं परंतु समस्त प्राकृत प्रकारों से सम्बन्धित हैं। बोलिओं का थोड़ा बहुत मिश्रण साहित्यभाषा में अनिवार्य होता है और पद्यसाहित्य में छन्द की सुरक्षा के लिये कई बार प्राचीन भूमिका के, कईबार बोलचाल के तो कईबार संबद्ध बोलिओं के रूपों और प्रयोगों को प्रयुक्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश पर साहित्य–प्रतिष्ठा के कारण संस्कृत और प्राकृत का काफी प्रभाव रहता था– अपभ्रंश के कई कवि संस्कृत–प्राकृत के व्युत्पन्न पंडित थे। अतः साहित्यिक अपभ्रंश में संस्कृत–प्राकृत के प्रभाववाले शब्द, रूप, प्रयोग मुक्त रूप से प्रयुक्त किये जाते थे। आधुनिक हिन्दी, गुजराती आदि कविता में भी हम संस्कृत के काफी शब्दों का तो क्वचित् संज्ञा–विभक्ति या आख्यातिक विभक्ति के रूप का प्रयोग करते ही है न !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

330/1 के साथ तुलनीय :

मरगय–वन्नह पियह उरि पिय चंपय–पह–देह ।
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह ।।
('कुमारपाल प्रतिबोध', पृ. 108)

'मरकत वर्ण के प्रियतम के हृदय पर चंपई देहआभावाली प्रियतमा, कसौटी के पत्थर पर सुवर्ण की रेखा खींची हों ऐसी सुन्दर लग रही है ।'

330/2 के साथ तुलनीय :

दे सुअणु पसिअ एण्हिं पुणो वि सुलहाइँ रूसिअव्वाइं ।
एसा मअच्छि मअलंछणुज्जला गलइ छण–राइ ।।
('सप्तशतक,' 5/66)).

'हे सुतनु, अभी तो प्रसन्न हो, मान तो बाद में भी सरलता से किया जा सकता है । मृगाक्षी, यह चन्द्रोज्ज्वल उत्सवरात्री चली जा रही है' ।

टीकाकार दे सुअणु के स्थान पर दे सुहअ 'सुभग' ऐसा पाठ बताता है । यह पाठांतर लेने पर पूर्वपद नायक को और उत्तरपद नायिका को दूती द्वारा संबोधन के रूप में लिया जायें । टीकाकार द्वारा निर्देशित पाठांतर लेने पर गाथा का पूर्वपद हेमचंद्र द्वारा दिये गये दोहे के पूर्वार्ध के करीब का होता है । 'वज्जालग्ग' की एक गाथा का उत्तर पद भी इसी भाव का है :

माणेण मा नडिज्जसु माणंसिणि गलइ छण–राई ।
('वज्जालग्ग', 351/2)

'मानिनी, मान से दुःखी मत हो । उत्सवरात्री चली जा रही है ।'

330/3 के साथ तुलनीय :

कस्य न भिंदइ हिययं अणंग–सर–धोरणि व्व निवडंती ।
बालाएँ वलिय–लोयण–फुरंत–मयणालसा दिट्ठी ।।

'बाला की तीरछी आँखों में स्फुरित प्रेम के कारण अलस बनी हुई दृष्टि, अनंग की शरधारा की भाँति, पड़ते ही किसका हृदय न बेधे ?'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

331 के साथ तुलनीय :

जगदाह्लादकश्चंड–प्रतापोऽखंड–मंडलः ।
विधिना ननु चंद्रार्कावेकीकृत्य विनिर्मितः ।।

('कथासरित्सागर', 12-24-5)

332 (2) के साथ तुलनीय :

हउँ सगुणी पिउ णिग्गुथउ, णिल्लक्खणु णीसगु ।
एक्कहिं अंगि वसंताहं, मिलिउ ण अंगहिं अंगु ।।

('पाहुड-दोहा', 100)

'सरसागर' 86 वे पद का भी यही भाव है ।

333 के साथ तुलनीय :

हत्थेसु अ पाएसु अ अंगुलि–गणणाइ अइगआ दिअहा ।
एण्हिं उण केण गणिज्जउ त्ति भणिउं रुअइ मुद्धा ।।

('सप्तशतक', 4/7)

'हाथ की और पैरों की ऊँगलियाँ से' गिनने के बावजुद (अवधि के) दिन बाकी रहे, अब उसे कैसे गिनूँ ?' यह कहकर मुग्धा रोती है ।

340/1 के साथ तुलनीय :

वरि खज्जइ गिरि–कंदरि कसेरु ।
णउ दुज्जण–भऊँहा–वंकियाइं, दीसंतु कलुस–भावंकियाइं ।।

('महापुराण', 1/3/12-13)

340/2 के साथ तुलनीय :

कसरेक्क–चक्क–थक्के भरम्मि धवलेण झूरियं हियए ।
हा किं न खंडिऊण जुत्तो हं दोहि–मि दिसाहिं ।।

('जंबूज्झामिचरिउ', 7, 6 गाथा 6)

341/1, 2 के साथ तुलनीय :

अडवीसु वरं वासो समयं हरिणेसु जत्थ सच्छन्दो ।
न य एरिसाणि सामिय सुव्वंति जहिं दुव्ययणाइं ।।

(विमलसूरि–कृत 'पउमचरिय', 35, 11)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कूलेसु गिरि-णइण निवसामि वरे अरण्ण-वासम्मि ।
न य खल-वयणस्स गेहं पविसामि पुणो भणइ रामो ॥

(वही, 15, 17)

वत्थाइँ वक्कलाइं विच्छिन्न-सिलायलाइं सयणीयं ।
असणं जत्थ फलाइं तं रन्नं कह न रमणीयं ॥

('नाणपंचमी-कहा,' 6/51)

'जहाँ वल्कल के वस्त्र, विस्तीर्ण सिलातल का बिस्तर और फलों का भोजन (सुलभ) है, उस अरण्य को रमणीय क्यों न (माना जाये) ?'

343/2 के साथ तुलनीय :

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहो वि ।
पत्ते वि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अग्गी ॥

('सप्तशतक', 2/63)

'जिसके बिना जिया न जाये उसने यदि अपराध किया हो तो भी उसे मनाना होगा । नगर जल रहा हो तब भी अग्नि किसे प्रिय नहीं होगा ?'

यही 'वज्जालग्ग' में 557 वीं गाथा के रूप में है । वहाँ जिविज्जइ के स्थान पर वल्लिज्जइ (शरीर) ('पुष्ट न हों-अच्छा न हों') ऐसा पाठांतर है । 'प्राकृत पैंगल' में (मात्रावृत्त 55) भी यह गाथा उद्धृत हुई है ।

350/2 के साथ तुलनीय :

स्वकीयमुदरं भित्वा निर्गतौ च पयोधरौ ।
परकीयशरीरस्य भेदने का कृपालुता ॥

('सुभाषितरत्नभाडांगार', पृ. 256, श्लोक 264)

'स्तन अपना उदर भेद कर निकले हैं, (तो) दूसरों का शरीर बेधने में (वे) क्या दयालु होंगे !'

351/1 के साथ तुलनीय :

अग्गा पइं नियच्छइ जह पिट्ठिं रणमुहे न देसि तुमं ।
मा सहियणस्स पुरओ ओगुट्ठिं नाह काहिसिमो ॥

('पउमचरिय', 56/15)

'दूसरी पति पर दबाव डालकर कहती है कि तुम संग्राम में मोरचे से पीठ मत फेरना । प्रिय, कहीं हमें सखियों के सामने नीचा नीचा न देखना पड़े !'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

352 : 'शृंगारप्रकाश' पृ. 1222 पर यह दोहा मिलता है । इस के साथ तुलनीय :

पासासंकी काओ णेच्छदि दिण्णं पि पहिअघरणीए ।
ओणंत-करअलोगलिअ-वलअ-मज्झ-ट्ठिअं पिंडं ॥
('सप्तशतक', 3/5)

'झुकती हथेली के कारण सरके हुए कंगन के बीच रहा पिंड पथिक-गृहिणी के देने के बावजुद, पाश की आशंका से कौआ (खाना) नहीं चाहता ।

काग उडावण धण चडी, आयां पीव भडक्क ।
आधी चूडी काग-गल, आधी गई तडक्क ॥
('राजस्थानी दोहा,' पृ. 238)

357/2. 'सरस्वतीकंठाभरण' 2/76 और 'शृंगारप्रकाश', पृ. 238 पर यह मिलता है ।

364 के साथ तुलनीय :

विहलुद्धरण-सहावा हुवंति जइ के-वि सप्पुरिसा ॥
('सप्तशतक', 3/85 (2))

'दु:खियों का उद्धार करने के स्वभाववाले तो कोई-कोई ही सत्पुरुष होते हैं' ।

365/1 के साथ तुलनीय :

नयणाइं नूण जाईसराइं वियसंति वल्लहं दट्ठुं ।
कमला इव रवि-कर-बोहियाइं मउलंति इयरम्मि ॥
('जुगाइजिणिंदचरिय', पृ. 28, पद्य 33)

जाईसराइं मन्ने इमाइं नयणाइं होंति लोयस्स ।
वियसंति पिए दिट्ठे अन्नो मउलंति वेसम्मि ॥
('गाहारयणकोस', पद्य 52)

जाईसराइं.....लोअ-मज्झम्मि ।
पढम-दंसणे च्चिय सुणंति सत्तुं च मित्तं च ॥
('जिनदत्ताख्यान,' पृ. 47, पद्य 44)

अइपसण्णु मुहु होइ संभासणु पडिवज्जइ ।
पुव्व-भवंतर-णेहु जण-दिट्ठिएँ जाणिज्जइ ॥
('महापुराण', 9/5/13-14)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मुख अति प्रसन्न हों, संभाषण करेः (यों) पूर्वजन्म का स्नेह का लोगों की दृष्टि द्वारा पता चलता है ।'

366/1 का अनुकरण 'दोहा-पाहुड' 88 में मिलता है :

सयल-वि को-वि तडप्फडइ सिद्धत्तणहु तणेण ।
सिद्धत्तणु परि पावियइ चित्तएं निम्मलएण ॥

367/1 के साथ तुलनीय :

जइ सो न एइ गेहं ता दूइ अहोमुही तुमं कीस ।
सो होही मज्झ पिओ जो तुज्झ न खंडए वयणं ॥
('वज्जालग्ग', 417)

'हे दूती, यदि वह घर नहीं आ रहा तो इस में तुम्हारा सिर क्यों झुक गया है ? तुम्हारा वचन (तथा 'वदन') जो खण्डित न करे वही मेरा प्रिय हो सकता है' ।

567/3 = 'परमात्मा प्रकाश' 2/76 ।

(पाठांतर 'बलि किउ माणुस-जन्मडा देक्खंतहँ पर सारु' ।)

367/4 के साथ तुलनीय :

किं गतेन यदि सा न जीवति प्राणिति प्रियतमा तथापि किम् ।
इत्युदीक्ष्य नवमेघमालिकां न प्रयाति पथिकः स्वमन्दिरम् ॥
(भर्तृहरि : 'शृंगारशतक', 67)

368 के साथ तुलनीय : मालइ-विरहे रे तरुण-भसल मा रुवसु निब्भरुक्कंठं ।
('वज्जालग्ग', 241)

'हे तरुण भ्रमर, मालती-विरह में तुम ऊँची आवाज में भरपूर रो मत ।'

370/2 के उत्तरार्ध के साथ तुलनीय :

सा तुज्झ वल्लहा, तं सि मज्झ, वेसो सि तीअ, तुज्झ अहं ।
('सप्तशतक,' 2/26)

'वह है तुम्हे प्रिय, तुम हो मुझे, तुम हो उसके धिक्कार का पात्र, (तो) मैं तुम्हारे (धिक्कार का पात्र) ।'

3/76 = 'कुमारपाल-प्रतिबोध', पृ. 257.

(पाठान्तर : थोडा, इउ कायर चिंतंति, कइ उज्जोउ ।

377/1. 'कुमारपाल-प्रतिबोध', पृ. 85 पर मिलता पद्य.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

382/1. के साथ तुलनीय :

घणसारतार-णअणाएँ गूढ-कुसुमुच्चयो चिहुर-भारो ।
ससि-राहु-मल्ल-जुज्झं व दंसिदमेण-णअणाएँ ।।

('कर्पूरमंजरी', 2, 21)

'कपूर की भाँति चमकते नयनोंवाली (उस सुन्दरी के) केशकलाप में गूढ पुष्प-पुंज है । (इससे उस) हरिणाक्षीने मानों चन्द्र और राहु का मल्लयुद्ध दर्शाया ।'

383/1. के साथ तुलनीय :

मा सुमरसु चंदण-पल्लवाण करि-णाह गेण्ह तिण-कवलं ।
जं जह परिणमइ दसा तं तह धीरा पडिच्छंति ।।

('वज्जालग्ग', 192)

'हे गुजपति, चन्दनपल्लवों को (अब) मत याद कर । घास का कौर ले । जो (भाग्य)दशा जिस ढंग से आती है, उसे धीर पुरुष उस ढंग से अपना लेते हैं ।'

387/2. के साथ तुलनीय :

छप्पय गमेसु कालं वासव-कुसुमाइं ताव मा मुयसु ।
मन्ने जियंतो पेच्छसि पउरा रिद्धी वसंतस्स ।।

('वज्जालग्ग', 244)

'भ्रमर, (जैसे-तैसे) समय बीता दे । बहेड़े के फूल को तो छोड़ ही मत । यही मानना कि जिन्दा रहेगा तो वसंत की प्रचुर रिद्धि तू देखेगा ।'

389/1 = 'परमात्मा प्रकाश' 270 ।

(पाठांतर : विसय जु. बलि किज्जउं हउं तासु, सो दइवेण जि, सीसु खडिल्लउ जासु.)

संत-च्चाई चाई खल्लाडो मुंडिओ चेव ।

('पुहइचंद-चरिय', पृ. 217, पं. 28, गाथा 193)

390. के साथ तुलनीय :

कह-कह-वि तुडि-वसेण ।

('जुगाइजिणिंद-चरिय', गा. 394, पृ. 30)

391/2. 'वृत्तजाति-समुच्चय' (4136) में ब्रोदि = ब्रूते का प्रयोग हुआ है । कुछ अशुद्धियों की शुद्धि के बाद पाठ इस प्रकार है-

एयहुं मत्तहुं अंतिमउ, जावहि दुवहउ भोदि ।
तो तहु णामें रड्डडु फुडु, छंदउ कइ-जणु ब्रोदि ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

395/1. के साथ तुलनीय :

पंडुरं जइ वि रज्जए मुहं कोमलंगि खडिआ–रसेण ।
दिज्जए पुण कवोल–कज्जलं ता लहेज्ज ससिणो विडंबण ॥

('कर्पूरमंजरी', 3/33)

'हे कोमलांगी, यदि तुम्हारा मुख चूने के पानी से पोत दिया जायें और गाल पर काजल लगाया जायं तो वह चन्द्र का अनुकरण कर सकेगा ।'

395/2 = 'कुमारपाल–प्रतिबोध', पृ. 108 ।

(पाठांतर : चूडउ, निहित्तु, सासानलिण, संसित्तु).

और तुलनीय :

काहि–वि विरहाणलु संपलित्तु, अंसु–जलोहलिउ कवोले चित्तु ।
पलुट्टइ हत्थु करंतु सुण्णु, दंतिमु चूडुल्लकउ चुण्णु चुण्णु ॥

('जंबूसामिचरिउ,' 4, 11, 12) ।

395/4 = 'शृंगारप्रकाश' पृ. 269 और 1069 पर मिलता भ्रष्ट पाठवाला उदाहरण ।

395/6. के साथ तुलनीय :

जेण जाएण रिउ ण कंपंति...
तें जाएं कवँणु गुणु...
किं तणएण तेण जाएण... ('स्वयंभूछन्द', 4/27)

'जिसके पैदा होने से यदि दुश्मन काँप न उठे...उसके जन्म लेने से क्या लाभ...उस के जन्म से क्या ?'

तुलनीय :

बेटा जाया कवण गुण, अवगुण कवणु मिएण ।
जां ऊभां घर आपणा, गंजीजे अवरेण ॥

('राजस्थानी दोहा', क्र. 627)

395/7. के साथ तुलनीय :

तं तेत्तियं जलं सायरस्स सोच्चेव परम–वित्थारो ।
एक्कं पि पलं तं नत्थि पिवासं निवारेइ ॥

('छप्पण्णय–गाहा–कोसो', 147)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

396/1. के उत्तरार्ध के साथ तुलनीय :

रे रे विडप्प मा मुयसु दुज्जणं गिलसु पुण्णिमायंदं ।

('वज्जालग्ग', 483 (2))

'रे रे राहु, दुष्ट पूर्णिमाचन्द्र को मत छोड, निगल जा ।'

396/4 की प्रतिध्वनि' दोहापाहुड 177 में भ्रष्ट रूप में है ।

और तुलनीय :

सज्जन विछुरे जो मिले, पलक न मेलूं पास ।
रोम रोम में मिलि रहूं, ज्यौं फूलन में बास ॥

401/4 के साथ तुलतीय :

नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरो श्रोष्यति । ('अमरुशतक', 6)

और :

हरुए कहु मो हिय बसत सदा बिहारीलाल । ('बिहारी-सतसई')

406/1. के साथ : तुलनीय :

ताव-च्चिय गलगज्जि कुणंति पर-वाइ-मत्त-मायंगा ।
चरण-चवेड-चडक्क न देह जाव देव-सूरि-हरी ॥

('पुरातन-प्रबंध-संग्रह', पृ. 26, पद्य 71)

चडक्क शब्द का अन्य एक प्रयोग :

पडिया जेणायंडे दुक्ख-चडक्का मह सिरम्मि ॥

('जिनदत्त-कथानक', पृ. 91, पद्य 410).

406/2. के साथ तुलनीय :

ताव च्चिय दलहलया जाव च्चिय नेह-पूरिय-सरीरा ।
सिद्धत्था उण छेया नेह-विहूणा खलीहु ंति ॥

('वज्जालग्ग', 559)

'तब तक ही कोमल होते हैं जब तक उनका शरीर स्नेहपूर्ण होता है : सरसों तथा विदग्धजन स्नेह विहीन होने पर खल (1. दुष्ट, 2. खली) बन जाते हैं ।'

414/2 की 'दोहापाहुड' 169 में प्रतिध्वनि है । अर्ध उलट-पुलट हैं ।

414/4. के साथ तुलनीय :

एहइ सो वि पउत्थो अहं अ कुप्पेज्ज सों वि अणुणेज्ज ।
इअ कस्स वि फलइ मणोरहाणँ माला विअभंमि ॥

('सप्तशतक', 1/17)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रवास पर गया वह भी लौटेगा, मैं क्रोध करूँगी और वह भी (मुझे) मनायेगा—प्रियतम के विषय में सोचे हुए मनोरथों की ऐसी माला किसी की ही फलवती होती है।'

आबिहिइ पिओ चुंबिहिइ निट्ठुरं चुंबिऊण पुच्छिहिइ।
दइए कुसल त्ति तुमं नमो नमो ताण दिवसाणं॥

('वज्जालग्ग', 784)

'प्रिय आयेगा, गाढ चुम्बन लेगा, चुमकर पूछेगा, 'प्रिया, तुं कुशल तो है न?'—ऐसे दिनों को अनेक नमस्कार।'

417/1 = 'शृङ्गारप्रकाश', पृ 280 पर का भ्रष्ट पाठवाला उदाहरण।

418/6 = 'कुमारपाल-प्रतिबोध', पृ. 12 पर का पद्य।

418/7 = 'दोहापाहुड' 176 का प्रारंभ।

419/1 के साथ तुलनीय :

घम्मि न वेच्चइ रूअडउ।

('जिनदत्ताख्यान-द्वय', पृ. 29, पद्य 144).

419/5. के साथ तुलनीय :

जसु पवसंत न पवसिया, मुइअ विओइ ण जासु।
लज्जिज्जउं संदेसडउ, दिंती पहिय पियासु॥

('संदेशरासक', 70)

420/3 = 'सरस्वतीकंठाभरण', 3/62, 'शृंगारप्रकाश', पृ. 268 पर मिलता पद्य.

421/1. कसर = 'अधम बैल, गलिया/सुस्त बैल', (देशीनाममाला'). स्वयंभूकृत 'पउमचरिय' में 'जर-कसरा इव कद्दमि खुत्ता' 'किचड़ में निमग्न बूढे सुस्त बैल जैसा।' विशेष के लिये देखिये Ratna Shriyan, 'Rare Words from the Mahāpurāna',

422/2. घंघल का सही अर्थ 'झकट' नहीं, 'संकट' है। झकट भ्रष्ट पाठ जान पडता है। तुलनीय—

सह कोज्झरेहिं गिरिणो सरियाओ विचित्त-वंक-वलणेहिं।
घंघल-सएहिं सुयणा, विणिम्मिया हय-कयंतेण॥

('पुहइचंदचरिय,' पृ. 128, पं. 16)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

322/3 भ्रष्ट रूप में 'दोहापाहड' में (151) मिलता है ।

422/6 'स्वयंभूच्छन्द' 4/33 में पाठ इस प्रकार है :

सव्व गोविउ जइ वि जोएइ
हरि सुट्ठु वि आअरेण देइ दिट्ठि जहिँ कहिँ वि राही ।
को सक्कइ संवरेवि डड्ढ–णअण णेहें पलोट्टउ ॥

422/8. के साथ तुलनीय :

दूरट्ठिओ वि चंदो सुणिव्वुइ कुणइ कुमुयाण ।
('वज्जालग्ग', 78(2))

'दूर होने पर भी चन्द्र कुमुदों के लिये परम निवृत्तिकर है ।'

गयण–ट्ठिओ वि चंदो आसासइ कुमुय–संडाइं ॥
('वज्जालग्ग', 77(2))

'गगन में रहने पर भी चन्द्र कुमुदसमूह को आश्वासन देता है ।'

कत्तो उग्गमइ रवी कत्तो वियसंति पंकय–वणाइं ।
सुयणाण जत्थ नेहो न चलइ दूरट्ठियाणं पि ॥
('वज्जालग्ग', 80)

'सूर्य कहाँ उगता है और पंकज कहाँ खिलते हैं । सज्जन दूर रहते हों फिर भी उनका स्नेह जहाँ हो (वहाँ से) चलित होता नहीं है ।'

422/11. के साथ तुलनीय :

नयरं न होइ अट्टालएहि पायार–तुंग–सिहरेहिं ।
गामो वि होइ नयरं जत्थ छइल्लो जणो वसइ ॥
('वज्जालग्ग', 270)

'अट्टालयों से और ऊँचे शिखरवाले प्राकारों से नगर बनते नहीं हैं । जहाँ विदग्ध मनुष्य रहते हैं, (वह) गाँव भी नगर बन जाता है ।'

422/18. के साथ तुलनीय :

जत्तो विलोल–पम्हल–धवलाइं चलंति नवर नयणाइं ।
आयण्ण–पूरिय–सरो तत्तो च्चिय धावइ अणंगो ॥
('वज्जालग्ग,' 294)

'जिस ओर चंचल पलकोंवाले श्वेत नयन मुड़ते हैं, उसी ओर कानों तक खिंचे हुए शरवाला अनंग दौड़ता है ।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जत्तो पेसेइ दिट्ठि सरस-कुवलआपीडरूअं सरूआ
मुद्धा इद्धं सलीलं सवणविलसिरं दंतकंतीसणाहं ।
तत्तो कोअंड-मुट्ठिठ णिहिअ-सरवरो गाढमावद्धलक्खो ।
दूरं आणाविहेओ पसरइ मअणो पुव्वमारूढवक्खो ।।

('स्वयंभूछन्द', 1/119)

423/2. : के साथ तुलनीय :

खज्जंति टसत्ति न भंजिऊण पिजंति नेव धुंटेहिं ।
तह-वि कुणंति तित्ति आलावा सज्जण-जणस्स ।।

('गाहारयण-कोस', पद्य 84)

426/1. के साथ तुलनीय :

सो णाम संभरिज्जइ पब्भसिओ जो खणं पि हिअआहि ।
संभरिअव्वं च कअं गअं च पेम्मं णिरालंबं ।।

('सप्तशतक,' 1/95)

'याद तो उसे करना होता है, जो हृदय में से (एक) क्षण के लिये भी हटे । जो प्रेम याद करने जैसा किया उसे निराधार बना (ही जानिये)' ।

यही गाथा कुछ पाठान्तर के साथ 'जुगाइजिणिद-चरिय' (पृ. 53) में मिलती है ।

427/1 = 'परमात्माप्रकाश', 271.

(पाठान्तर : पँचहुँ नायकु, जेण होंति वसि अण्ण, तरुवरहँ अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण) ।

434/1 के साथ तुलनीय :

अविअण्ह-पेक्खणिज्जेण तक्खणं मामि तेण दिट्ठेण ।
सिविणअ-पीएण व पाणिएण तण्ह च्चिअ ण फिट्टा ।।

('सप्तशतक,' 1/93)

'हे सखी, उस क्षण, देखने पर भी तृषा बुझे ही नहीं ऐसे दर्शनीय उसे देखकर (मानों कि) स्वप्न में पानी पीने से तृषा बुझी ही नहीं ।'

438/2. के साथ तुलनीय :

पक्खुक्खेवं नह-सूइ-खंडणं भमर-भरसमुव्वहणं ।
उय सहइ थरहरंती वि दुव्वला मालइ च्चेव ।।

('वज्जालग्ग', 235)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'पर (की चोट) से ऊँचे उछलना, नाखून से मंजरी टूटना, भँवर का बोझ उठाना—(यह सब) दुबली और काँपती होने के बावजुद मालती ही सहती है।'

और

कुंदुक्खणणं निअ-देस-छंडणं कुट्टणं च कड्ढणं च ।
अइरत्ता मंजिट्ठा किं दुक्खं जं न पावेइ ।।

('सुकृतसागर,' पत्र 9, उद्धृत गाथा 1, और 'मणोरमा-कहा,' पृ. 160, गाथा 120 (पाठान्तर : अइकढणं, अइरत्ते मंजिट्ठे, पावहिसी)

438/3. के साथ तुलनीय :

जइ लोअ-णिदिअं जइ अमंगलं जइ वि मुक्क-मज्जाअं ।
पुप्फवइ-दंसणं तह वि देइ हिअअस्स णिव्वाणं ।।

('सप्तशतक' 5/80)

'लोकनिंदित है, अमंगल है, मर्यादारहित है फिर भी पुष्पवती का दर्शन हृदय को निवृति देता है।'

लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होइ होउ तं णाम ।
एहि णिमज्जसु पासे पुप्फवइ ण एइ मे णिद्दा ।।

('सप्तशतक', 6/29)

'लोग निंदा करते हैं ? करने दो । बदनामी होती है ? होने दो । आव पुष्पवती, मुझ में दुबक जा—मुझे नींद नहीं आती।'

439/4. के साथ तुलनीय :

आमोडिउण बलाउ हत्थं मज्झं गओ सि मो पहिअ ।
हिअआउ जइ य णीहसि सामत्थं तो हुअ जाणिस्सं ।।

('सप्तशतक,' 749 = भुवनपाल, 323)

444/2. के साथ तुलनीय :

भूमीगयं न चत्ता सूरं दट्ठूण चक्कवाएण ।
जीयग्गल व्व दिन्ना मुणालिया विरह-भीएण ।।

('वज्जालग्ग,' 723)

'सूर्य को भूमि छूता देखकर विरहभीत चक्रवाक ने कमलतंतु (मुँह से) हटा नहीं दिया परंतु प्राणों के आगे अर्गला की तरह (गले में ही) रखा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

444/3. के साथ तुलनीय :

तह झीणा तुह विरहे अणुदियहं सुंदरंग तणुयंगी ।
जह सिढिल-वलय-निवडण-भएण उब्भिय-करा भमइ ॥

('वज्जालग्ग,' 443)

'हे सुन्दर अंगवाले, तन्वंगी तुम्हारे विरह में दिनों-दिन ऐसी क्षीण हो गयी है कि ढीले वलय सरक जाने के भय से हाथ ऊँचे रखकर ही घूमती है ।'

445/3. के साथ तुलनीय :

दाहिणकरेण खग्गं वामेण सिरं धरेइ निवडंतं ।
अंतावेढिय-चलणो धाइ भडो एक्कमेक्कस्स ॥

('वज्जालग्ग,' 167)

'दाहिने हाथ से खड्ग को और बायें हाथ से लटके जाते सिर को पकड़ते हैं : आँतों से लिपटे हुए चरणवाले सुभट एक-दूसरे की ओर दौड़ते हैं ।'

446. कुसुम-कय मुंडमालो यह प्रयोग 'जिनदत्ताख्यान-द्वय' (पृ. 82) में मिलता है ।

447/3 = 'सेतुबन्ध,' 2/1.

448/1 = 'गउडवहो,' 15.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट–(२)

1. धवलगीत

340. (2) इस प्रकार की अन्योक्तियाँ 'धवलान्योक्ति' के रूप में प्रसिद्ध है । 421. (1) इसका दूसरा उदाहरण है । इस प्रकार के गीत ईसा की दूसरी शताब्दी से रचे जाते थे । विविध प्रकार के धवलगीतों के छंद की व्याख्या अपभ्रंश के छंद-ग्रंथों में दी गयी है । प्राकृत और अपभ्रंश रचनाओं में से धवलगीत के उदाहरण मिलते हैं । प्राकृत सुभाषित–संग्रह 'वज्जालग्ग' में एक विभाग 'धवल–वज्जा' का है । आगे चलकर गुजराती, राजस्थानी, मराठी आदि के मध्यकालीन साहित्य में धवलगीतों की परंपरा चालु रही है । आज भी वैष्णव परंपरा में स्त्रियों रात में इकट्ठी बैठती हैं और 'घौलगीत' (धवलगीत) गाती हैं । विवाहगीत भी 'घौल' का ही एक प्रकार है ! विशेष के लिये देखिये मेरा लेख Dhavalas in Prakrit, Apabhraṁśa and post–Apathraṁśa Traditions, Bulletin d' Etudes Indiennes, 6, 1988, 93–103. अपभ्रंश–पुरानी गुजराती के सुभाषित–संग्रहों में इस प्रकार की फुटकल धवलान्योक्तियाँ भी मिलती हैं । जैसे–

नइ ऊंडी तलि चीकणी, पय थाहर न लहंति ।
तिम कड्ढिज्जे धवल भरु, जिम दुज्जण न हसंति ।।

'नदी गहरी है, उसका तल खटीला है, पैर टिक नहीं पाते, तो हे धवल, बोझ खिचकर पार पहूचना ताकि दुर्जन तुम्हारा मजाक न बनाये !' (भो. ज. सांडेसरा, 'प्राचीन गुजराती दुहा', 'ऊर्मिनवरचना', पृ. 286, पद्य 12.

2. भ्रमरान्योक्ति

387. (2) हेमचन्द्र का यह उदाहरण–पद्य छंद की दृष्टि से दोहा है । परंतु एक प्राचीन सुभाषित–संग्रह में वह थोड़े से पाठ–भेद से कुंडलिया छंद में रचे गये सुभाषित की पहली ईकाई के रूप में मिलता है । कुंडलिया छंद दोहा + वस्तुवदनक (= रोला) का बना है । इसमें दोहे के अंतिम चरण का रोला के प्रारंभ में पुनरावर्तन होता है । यह पद्य इस प्रकार है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भमरा कडुयइ निंबडइ, दीहा के–वि विलंबु ।
घण–तरुवर–छाया–बहुलु, फुल्लइ जाव कयंबु ॥
फुल्लइ जाव कयंबु, सुरहि–वाडल–सेवंतिइं
अवरे पडिखहि दिवस पांच चंपय–मालत्तिइं
भमरु कि कडुयइ रइ करइ पुणु दइवउ सहावइ
जम्मणु मरणु विदेस–गमणु किं कस्सु विहावइ ।

('प्राचीन गुजराती दुहा', भो. ज. सांडेसरा, ऊर्मिनवरचना, 1978, पृ. 286 और बाद के; पद्य क्रमांक 16).

3. द्विभंगी के अंशरूप उदाहरण

बीकानेर के बड़े भण्डार से अंदाजन पन्द्रहवीं शताब्दी की मानी जाती एक सुभाषित–संग्रह की पोथी में से अपभ्रंश या प्राचीन गुजराती के कुछ सुभाषितों को भोगीलाल सांडेसराने 'ऊर्मिनवरचना' के 583–584 अंकों में (अक्तु. नवे, 1978, पृ. 285–290) प्रकाशित किया है । इनमें से पाँच सुभाषित ऐसे हैं जो या तो परस्पर जुड़े हुये–युग्म रूप हैं या तो दो ईकाई के बने हैं जिन्हें यहाँ उद्धृत किया है । इन में से चार का छंद दोहा या सोरठा है । पाँचवां जो कि दो–दो ईकाई का बना हुआ है उसका छंद 'प्राकृत पैंगल' के अनुसार कुंडलिया है यानि कि दोहा + वस्तुवदनक (= रोला) । प्रथम चार युग्मों को प्रश्नोत्तर के रूप में या उक्ति–प्रत्युक्ति माना जा सकता हैं । पाँचवें में दोहे में निबद्ध अर्थ का रोला में विस्तार हुआ है और उल्लाला की प्रयुक्ति (दोहे के चौथे चरण का रोला के पहले चरण के प्रारंभ में पुनरावर्तन) के कारण वह भी उपर्युक्त चार की श्रेणी में आ सकता है ।

इनमें से तीन इस दृष्टि से रसप्रद है कि उनका केवल पहला पद्य हेमचन्द्राचार्य के अपभ्रंश व्याकरण में भी उदाहरण के रूप में मिलता है (335, 442–3 पाठभेद से, 387.2) । इससे सवाल यह पैदा होता है कि हेमचन्द्र को (या इसके आधारभूत स्रोत को) ये दोहे किस रूप में परिचित होंगे । यानि कि प्रश्नोत्तर के, उक्तिप्रत्युक्ति के या द्विभंगी छंद की पहली ईकाई के रूप में या स्वतंत्र मुक्तक के रूप में ? यदि अंतिम विकल्प का स्वीकार करें तो सुभाषितसंग्रह में जिस रूप में ये मिलते हैं उसे मूल रूप का विस्तार मानना पड़ेगा । किसी उत्तरकालीन कविने पुरोगामी रचना के विषय का अनुसंधान किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होगा । अन्यथा मानना होगा कि हेमचन्द्र के व्याकरण में उदाहरण के रूप में एक अंश लिया गया होगा ।

1. प्रश्न : इक्कहिं रन्नि वसंतयहं, एवडु अंतरु कांइं ।
सीहु कवड्डी नउ लहइ, मयगलु लक्खि विकाइ ।।

उत्तर : मयगलु गलि बंधेवि करि, जहिं लिज्जइ तहिं जाइ ।
सीहु परिब्भव जइ सहइ, दह–लक्खें विक्काइ ।।

2. उक्ति : देउलि देउलि फुक्किययइ, गलि घल्लेविणु नत्थ ।
संख समुद्दह छंडिया, जोइ ज हुइ अवत्थ ।।

प्रत्युक्ति : भाइअ संख म रोइ, रयणायर–विच्छोहियउ ।
पर–सिरि पदम (?) म जोइ, जइ विहि लिहिउ न आपणइ ।।

3. उक्ति : हंसिहिं जाणिउ एउ सरु, हउं सेविसु चिरकालु ।
पहिलइ चंचु–चबुक्कडइ, ऊमटियउ सेवालु ।।

प्रत्युक्ति : हंसा सो सरु सेवियइ, जो भरियउं निप्पंकु ।
ओछउं सरु सेवंतयहं, निच्छइ चडइ कलंकु ।।

4. प्रश्न : ससिहर झीणउ कांइं, रोहिणि पासि बइठियह ।
अम्ह हुय दुक्ख–सयाइं, रमणी रामणु ले गयउ ।।

उत्तर : कांइं झूरहि तुहुं राम, सीत गइ वलि आविसिइ ।
सोनइ न लागइ काटि (? साम), माणिकि मलु बइसइ नहिं ।।

5. यह उपर 'भ्रमरान्योक्ति' के नीचे दिया गया है ।

4. ज्ञात साहित्यप्रकार

'टिप्पणी' में उदाहरणों के छन्दों के बारे में जानकारी दी है । इस पर से जिन साहित्यप्रकारों के संकेत मिलते हैं उनके बारे में कुछ अनुमान किया जा सकता है ।

1. रड्डाबन्ध : गोविन्द कविवाला उदाहरण (422.6) और सू. 446 का उदाहरण रड्डाबन्ध का सूचक है ।

2. संधिबन्ध : चतुर्मुख की अपभ्रंश रामायण से लिया गया उदाहरण (331) संधिबन्ध–का सूचक है ।

3. रासाबन्ध : 357.2 और 353.1 ये रासाबन्ध के सूचक उदाहरण है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. दोहाबन्ध : (1) 'ढोला–मारु' प्रकार के दोहे (330.1, 2; 425.1).
(2) अन्य प्रेमकथाओं के दोहे (मुंजकृत : 350.2, 395.2, 414.3, 431.1; मुंज के बारे में : 439.3, 4)
(3) वीररस के दोहे ।
(४) जैन अगमनिगम परंपरा के दोहे (427.1)
(5) आणंद–करमाणंद के दोहे जैसे लौकिक दोहे (401.3).
(6) सुभाषित : शृंगारिक, वीररस के, औपदेशिक, अन्योक्ति (360, 387.2).

5. गीत : धवलगीत (340.2, 421.1).

5. पुरोगामी के व्याकरण–सूत्र

नमिसाधुने रुद्रट के 'काव्यालंकार' पर अपनी वृत्ति (इ. सन्. 1068) में अपभ्रंश के दो–चार लक्षणों का संभवतः किसी पुरोगामी अपभ्रंश व्याकरण के आधार पर (संभव है जिसका उपयोग हेमचन्द्रने भी किया हो : शब्दानुशासन का समय 1094–95) उल्लेख किया है :

1. न लोपोऽपभ्रंशेऽघोरेफस्य ।
उदाहरण : भ्रमरु ।
(तुलनीय । हे. 198 : वाऽघो रोल्लुक्)

2. अभूतोऽपि क्वाप्यघोरेफः क्रियते ।
उदाहरण : व्राचालउ ।
(तुलनीय हे. 399 अभूतोऽपि क्वचित्)

3. तथोदन्तस्य (?) दकारो भवति ।
उदाहरण : गोत्र गंजिदु(?दु) मलिदु चारितु(?त्तु) इत्यादि ।
(तुलनीय हे. 396 और तीसरे उदाहरण में 'कधिदु')

4. ऋतः स्थाने ऋकारो वा भवति ।
उदाहरण : तृण–सम गणिज(?ज्ज)इ ।
(तुलनीय हे. 358 (2) : तिणसम गणइ विसिट्ठु; तथा व्याकरण की रूपरेखा पृ. 32 पर सूचित उदाहरण । पिशेल के व्याकरण में हेमचन्द्र के तथा अन्य उदाहरणों के उल्लेख मिलते हैं (परिच्छेद 268).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. 'सिद्धहेम' के अपभ्रंश विभाग-गत कुछ उदाहरणों के अनुवाद की सूचि

अपभ्रंश व्याकरण में हेमचन्द्र द्वारा दिये गये कई उदाहरण काव्यदृष्टि से भी आस्वाद्य है। और उनके द्वारा हमें उच्चस्तरीय अपभ्रंश कविता के विविध प्रकारों का परिचय मिलता है। उनमें से कुछ मुक्तकों के गुजराती पद्यानुवाद मैंने 'मुक्तक-मंजरी' (दूसरी आवृत्ति : 1990) में दिये हैं। इसकी निम्नलिखित सूचि है। अपभ्रंश उदाहरण के सूत्रानुसार क्रमांक के पास कोष्ठक में 'मुक्तकमंजरी' में दिये मुक्तकों के क्रमांक हैं :

333	(144)	386.1	(162)	420.5	(95)	442.2	(130)
357.2	(140)	387.3	(160)	422.6	(177)	444.2	(79)
		389.1	(210)	422.11	(236)	—	
357.3	(145)			423.2	(99)		
358.1	(163)	395.4	(153)	423.3	(127)		
366.1	(216)	396.4	(120)	423.4	(94)		
367.5	(154)	401.4	(100)	431.1	(150)		
		406.1	(164)	432	(114)		
379.2	(161)	415.1	(47)	434.1	(146)		
379.3	(159)	418.1	(116)	439.3	(143)		
382	(111)	420.3	(104)	439.4	(105)		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दसूचि

अइ 425.1
अइ-तुंगत्तण 390
अइ-मत्त 345
अइ-रत्त 438.2
अइस 403
अंग 332.2, 357.2
अंगुलि 333
अंतर 406 3, 407.1, 408.1, 434.1
अंत्र 445.3
अंधारय 349.1
अंबण 376.2
अंसु-जल 414.3
अंसूसास 431.1
अ-किअ 396.4
√अक्खू 350.1
अक्खि 357.2
अक्खय 414.2
अगलिअ-नेह-निवट्ट 332.1
अग्ग 391.2, 422.12
अग्गल 341.2, 444.2
अग्गि 343.1, 2
अग्गिट्ठय 429.1
√अग्घ् 385.1
अ-चिंतिय 423.1
√अच्छ् 388, 406.3
अज्ज-वि 423.3
अज्जु 414.2
अ-डोहिअ 439.3
√अणुणे 414.4
अणुत्तर 372.2
अणुदिअह 428
अणुरत्त 422.10
√अणुहर् 367.4, 418.8
अण्ण देखो 'अन्न'
अत्थ 358.1
०अत्थमण 444.2
अद्ध 352
अद्विन्न 427.1
अनय 400.1
अनु 415.1
अन्न (या 'अण्ण') 337, 350.1, 357.2, 370.2, 372.2, 383.3, 401.2, 414.1, 418.8, 422.1, 9, 425.1, 427.1.
अन्नह 415.2
अन्नाइस 413
अपूरय 422.18
अप्प 346, 422.3
अप्पण 337, 338, 350.2, 416.1
अप्पग-छंद 422.14
अप्पाण 396.2
अ-प्पिअ 365.1
अब्भ 439.1, 445.2
अब्भडवंचिअ 395.3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

०अब्भत्थण 384.1
√अब्भिड् 383.3
०अब्भुद्धरण 364
अ-भग्ग 387.3
अभय 440
अम्मि 395.5, 396.2, 424
अम्ह 371, 376, 378, 379.3, 380, 381, 422.10, 439.1
अम्हार 345
अरि 418.7
अ-लहंत 350.1
अलि-उल 353
अवगुण 395.6
अवड-यड 339
अवर 395.6
अवराइस 413
अवराहिय 445.4
अवरोप्पर 409
अवस 376.2, 427.1
अवसर 358.2
असड्ढल 422.8
अ-सइ 396.1
असण 341.2
अ-सार 395.7
अ-सुलह 353
अ-सेस 440
अह 339, 341.3, 365.3, 365.5, 379.3, 416.1, 442.1
अहर 332.2, 390
अहवइ 419.2
अहवा 419.3
अहो 367.1
आइअ 432
आगद 355, 372.1, 373.1, 380,1
√आण् 419.3
०आणंद 401.3
आदन्न 422.22
आय 365, 383.3
आयर 341.2
आल 379.2
आलवण 422.22
√आव् 367.1, 400.1, 422.1
आवइ 400.1
√ आवट्ट् 419.6
०आवडिअ 401.4
०आवलि० 444.3
०आवास० 442.2
आवासिय 357.2
ओस 383.1
०इं 380.2, 384.1, 390, 396.4, 401.1, 439.4
इंदणील 444.5
√इच्छ् 384.1
इट्ठ 358.2
इत्तय 391.2
इम 361
इयर 406.3
इह 419.1
उअ 396.5
उअही 365.2
०उच्चाडण 438.2
उच्छंग 336.1
उज्जाण-वण 422.11

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उज्जुअ 412.2
उज्जेणि 442.1
उट्ठ-बइस 423.4
√उट्ठब्भ् 365.3
उट्ठिअ 415
०उड्डाण 337
√उड्डाव् 352
उण्ह 343.1
√उत्तर 339
उद्ध-ब्भुअ 444.3
उप्पत्ति 372.2
उप्परि 334.1
√उम्मिल्ल् 354.2
√उल्हव् 416.1
√उवम् 418.3
√उव्वत्त 414.3
उव्वरिअ 379.2
०उव्वाण 431.1
√उव्वार् 438.1
०ऊसास 431.1
√ए 351, 406.3, 414.4
एअ 330.4, 362, 363, 391.2, 395.4, 399.1, 402, 414.4, 419.2, 422.12, 425,1, 438.1, 445.2
एक्क 331, 357.2, 419.6, 422·1, 4, 9, 14
एक्क-इ 383.2
एक्क-खण 371
एक्कमेक्क 422.6
एक्कसि 428
एच्छण 353
एत्तहे 419.6, 436
एत्तिअ 341.2
एत्तुल 408,2, 435
एत्थु 330.4, 387.2, 404.1
एवड 408.1
एवँ 376.1, 418·1
एवँइ 332.2, 421.1, 423.2, 441.1
एवँहिं 383.3, 420.4
ओ 401.2
ओइ 364
√ओहट्ट् 419.6
क 355.3, 358.2, 359.3, 370.3, 376.2, 377.1, 384.1, 387.2, 395.1, 396.2, 412.2, 415.1, 420.5, 422.4, 6, 7, 438.3, 439.4, 441.2
कइ 376.1, 420.3
कइअहँ 422.1
कइ 426.1
कइस 403
कउ 416.1, 418.1
कंगु 367.4
कचण-कंति-पयास 396.5
कंचुअ 431.1
कंठ 420.5, 444.2, 446
कंत 345, 351, 357·1, 358 1, 364, 379.2, 383.3, 389.1, 395.5, 416.1, 418.3, 445.3
०कंति 349.2, 396 5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कच्च 329
कच्चु 329
कज्ज 343.2, 367.4
कज्ज-गइ 406.3
कटरि 350.1
कटार 445.3
कडु 336.1
✓कड्ढ् 385.1
°कढण 438.2
कणिअ 419.6
कणिआर 396.5
कधिद 396.3
कन्न (कण्ण) 330.3, 340.1, 432
✓कप्प् 357.1
°कबरिबन्ध 382
°कमल 332.2, 353, 395.1, 397, 414.1
कय 422.10
कयम्ब 387.2
✓कर् 330.3, 337, 338, 340.2, 346, 357.3, 360.1, 370.2, 376.1, 382, 385.1, 387.3, 388, 396.3, 4.400, 414.4, 420.3, 422.22, 431.1, 438.1, 441.1, 445.4
करेकर 349.1, 354.2, 387.3, 395.1, 3, 418.6, 439.3
करग्गुल्लालिअ 422.15
करवाल 354.2, 379.2, 387.3
°करालिअ 415.1, 429.1
✓करव् 423.4
करि-गंड 353
°कलंकिअ 428
कलहिअ 424
°कलाव 414.1
कलि 341.3
कलि-जुग 338
°कलेवर 365.3
कवण 350.2, 367.4, 395.6, 425.1
कवल 387.1
कवँल 397
कवाल 387.3
कवोल 395.2
कसवट्ट 330.1
कसर 421.1
कसरक्क 423.2
कसाय-बल 440
✓कह् 422.14
कह 370.1
कहंतिहु 415.1
कहिँ 357.3, 422.6, 8, 436
काइँ 349.1, 357.3, 367.1, 370.2, 383.2, 418.4, 421.1, 422.2, 428, 434.1
काम 446
°कार्य 350.1
कायर 376.1
काल 415.1, 422.18, 424
काल-क्खेव 357.3
कावालिय 387.3
किअ 371.1, 429.1
किँ 340.2
कि 365.2, 391.1, 418.8, 422.10, 434.1, 438.1, 439.1, 445.2
कित्ति 335

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कित्तिय 383.1
किद 446
किध 401.1
किन्नय 329
किर 349.1, 419.1
किलिन्नय 329
किवण 419.1
किवँ 401.2, 422.14
किह 401.3
किहें 356
✓कील् 442.2
ण्कुट्टण 438.2
कुंजर 387.1, 422.9
कुंभ 345
कुंभ-यड 406.1
कुडुंब 422.14
कुडी 422.14
कुडीर 364
कुड्ड 396.4
कुमार 362
कुरल 382
कुल 361
ण्कुसुम 444.5
कुसुम-दाम-कोदंड 446
कृदंत 370.4
केत्तल 408.2, 435
केत्थु 404.1
केम 401.1
केर 359, 373.2, 422.20
केवड 408.1
केवँ 343.1, 390, 396.4, 418.1
केस 370.3
केस-कलाव 414.1
केसरि 335, 422.20
केहय 402
केहिँ 425.1
कोंत 422.15
कोट्टर 422.2
कोहड 422.9
ण्कोदंड 446
ण्क्खेव 357.3
✓खंड् 367.1, 428
खंड 340.2, 423.4, 444.2
खंडिअ 418.3
खंति 372.2
खंध 445.3
ण्खंभ 399.2
खग्ग 330.4, 357.1
खग्ग-विसाहिय 386.1
खण 371, 419.1, 446
खय-गाल 377.1
खर-पत्थर 344.2
खल 334.1, 337, 365.5, 406.2, 418.7, 422.1
खल-क्यण 340.1
खल्लिहड 389.1
खसप्फसिहूअ 422.15
✓खा 419.1, 422.4, 423.2, 445.4
खाइं 424 (वृत्ति)
✓खुडुक्क् 395.4
खेड्ड 422.10
✓खेल्ल् 382
खोडि 419.2
ण्गइ 406.3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गउरी 329
गंग 442.2
गंगा-ण्हाण 399.1
गंजिअ 409
ण्गंठि 420.5
ण्गंड 353
गंड-त्थल 357.2
✓गज्ज् 367.5, 418.7
✓गण् 333, 353, 358.2, 414.2
गद 379.1
गम् 330.2, 332.1, 2
गय (गत) 352, 367.5, 370.3, 376.2, 419.5, 422.20. 426.1
गय (गज) 335, 345, 418.3
गय-धड 395.5
गयण 395.4
गयण-यल 376.1
गय-मत्त 383.3
ण्गर 396.1
गरुअ 340.2
✓गल् 406.2, 418.7
गल 423.4
ण्गलिअ° 332.1
गवक्ख 423.3
✓गवेस् 444.3
गह 385.1
गहीर 419.6
ण्गाम 407.1
ण्गाल 377.1
गिम्भ 412.1
गिम्ह 357.2
गिरि 341.1
गिरि-गिलण-मण 445.2
गिरि-सिंग 337
✓गिल 370.2, 396.1
गुट्ठ-ट्ठिअ 416.1
✓गुण् 422.15
गुण 335, 338, 347.1, 395.6
गुण-लायण्ण-निहि 414.1
गुण-संपइ 372.2
गुरु-मच्छर-भरिअ 444.4
✓गृण्ह् 446.1, 2, 394, 438.1
✓गृह् 341.2
गोट्ठ 423.4
गोर 329, 383.2, 395.1, 395.4, 414.3, 418.7, 420.5, 431.1, 436
गोरी-मुह-निज्जिअ 401.2
गोरी-वयण-विणिज्जिअ 396.5
✓गोव् 338
ण्गहण 396.1
घइँ 424
घंघल 422.2
✓घड् 331, 404.1, 414.1
ण्घड 357.1, 395.5
✓घडाव् 340.1
घण 422.23, 439.1
घण-कुट्टण 438.2
घण-थण-हार 414.1
घण-पत्तल 387.2
घत्त 414.3
घर 341.1, 343.2, 351, 364, 367.1, 422.14, 15, 423.3, 436
ण्घरिणि 370.3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

✓घल्ल् 334.1, 2, 422.3, 9
घाय 346
घुंट 423.2
ण्घुग्घि 423.3
✓घुडुक्क् 395.4
घृण 350.2
✓घेप्प् 335, 341.1
घोडय 330.4, 344.1
चउभुह 331
चंचल 418.4
ण्चंदिम 349.1
✓चंप् 395.6
चंपय-कुसुम 444.5
चंपा-वण्ण 330.1
चक्क 444.2
✓चड् 331, 421.1, 439.1, 445.4
ण्चडक्क 406.1
चर्त्तकुस 383.3, 345
✓चय् 418.6, 422.10, 441.2
✓चर् 387.1
चल 422.18
चलण 399.1
ण्चवेड 406.1
चाय 396.3
चारहडि 396.3
✓चिंत् 362, 396.2, 422.15, 423.1
✓चिट्ठ 360.1
✓चुंब् 439.3
✓चुण्णीहो 395.2
चूडुल्लय 395.2
चूर 337
✓चेअ 396.2
चिअ 365.2
छइल्ल 412.2
ण्छंद 422.14
✓छड्ड् 387.3, 422.3
छम्मुह 331
छाया 370.1
छाया-बहुल 387.2
छार 365.3
✓छिज्ज् 357.1, 434.1
छिण्ण 444.2
छुडु 385.1, 401.1
छेअ 390
ज 330.4, 332.1, 333, 338, 343.1, 345, 350.1, 2, 359.1, 360.2, 365.2, 3, 367.1, 368, 370.4, 371, 376.2, 383.3, 388, 389.1, 390, 395.5, 6, 396.1, 3, 401.2, 409, 412.2, 414.1, 418.3, 420.4, 5, 422.3, 4, 7, 18, 22, 426.1, 427.1, 428, 429.1, 438.2, 439, 3, 442.2, 455.2, 446
जइ 343.2, 351, 356, 364, 365.3, 367.1, 5, 372.2, 379.3, 384.1, 390, 391.2, 395.1, 396.4, 399.1, 401.4, 404, 1, 418.6, 419.1, 3, 422.6, 9, 15, 23, 438.1, 3, 439.1, 4
जइस 403
जउ 419.5
✓जंप 442.1
ण्जंपिर 350.1
जग 343.1, 404.1
✓जग्ग् 438.3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जज्जरिअ 333
जण 336.1, 337, 339, 364, 371, 372.2, 376.1, 406.3, 419.5
जण-सामन्न 418.8
जणि 444.5
जणु 401.3
जत्तु 404.2
जम 419.1
जम-घरिणि 370.3
जम-लोअ 442.2
जम्म 383.3, 396.3, 422.4
जय 440
जय-सिरि 370.3
जर-खंड 423.4
✓जल् 365.2
जल 365.2, 383.1, 2, 395.7, 419.6, 414.3, 415.1, 422.20, 439.3
जलण 365.2, 444.4
जहिँ 349.2, 357.1, 386.1, 388, 422.6, 426.1.
✓जा 332.1, 350.1, 386.1, 388, 419.3, 420.3, 439.4, 441.1, 444.3, 445.2
जाइट्ठिअ 422.23
जाई-सर 365.1
✓जाण् 330.4, 369, 377.1, 391.2, 401.4, 419.1, 423.1, 439.4
जाम 387.2, 406.1
जामहिँ 406.3
जाय 350.2, 395.6, 426.1
ज्जाल 395.2, 415.1, 429.1
जावँ 395.3
जि 341.3, 387.1, 414.1, 419.3, 420.3, 422.15, 423.3, 429.1
✓जिण् 442.2
जिणवर 444.4
जिब्भिदिअ 427.1
जिवँ 330.3, 336.1, 344.2, 347.2, 354.2, 367.4, 376.2, 385.1, 395.1, 396.4, 397, 422.2, 23
जिह 337, 377.1
✓जीव् 365.5
जीव 406.3, 439.3
जीवग्गल 444.2
जीविय 358.2, 418.4
ज्जुअल 414.1
जुअंजुअ 422.14
ज्जुग 338
✓जुज्झ् 379.2
जुज्झ 382, 386.1
जुत्त 340.2
✓जे 440, 441.2
जेत्तुल 407.2, 435
जेत्थु 404.1, 422.14
जेवड 407.1
जेवँ 397, 401.4
जेह 402
जेहय 422.1
✓जोअ 332.2, 345, 364, 409, 422.6
जोअण-लक्ख 332.1
जोण्ह 376.1
जोव्वण 422.7
ज्जि 406.2, 423.3
✓झंख् 379.2
झडत्ति 423.1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

झडप्पड 388
ण्झलक्किअ 395.2
✓झा 331, 440
✓झिज्ज् 425.1
झुंपड 416.1, 418.7
झुणि 432
ण्ट्ठिअ 416.1, 439.4
✓ठव् 357.3
✓ठा 436
ण्ठाण 362
ठावँ 332.1, 358.1
ठिअ 374, 381, 391.2, 401.3, 415.1, 422.8
ठिद 404.2
डंबर 420.3
✓डज्झ् 365.3
डाल 445.4
ण्डिभ 382
डुंगर 422.2, 445.2
ण्डोहिअ 439.3
डक्क 406.1
ढक्करि-सार 422.12
ढोल्ल 330.1, 2, 425.1
ण्ण्हाण 399.1
त 330.4, 333, 336.1, 338, 339, 340.1, 343.1, 2, 350.1, 2, 353, 355.2, 356, 357.2, 358.1, 359.2, 360.2, 365.2, 3, 367.1, 368, 370.1, 2, 371, 376.2, 379.3, 381, 383.3, 384.1, 387.1, 388, 389.1, 390, 395.7, 397.3, 401.1, 2, 4, 404.1, 406.2, 409, 412.2, 414.1, 2, 3, 418.3, 7, 419.3, 5, 420.4, 5, 422, 3, 4, 7, 14, 15, 20, 22, 426.1, 428, 429.1, 432, 438.3, 439.3, 442.2, 445.2, 446
तइज्ज 339
तइस 403
✓तक्क् 370.3
तड 422.3
तड-त्ति 352, 357.3
✓तड-प्फड् 366.1
तण 329, 334.1, 339
तण 361.1, 366.1, 379.3
तणु 401.2, 418.6
तणु 401.3
तत्त 440
तत्तु 404.2
तरु 340.1, 341.1, 2, 370.1
तरुअर 422.9
तरुण 346
तल 334.1, 2
✓तव् 377.1
तव 441.1, 2
तहिँ 357.1, 386.1, 422.18
ता 370.1
ताउँ 406.2, 423.3
ण्तार 356
ताम 406.1
तामहिँ 406.3
ताव 422.23
तावँ 395.3
ति 347.2
तिंतुव्वाण 431.1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

✓तिक्ख् 344.2
✓तिक्खाल् 395.1
तिण 329
तिण-सम 358.2
°तित्थ 442.2
तित्थेसर 441.2
तिदसावास-गय 442.2
तिमिर-डिंभ 382
तिरिच्छ 414.3, 420.3
तिल 357.2, 406.2
तिल-तार 356
तिवँ 344.2, 367.4, 376.2, 395.1, 397, 422.2
तिस 395.7
तिह 377.1
°तु 351
0तुंग 390
तुंबिणि 427.1
तुच्छ 350.1
तुच्छ-काय-वम्महनिवास 350.1
तुच्छच्छ-रोमावलि 350.1
तुच्छ-जंपिर 350.1
तुच्छ-मज्झ 350.1
तुच्छयर-हास 350.1
तुच्छ-राय 350.1
तुट्ट 356
तुडि-वस 390
तुध्र 372.1, 2
तुम्ह 369, 371, 373, 374
°तुलिअ 382
तुहार 434.1
तुहुँ 330.2, 3; 357.3, 361.1, 367.1, 368, 370, 372, 383.1, 387.3, 402, 421.1, 422.12, 18, 425.1, 439.4
तृण 329, 422.20
तेत्तहे 436
तेत्तिअ 395.7
तेत्तुल 407.2, 435
तेत्थु 404.1
तेवड 395.7, 407.1
तेवड्ड 371
तेवँ 343.1, 397, 401.4, 418.1, 439.4
तेह 402
तेहय 357.1
तो 336.1, 341.1, 343.2, 364, 365.3, 5, 379.3, 395.1, 404.1, 418.6, 419.3, 422.6, 423.4, 439.1, 445.3, 4
तोसिअ-संकर 331
त्ति 423.1
°त्थल 357.2
त्रं 360.1
✓थक्क् 370.3
थण 350.2, 390
थणंतर 350.1
°थणहार 414.1
थलि 330.4
✓था 395.5
थाह 444.3
थिरत्तण 422.7
थोव 376.1
दइअ 333, 342, 414.4
दइव 331, 340.1, 389.1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

✓दंस् 418.6
दंसण° 401.1
दडवड 330.2
°दडवडय 422.18
दड्ढ 343.2
दड्ढ-कलेवर 365.3
दड्ढ-नयण 422.6
दम्म 422.15
°दह 444.3
दहमुह 331
°दाम° 446
दार 345
✓दि 383.2, 419.5, 428, 438.1
दिअह 333, 387.2, 388, 418.4
दिट्ठ 352, 365.1, 371, 396.1, 2, 401.4, 422.18, 423.2, 429.1, 431.1, 432
दिट्ठि 330.3
दिण 401.1
दिणयर 377.1
दिण्ण 330.1, 333, 401.3, 444.2
दिव 399.1, 422.4
दिव्व 418.4
दिव्वंतर 442.1
दिसि 340.2
दीह 330.2
दीहर 414.1
दीहर-नयण-सलोण 444.4
दु 340.2
दुक्कर 414.4, 441.1
दुक्ख-सय 357.3
दुज्जण-कर-पल्लव 418.6
दुट्ठ 401.1
°दुब्भिक्ख 386.1
दुम 336.1, 445.4
दुल्लह 338
दूअ 367.1, 419.1
दूर 349.1, 353
दूर-ठिअ 422.8
दूरुड्डाण 337
दूसासण 391.2
✓दे 379.2, 384.1, 406.3, 414.3, 420.3, 422.15, 22, 423.3, 440, 441.1
✓देक्ख् 345, 349.1, 354.2, 357.3, 361.2, 376.3, 420.3
देस 386.1, 418.6, 419.3, 422.11, 425.1
देसंतरिअ 368
देसुच्चाडण 438.2
दो 340.2, 358.2
दोस 379.2, 401.4, 439.4
द्रम्म 422.4
द्रवक्क 422.4
द्रह 423.1
द्रेहि 422.6
धण 330.1, 350.1, 367.5, 430.3, 444.3, 445.2
धण 358.2, 373.2, 441.1
✓धणा 445.2
धणि 385.1
धणु 373.2
धम्म 341.3, 396.3, 419.1
✓धर् 334.1, 336.1, 382, 421.1, 438.3
धर 377.1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर 441.2
धवल 340.2, 421.1
✓धा 436
धार 383.2
✓धुद्धुअ 395.7
धुर 421.1
धूम 415.1
धूलि 432
धूं 360.1, 438.1
ध्रुव 418.4
न 330.4, 332.2, 335, 339, 340.1, 2, 341.1, 349.1, 350.1, 356, 358.2, 360.1, 365, 367.1, 370, 376.2, 383.1, 2, 386.1, 390, 395.7, 396.3, 401.4, 402, 406.1, 2, 414.2, 416.1, 418.6, 8, 419.1, 2, 5, 420.5, 421.1, 422.1, 4, 11, 15, 423.4, 432, 436, 438, 441.1, 444.2, 445.4
नइ 422.2
मउ 423.2, 444.2
नं 382, 396.5
✓नंद् 422.14
✓नच्चाव् 420.4
✓नम् 446
नयण 422.6, 423.2, 444.4
नयण-सर 414.3
नर 362, 412.2, 442.1
✓नव् 367.4, 399.1
नव 396.4
नवखी 420.5
नवर 377.1
नवरि 423.1
नववहु-दंसण-लालस 401.1
नह 333
नाइ 330.1, 444.3
नायग 427.1
नारायण 402
नालिअ 422.15
ण्नाव 423.1
नावइ 331, 444.4
नावँ 426.1
✓नास् 432
नाह 360.1, 390, 423.3
नाहिँ 419.6, 422.1
✓नि 431.1
निअंबिणि 414.1
✓निअत्त 395.3
निअ-मुह-कर 349.1
निअय-धण 441.1
निअय-बल 354.2
निअय-सर 344.2
निग्गय 331
निग्घिण 383.2
निच्चट्ट 422.7
निच्चल 436
निच्चिंत 422.20
निच्चु 395.5
निच्छय 358.1, 422.10
निज्जिअ 371, 401.2
निण्णेह 367.5
निद्द 330.2, 418.1
निरक्खय 418.3
निरामय 414.2
निरु 344.2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरुवम-रस 401.3
°निवट्ट 332.1
✓निवड् 358.2, 406.1
°निवडण° 444.3
✓निवस् 422.11
°निवह 357.1
निवाण 419.3
निवारण 395.7
°निवास 350.1
✓निव्वह् 360.2
निसंक 396.1, 401.2
निसिअ 330.4
✓निहाल् 376.1
0निहि 414.1
निहित्त 395.2
निहुअ 401.4
✓नीसर् 439.4
नीसावँण्णु 341.1
नीसास 430.3
नेह 332.1, 356, 406.2, 422.6, 8, 426.1
पइट्ठ 330.3, 343.1, 432, 444.5
✓पइस् 396.4
पओहर 395.5, 420.4
°पंकय 357.2
पंगण 420.4
पंच 422.14
पंथ 429.1
पंथिअ 429.1
पक्क-फल 340.1
पक्खावडिअ 401.4
पग्गिम्व 414.4
पच्चल्लिउ 420.5
पच्छइ 362
पच्छायाव 424
पच्छि 388
पच्छित्त 428
पज्जत्त 365.2
पट्टण-गाम 407.1
पट्ठि 329
✓पठाव् 422.7
✓पड् 337, 388, 422.4, 18, 20
पडह 443
✓पडिपेक्ख् 349.1
पडिबिंबिअ-मुंजाल 439.3
✓पडिहा 441.1
✓पढ् 394
✓पणट्ठ 406.2, 418.6
पणट्ठ 418.8
पणय 446
पत्त 332.2
पत्त 370.1
°पत्तल 387.2
°पत्थर 344.2
पन्न 427.1
पफुल्लिअ 396.5
पब्भट्ठ 436
पमाण 399.1, 438.3
पम्हुट्ठ 396.3
पय 395.3, 406.1, 414.2, 420.3, 442.1
पयंप् 422.10
✓पयट्ट् 347.2
पयड 338

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पय-रक्ख-समाण 418.3
पयार 365.5
✓पयास् 357.1
°पयास 396.5
पर 335, 338, 354.2, 366.1, 379.2, 395.7, 396.3, 406.2, 414.3, 420.3, 422.3, 438.1, 3, 441.1
परमत्थ 422.9
परम-पय 414.2, 442.1
पराय 350.2, 376.2
✓पराव् 442.1
परिअत्त 395.3
परिविट्ठ 409
परिहविय-तणु 401.2
परिहण 341.2
✓परिहर् 334.1, 389.1
परिहास 425.1
परोक्ख 418.1
पल 395.7
पलुट्ठ 422.6
✓पल्लव् 420.3
पल्लव 336.1, 418.6
✓पवस् 333, 342, 419.5, 422.12
पवासुऊ 395.4
पवाँण 419.3
✓पवीस् 444.4
पसरिअ 354.2
°पसाय 430.3
°पहाव 341.3
पहिअ 376.2, 415.1, 429.1, 431.1, 445.2
✓पहुच्च् 390, 419.2
पाडिअ 420.4
पाणिअ 396.4, 418.7, 434.1
पाय 445.3
पारक्क 379.3
✓पाल् 441.2
पालंब 446
✓पाव् 366.1, 387.1, 396.4
°पि 391.1
✓पिअ 383.1, 401.3, 419.1, 6, 422.20, 423.2
✓पिअ 332.2, 343.2, 352, 354.2, 365.1, 367.1, 383.1, 396.2, 4, 401, 3, 4, 414.4, 418.3, 4, 8, 419.3, 422.12, 423.2, 424, 425.1, 432, 434.1
पिअ-पब्भट्ठ 436
पिअ-माणुस-विच्छोह-गर 396.1
पिअ-वयण 350.1
पिआस 434.1
पिट्ठि 329
पोअ 439.3
✓पीड् 385.1
✓पुच्छ् 364, 422.9
पुट्ठि 329
पुणु 342.1, 349.1, 358.2, 370.1, 384.1, 391.2, 422.9, 15, 425.1, 426.1, 428, 438.3, 439.1, 445.4
पुत्त 395.6
पुत्ति 330.3
पुप्फवई 438.3
पुरिस 400.1, 422.2
°पूरय 422.18

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरिअ 483.1
✓पेक्ख् 340.2, 419.6, 430.3, 444.4
✓पेच्छ् 348.2, 363, 369
पेम्म 395.3
पेम्म-द्रह 423.1
प्फल 445.4
प्रंगण 360.1
प्रमाणिअ 422.1
प्रयावदी 404.1
✓प्रस्स् 393
प्राइव 414.2
प्राइम्व 414.3
प्राउ 414.1
प्रिअ 370.2, 379.3, 387.3, 418.1, 430.3, 438.1
प्रिअ-विरहिअ 377.1
फल 335, 336.1, 340.1, 341.1, 2
✓फिट्ट 370.1, 406.2
फुक्क् 422.3
फुट्ट 357.2, 422.12
फुट्ट 352
फुट्ठण 422.23
✓फुल्ल् 387.2
✓फेड् 358.1
✓फोड् 350.2
बइट्ठ 444.5
बइल्ल 412.2
ब्बईस 423.4
ब्बंध 382
बद्ध 399.2
वप्पीक 395.6
बप्पीह 383.1, 2
बप्पुड 387.3
बंभ 412.2
बरिहिण 422.8
✓बल् 416.1
बल 354.2, 430.3, 440
बलि-अब्भत्थण 384.1
बलिकर् 338, 389.1, 445.3
बलि-राय 402
बहिणि 351
बहिणु 422.14
बहु 376.1
बहुअ-जण 371
ब्बहुल 387.2
बार 436
बाल 350.2, 422.18
बालिअ 418.7
बाह 329, 439.4
बाहा 329
बाह-सलिल-संसित्त 395.2
बाहु 329
बाहु-बल 430.3
बि 365.5, 383.1, 418.1
बिबाहर 401.3
बिट्टीअ 330.3
✓बुड्ड 415, 423.1
बुद्धी 422.12, 424
बे 370.3, 379.2, 395.3, 439.1, 3
बोड्डिअ 335
बोल्ल् 360.2, 383.2, 422.12
बोल्लणय 443
ब्भुअ 444.3
✓ब्रुव् 391.1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

✓ब्रो 391.2
भंगि 339
भंड 422.12
भंति 365.1, 416.1
भग्ग 351, 354.2, 379.3, 386.1
✓भज्ज् 395.5
भड 420.5
भड-धड-निवह 357.1
✓भण् 330.3, 367.4, 370.3, 376.1, 383.1, 399.1, 404.1, 4, 402, 425.1
भत्त 442.10
भद्दवय 357.2
भम् 418.6, 423.3
भमर 368, 387.2, 397
भमर-उल-तुलिअ 382
°भमिर 422.15
°भय 440, 444.4
°भयंकर 331
भर 340.2, 371, 421.1
भरिअ 383.2, 444.4
भलि 353
भल्ल 351
भल्लि 330.3
✓भव्वँ 401.2
भवँर 397
भसणय 443
भसल 444.5
भाईरहि 347.2
भारह-खंभ 399.2
भारहि 347.2
✓भाव् 420.4
भिच्च 334.1, 341.2
भुअ-जुअल 414.1
✓भुंज् 335, 441.1
भुँहडी 395.6
भुवण 441.2
भुवण-भयंकर 331
भोग 389.1
भ्रंती 414.2
भ्रंत्रि 360.1
म 346, 355.2, 368.3, 384.1, 387.1, 388, 418.7, 420.3, 442.1
✓मउलिअ 365.1
मं 384.1
मंजिट्ठ 438.2
°मंडल° 349.1, 372.2
मक्कड-धुग्घि 423.3
✓मग्ग् 384.1
मग्ग 347.2, 357.1, 431.1
मग्गण 402
मग्गसिर 357.2
मच्छ 370.2
°मच्छर° 444.4
मज्ज् 339
°मज्झ 350.1, 406.3, 444.5
मण 350.1, 401.4, 422.9, 15, 441.1
मणाउं 418.8, 426.1
मणि 414.2, 423.4
मणोहर 388, 401.1, 414.4
मणोहर-ठाण 362
°मत्त 345, 383.3
मदि 372.2
मब्भीस 422.22

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मयगल 406.1
मयण 397
मयरद्धय-दडवड 422.18
मयरहर 422.8
✓मर् 368, 420.5, 438.1, 439.1
मरगय-कंति 349.2
मरट्ट 422.7
मरण 418.4
मल्ल-जुज्झ 382
✓मह् 353
महदुम 336.1, 445.4
महव्वय 440
°महा° 444.3
महार 351, 358.1
महा-रिसि 399.1
महि 352
महिअल-सत्थर 357.2
महि-मंडल 372.2
महुमहण 384.1
मा 330.2, 3, 350.1, 418.6, 422.10
✓माण् 388
माण 330.2, 387.1, 396.2, 418.3
माणुस 341.1, 396.1
माय 399.1
✓मार् 330.3, 337, 439.1
मारणय 443
मारिअ 351, 379.3
मालइ 368
माह 357.2
मिअंक 377.1, 396.1, 401.2
मित्त 422.1
✓मिल् 332.1, 2, 382, 434.1
मुअ 395.6, 419.5, 442.1, 2
मुंज 439.4
°मुंजाल 439.3
मुंड-माल 446
मुंडिय 389.1
मुक्क 370.1
मुग्ग 409
मुणालिअ 444.2
मुणि 341.2, 414.2
मुणिय 346
मुणीसिम 330.4
मुद्द 401.3
मुद्ध 349.1, 350.1, 357.2, 376.1, 395.2, 423.4
मुद्ध-सहाव 422.23
°मुह° 349.1, 367.1, 401.2, 422.20, 444.4
मुह-कबरिबंध 382
मुह-कमल 332.2, 395.1, 414.1
मुह-पंकय 357.2
मूल 427.1
✓मेल् 429.1
✓मेल्ल् 341.1, 353, 370.4, 387.1, 430.3
मेह 365.5, 395.4, 418.7, 419.6, 422.8
मोक्कल 366.1
✓मोड् 445.4
°य 396.3
रइवस-भमिर 422.15
✓रक्ख् 350.2, 439.3
°रक्ख° 418.3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

✓रच्च् 422.23
✓रड् 445.2
रण 360.1
रण-गय 370.3
रण-दुब्भिक्ख 386.1
रण्ण 341.1, 368
रत्त 438.2
रत्ती 330.2
रदि 446
रयण 334.1
रयणनिहि 422.3
रयण-वण 401.3
रयणी 401.1
रवण्ण 422.11
रवि-अत्थमण 444.2
°रस 401.3
रहवर 331
°राम 407.1
°राय 350.1, 402
रावण-राम 407.1
राह-पओहर 420.4
राही 422.6
°राहु 382, 396.1
रिउ 376.1, 395.3
रिउ-रहिर 416.1
रिद्धि 418.8
°रिसि 399.1
✓रुअ 383.1, 4
✓रुच्च् 341.1
रुट्ठ 414.4
रुणझुण् 368
रुद्ध 422.14
°रुहिर 416.1
रूअ 419.1, 422.15
✓रूस् 358.1, 414.4, 418.4
रूसण 418.4
रेसि 425.1
°रेह 330.1, 354.2
°रोमावलि 350.1
°रोस 439.4
लक्ख 332.1, 335
✓लग्ग् 339, 420.5, 422.7
लग्ग 445.2
लच्छि 436
✓लज्ज् 351, 419.5
°लज्ज 430.3
✓लब्भ् 419.3
लय 414.2
✓लह् 335, 341.2, 367.4, 383.2, 386.1, 395.1, 414.2
लहुईहूअ 384.1
✓लाय् 331, 376.2
°लायण्ण 414.1
°लालस 401.1
लाह 390
लिंबड 387.2
लिह 329
लिहिअ 335
लीह 329
लुक्क 401.2
✓ले 370.3, 387.3, 395.1, 440, 441.2
लेख 422.7
लेह 329

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोअ 350.2, 365.1, 366.1, 420.4, 422.22, 438.2, 442.2, 443
लोअडी 423.4
लोअण 344.2, 356, 364.1, 414.1
लोण 418.7, 444.4
लोह 422.23
ल्हसिअ 445.3
व 436
वंक 330.3, 356, 412.2
वंकिम 344.2
वंकुड 418.8
वंचयर 412.2
✓वंद् 423.3
ण्वंस 419.2
वक्कल 341.2
वग्ग 330.4
वच्छ 336.1, 2
✓वज्ज् 336.1, 406.1
वज्जणय 443
वज्जम 395.5
वडवानल 365.2, 419.6
वड्ड 364, 366.1, 367.3, 384.1
वढ 362, 402, 422.4, 11
✓वण्ण् 345
वण 340.1, 357.2, 422.11
ण्वण 401.3
वण-वास 396.5
ण्वण्ण 330.1
वत्त 432
वद्दल 401.2
वम्मह 344.2, 350.1
वयंसिअ 351
ण्वयण 340.1, 350, 367.1, 396.5
वर-तरु 370.1
वरि 340.1
वरिस-सय 332.1, 418.4
✓वल् 386.1, 422.18
वलण 422.2
वलय 352
वलयावलि-निवडण-भय 444.3
वल्लह 358.2, 383.1, 426.1
वल्लह-विरह-महादह 444.3
ववसाय 385.1
✓वस् 339
ण्वस 390
✓वसिकर 427.1
✓वह् 401.1
वहिल्ल 422.1
ण्वहु 401.1
वाणारसि 442.1
वाय 343.1
वायस 352
ण्वार 356, 383.2, 422.12
वार-इ-वार 383.2
वारिअ 330.2, 438.3
✓वाल् 330.4
ण्वास 396.5, 430-3
वास 399.2
वासारत्त 395.4
वाहिअ 365.3
वि 330.4, 332.1, 334.1, 335, 336.1, 337, 339, 340.1, 341, 1, 2, 343.2, 349.1, 353, 356, 358. 1, 2, 365.2, 366, 367.5, 370,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

376.2, 377.1, 383.1, 3, 387.2, 389.1, 395.1, 401.2, 402, 404.1, 406.3, 412, 2, 414.2, 415.1, 418.1, 419.6, 420.5, 422.1, 4, 6, 8, 14, 22, 423.4, 432, 436, 438, 441.2, 445.3, 4
विआल 377.1, 424
विइण्ण 444.2
विओअ 368, 419.5
विगुत्त 421.1
विच्च 350.1
✓विछोड् 439.4
°विच्छोह° 396.1
विट्टाल 422.3
विढत्त 422.4
विणट्ठ 427.1
✓विणड् 370.2, 385.1
विणास 424
विणिज्जिअ 396.5
विणिम्मविद 446
विणु 357.3, 386.1, 421.1, 441.2
वित्थार 395.7
विद्दव् 419.1
विन्नासिअ 418.1
विप्पिअ-नाव 423.1
विप्पिअयारय 343.2
विमल-जल 383.2
विम्हय 420.4
विरल 412.2
विरल-पहाव 341.3
विरह 423.3, 432, 444.3
विरहाणल-जाल-करालिअ 415.1, 429.1
°विरहिअ 377.1
✓विलंब् 387.2
विलग्ग 445.3
विलासिणी 348.2
✓विलि 418.7
विवइ 400.2
विवरेर 424
विसंठुल 436
विस-गंठि 420.5
विसम 350.2, 395.4, 406.3
विस-हारिणि 439.3
विसाय 385.1
°विसाहिअ 386.1
विसिट्ठ 358.2
✓विसूर् 340.2, 422.2
विहलिअ-जण-अब्भुद्धरण 364
विहव 418.8, 422.7
✓विहस् 365.1
विहाण 430.2, 362
विहि 357.3, 385.1, 414.3
विहिद 446
विहि-वस 387.1
वीण 329
वीस 423.4
✓वीसर् 426.1
✓वुञ् 392
वुत्त 421.1
वुन्न 421.1
वेअ 438.3
वेग्गल 370.4
✓वेच्च् 419.1
वेण 329

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेरिअ 439.1
वेस 385.1
व्रत 394
व्रास 399.1
ण्व्वय 440
स 332.1
सइँ 339, 402
सउण 445.4
सउणि 340.1, 391.2
संकड 395.4
ण्संकर 331
संख 422.3
संग 434.1
ण्संगम 418.1
संगर-सय 345
✓संचि 422.4
संत 389.1
संति 441.2
संदेस 419.5, 434.1
ण्संधि 430.3
संपइ 372.2, 385.1, 400.2
संपडिअ 423.1
संपय 335
संपेसिअ 414.3
ण्संभव 395.3
संमुह 395.5, 414.3
✓संवर् 422.6
संवलिअ 349.2
ण्संसित्त 395.2
स-कण्ण 330.3
✓सक्क् 422.8, 22
सज्जण 422.8, 22
सज्झ 370.4
सत्थ 358.1
ण्सत्थ 399.1
ण्सत्थर 357.2
सत्थावत्थ 396.2, 422.22
स-दोस 471.4
सबध 396.3
सभल 396.3
ण्सम 358.2
समत्त 332.1, 406.1
✓समप्प् 401.1, 422.4
समरंगण 395.5
समर-भर 371
समाउल 444.2
समाण 418.3, 438.3
✓सम्माण् 334.3
ण्सय 332.1, 357.3, 418.4
सयल 441.2
सय-वार 356, 422.12
सर 344.2, 357.1, 414.3
सर 422.11
सरय 357.2
सरल 387.1
सरवर 422.11
सराव 396.4
सरि 422.11
सरिसिम 394.1
स-रोस 439.4
स-लज्ज 430.3
ण्सलिल 395.2
सलोण 444.4
सल्लइ 387.1, 422.9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सव्व 366.2, 429.1, 438.2
॰सव्वंग-छइल्ल 412.2
सव्वायर 422.6
सव्वासण-रिउ-संभव 394.3
ससहर 422.8
सलि-मंडल-चंदिम 349.1
ससि-राहु 382
ससि-रेह 354.2
✓सह् 382, 422.23, 438.2
सह 339
सहस-त्ति 352
॰सयव 422.23
सहि 332.1, 358.1, 367.1, 379.3, 390, 401.4, 414.3, 444.5
सहुँ 356, 419.5
॰सामन्न 418.8
सामल 303.1
सामि 334.1, 340.2, 341.2, 409, 422.10
सामि-पसाय 430.3
सायर 334.1, 383.2, 395.7, 419.6
सार 365.3, 395.7, 422.12
सारस 370.4
॰सारिक्ख 404.1
सावण 357.2
साव-सलोण 420.5
सावँलि 344.2
सास 387.1
सासानल-जाल-झलक्किअ 395.2
साह 366.1, 422.22
॰सिंग 337
✓सिक्ख् 344.2, 372.2
सिक्ख 404.1
सिद्धत्थ 423.3
सिम्भ 412.1
सिर 367.4, 423.4, 445.3, 4
॰सिरि 370.3
सिरि-आणंद 401.3
सिल 337
सिलायल 341.1
सिव 440
सिव-तित्थ 442.2
सिसिर 357.2
सिसिर-काल 415.1
सिहि-कढण 438.2
सीअल 343.1
सीअल-जल 415.1
सीमा-संधि 430.3
सील-कलंकिअ 428
सीस 389.1, 446
सीह 418.3
सीह-चवेड-चडक्क 406.1
✓सुअ 376.2
सुअ 432
सुअण 336.1, 338, 406.3, 422.11
सुइणंतर 434.1
सुइ-सत्थ 399.1
सुंदर-सव्वंग 348.2
सुकिअ 329
सुकिद 329
सुकृद 329
✓सुक्क् 427.1
सुक्ख 340.1
सुघ 396.2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुट्ठु 422.6
सुणह 443
सुपुरिस 367.4, 422.2
सु-भिच्च 334.1
✓सुमर् 387.1, 426.1
सुमरण 426.1
सुरय 332.2
सु-वंस 419.2
सुवण्ण-रेह 330.1
सुह 370.3, 441.1
सुहच्छि (°च्छी) 376.2, 423.2
सुहच्छी-तिलवण 357.2
सुहय-जण 419.5
सुहासिय 391.1
✓सेव् 396.5
सेस 401.3, 440
सेहर 446
✓सो 438.3
सोक्ख 332.1
सोम-ग्गहण 396.1
✓सोह् 444.5
✓सोस् 365.2
हउँ ('मइँ' इत्यादि रूप) 330.2, 333, 338, 340.2, 346, 367.1, 370.2, 3, 4, 377.3, 379, 383.1, 389, 391.2, 395.5, 396.3, 401.4, 402, 414.4, 416.1, 418, 1, 3, 8, 420.3, 421.1, 422.1, 12, 423.1, 3, 425.1, 438, 439.4
✓हण् 418.3
हत्थ 358.1, 366.1, 422.9, 439.1, 445.3
हत्थि 443
हय-विहि 357.3
हयास 383.1
✓हराव् 409
हरि 391.2, 420.4, 422.6
हरिण 422.20
हलि 332.2, 358.1
हल्लोहल 396.2
✓हस् 383.3, 396.1
हारिणि 439.3
हास 350.1
हिअ 330.3, 350.2, 357.3, 370.2, 395.4, 420.3, 422.2, 12, 23, 439.1
हिअय-ट्ठिअ 439.4
°हु 390
हुअ 351
हुंकार 422.20
हुहुरु 423.1
हेल्लि 379.2
✓हो 330.2, 340.1, 362, 367.1, 370.1, 377.1, 388, 401.1, 402, 406.2, 418.4, 420.4, 422.8, 11, 423.2, 424, 438.4
होंतय 355, 373.3, 379.1, 380.1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति शिक्षण-संस्कार निधिनां प्रकाशनो

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितमहाकाव्य-ग्रंथ १ (पुनर्मुद्रण)	संपा. मुनि चरणविजयजी	१९८७
,, ग्रंथ २	संपा. मुनि पुण्यविजयजी	
Studies in Deśya Prakrit	H. C. Bhayani	1988
हेमसमीक्षा (पुनर्मुद्रण)	मधुसूदन मोदी	१९८९
हेमचंद्राचार्यकृत अपभ्रंश व्याकरण (सिद्धहेमगत) (द्वितीय संस्करण)	संपा. हरिवल्लभ भायाणी	१९९३
विजयपालकृत द्रौपदीस्वयंवर (पुनर्मुद्रण)	आद्य संपा. जिनविजयजी मुनि संपा. शान्तिप्रसाद पंड्या	१९९३
कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य स्मरणिका		१९९३
अनुसंधान-१ (अनियतकालिक)		१९९३
अपभ्रंश व्याकरण (हिन्दी अनुवाद)	प्रा. बिन्दु भट्ट	१९९४
आवश्यक-चूर्णि	संपा. मुनि पुण्यविजयजी मुद्रणाधीन सहायक रूपेन्द्रकुमार पगारिया	
प्रबंधचतुष्टय	संपा. रमणीक शाह	,,

नेमिनंदन ग्रंथमाळानां हमणांनां प्रकाशन

अलंकारनेमि	मुनि शीलचन्द्रविजय	१९८९
हेमचन्द्राचार्यकृत महादेवबत्रीशी-स्तोत्र	संपा. मुनि शीलचन्द्रविजय	१९८९
श्रीजीवसमास-प्रकरण टीकाकार मलधारी हेमचंद्रसूरि	संपा. मुनि शीलचन्द्रविजय	१९९४
,, (गुजराती अनुवाद)	चं. ना. शिनोरवाला	१९९४

प्राप्तिस्थान : सरस्वती पुस्तक भंडार, हाथीखाना, रतनपोल, अमदावाद-३८०००१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org